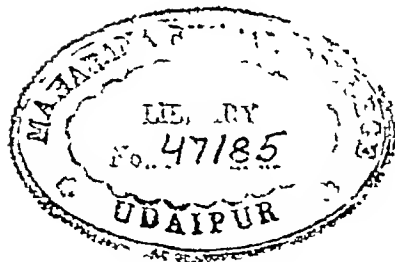


प्रथम संस्करण : मार्च १९५९

मुद्रक : विद्यापिठास प्रेस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मूल्य : पाँच रुपये



भूमिका

श्री वाचस्पति गैरोला जी की 'अक्षर अमर रहें' नामक पुस्तक मैंने पढ़ी है। इसमें गैरोला जी की अध्ययनशीलता, जानकारी और विद्या-प्रेम का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। उन्होंने उन विद्वानों के परिश्रम का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है जिन्होंने पिछली शताब्दी से भारतीय तथा अन्य देशों की प्राचीन ज्ञान-संपत्ति को विस्मृति के गर्त से निकाल कर लोक-गोचर करने का दुःसाध्य प्रयास किया है। यह कहानी बड़ी ही प्रेरणादायक और साहसिक अभियान से परिपूर्ण है। सैकड़ों और हजारों वर्ष पूर्व की लिपियों, ग्रन्थों और भाषाओं के आविष्कार की कहानी केवल ज्ञानवर्द्धक ही नहीं है, रोमाञ्चकर भी है। मिट्टी के बर्तनों और ईंटों, धातुखंडों और मुद्राओं, पर्वत-पृष्ठों, शिलापट्टों, भोज-पत्र, ताल-पत्र और पेपरी की छालों और आगे चलकर रुई और बॉस के बने फागजों पर बिखरा हुआ विस्मृत तथा अज्ञात भाषाओं और लिपियों में लिखा हुआ ज्ञान-माण्डार आज एकदम अपरिचित रह जाता यदि ज्ञान के एकनिष्ठ उपासक इन पंडितों ने निष्ठा और साहस के साथ अज्ञान से जूझने का और ज्ञान की रक्षा करने का अविचल व्रत न लिया होता। संसार में मार-काट, लूट-खसोट और शुद्धोन्माद चलता रहा है। राष्ट्र एक दूसरे को निगलने के लिये मुँह बाप विकराल गति से अग्रसर होते रहे हैं, कूटनीतिक चालबाजियों से माचव-चित्त का उपरला सतह बिलुब्ध और क्लृप्ति होता रहा है। शोषण और उत्सादन का क्रूर चक्र निर्वाच्य भाव से घूमता रहा है और इन सब भयंकर कुचक्रों की छाया में ज्ञान-व्रती साधकों की साधना निवात-विष्कम्प दीप-शिखा की भाँति अविचल भाव से आलोक

वितरती रही है। संसार की प्राचीन जादियों के मिलन और संघर्ष, आदान और प्रदान, उत्थान और पतन तथा जीवन और मरण की कहानी अवितर्य भाव से बान लेने का प्रयत्न कवि-निबद्ध साहसिक अभियान कथाओं से भी अधिक रोचक और रोमांचक है। प्राचीन ज्ञान के अनुसन्धान की यह कहानी इस बात का सबूत है कि संघर्ष और कोलाहल का सतही वातावरण केवल क्षणिक है। घरातल के इस ऊपरी विद्रोम के नीचे मानवीय एकता की अपराजेय धारा प्रवाहित हो रही है। इतिहास-विवादा मनुष्य को किसी अज्ञात 'एक' को उपलब्ध कराने की तैयारी में निश्चित रूप से संलग्न हैं।

गैरोला जी ने इस ज्ञान की साधना के विभिन्न पहलुओं को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त किया है। लिपियों, भाषाओं और ग्रन्थों की खोज; उनके अध्ययन, संपादन और विवेचन का प्रयास; सिद्धों, मिति-चित्रों, मूर्तियों और मंदिर के भीतर से सौन्दर्य-प्रेमी मनुष्य को सम्मन्ने का आयोजन; पुस्तकालयों और संग्रहालयों के द्वारा उस ज्ञान को लोक-मुलम और व्यापक बनाने की प्रक्रिया का उन्होंने विस्तार से इस छोटी-सी पुस्तक में उल्लेख किया है। ज्ञान पड़ता है यह उनके समय-समय पर लिखे छिट-फुट लेखों का संग्रह है। इसीलिये कभी-कभी एक ही- बात अनेक स्थलों पर दुहराई गई है। फिर भी वे अपने पाठकों को ज्ञान के अभियान की जो साहसिक कहानी सुनाना चाहते हैं वह विस्संदेह सही रूप में प्रकट हुई है।

गैरोला जी ने इस पुस्तक में यूरोपीय पंडितों के अथक प्रयत्नों को प्रत्यक्ष कराने का प्रयत्न किया है। मैं इन ज्ञान-विष्ठ तपोमूर्ति साधकों के प्रयास को सेतु-निर्माण कहता हूँ। राजनीतिक कारणों से भारतवर्ष, एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देश यूरोपीय आक्रमकों से खिन्न और दुखी रहे हैं। उनके चित्त पर विभिन्न यूरोपीय देशों के साम्राज्यवादी शासकों की बड़ी कटु स्मृति की छाप है। आर्थिक शोषण, राजनीतिक अपीडन और प्रशासकीय हथकंडों ने शासक और शासित जवता के बीच व्यवधान की बड़ी मारी

खाई तैयार कर दी है। आज, सौभाग्य-वश, ये क्रूर-कथाएँ दुःस्वप्न की भाँति कष्ट देकर नष्ट होने लगी हैं; परन्तु खाई जो बन गई है वह बन ही गई है।

तपोनिष्ठ विद्वानों के ये प्रयत्न, प्राचीन ज्ञान के उद्धार का उनका अकुतोभय संघर्ष और ज्ञान-राशि को प्राप्त करने की उनकी उत्साहवर्द्धक सफलता ही इस खाई को पाट सकती हैं। वस्तुतः यह खाई पट भी रही है इसीलिये ज्ञान की इस साधना को मैं सेतु-निर्माण कहता हूँ। भारतवर्ष की अगली पीढ़ी जिस समय लूट-खसोट, शोषण-पीड़न की कहानियों से कटुता और घृणा के भाव पोषित करेगी, उस समय इन ज्ञान-व्रती तपोभूर्ति साधकों की अद्भुत सेवाएँ उसे वृत्तशता और प्रेम के अमृत रस से सींचने का काम करेंगी। यदि मनुष्य कभी इतिहास-विघाता के इंगित को, जो मानवीय परम सत्य को उपलब्ध करने की ओर अंगुलि-निर्देश कर रहा है, समझ सकेगा तो वह इसलिये नहीं होगा कि दुरन्त राज-शक्ति और दुर्घर्ष विजय-वाहिनी के संचालकों ने देशों को और राष्ट्रों को आतंकित, मीत और त्रस्त किया था, बल्कि इसलिये होगा कि ज्ञान के ये एकनिष्ठ साधक विपरीत परिस्थितियों के भीतर भी अपनी प्रेममय साधना का दीप जलाए रहे।

गैरोला जी की इस पुस्तक का मैं स्वागत करता हूँ। मुझे यह आशा है कि वे और भी बहुमूल्य पुस्तकों से साहित्य को समृद्ध करेंगे। उनकी दृष्टि विशाल और उदार है। उनमें परिश्रम करने की शक्ति है और नाना-स्थानों से ज्ञान-संग्रह करने की भावना भी है। परमात्मा उन्हें दीर्घ आयु तक पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करें।

वाराणसी }
२८-२-५६

हजारीप्रसाद द्विवेदी

यह निबन्ध-संग्रह :

विषय की दृष्टि से इस संग्रह के निबन्धों को चार वर्गों में अलग करके पढ़ा जा सकता है ।

पहले वर्ग के निबन्ध भारतीय हस्तलिखित पोथियों के सम्बन्ध में हैं । ये पोथियाँ हमारे राष्ट्र की ज्ञान-थाती हैं, जिनके द्वारा हमारे ज्ञान की विरासत पीढ़ियों पूर्व से सुरक्षित रहती हुई आज हम तक पहुँची है । प्राचीन भारत की गौरव-गाथा को बताने वाले इतिहास और पुरातत्त्व के जितने भी साधन आज उपलब्ध हैं उनमें इन पोथियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

बड़े-बड़े नगरों से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक यह ग्रन्थ-निधि हमारे देश के ओर-छोर तक सर्वत्र बिखरी हुई है । हमारे देश के हर क्षेत्र का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इन पोथियों से सुपरिचित है; किन्तु हमारे साहित्य के लिए इनकी कितनी उपयोगिता और हमारे राष्ट्र के लिए इनका क्या महत्त्व है, इस बात को बहुत ही कम लोग जानते हैं । इसी हेतु हमारे अधिकांश अपरिचित समाज के द्वारा अज्ञानता के कारण अथवा परम्परा-

गत रुढियों के कारण राष्ट्रीय महत्त्व की इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-निधि का बड़ा ही दुरुपयोग हो रहा है ।

यद्यपि इन थोड़े से निबन्धों के द्वारा इस इतनी देशव्यापी व्यापक समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता है और न ही अपने अधिकांश अपरिचित समाज तक यह संदेश पहुँचाया जा सकता है; फिर भी इस प्रकार के उद्योगों से इन पोथियों की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए यत्नशील होना हम सभी का परम कर्तव्य है ।

केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों की ओर से इस क्षेत्र में जो कार्य हो रहा है उसका हम स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि निकट भविष्य में ही हमें सरकार की इस योजना के सुपरिणाम देखने को मिलेंगे ।

इस संग्रह में दूसरे वर्ग के निबन्ध संस्कृत-साहित्य की विभिन्न विचार-धाराओं से संबद्ध हैं । संसार की प्राचीनतम समृद्ध भाषाओं में संस्कृत का अपना विशिष्ट स्थान रहा है और सहस्रों वर्षों तक ज्ञान का आदान-प्रदान करने के लिए भारत में उसका अस्तित्व बना रहा । हमारे देश की वर्तमान भाषाओं को जीवनी-शक्ति प्रदान कर संस्कृत ने अपने महत्त्व और अपनी महनीयता को स्पष्ट कर दिया है ।

दूसरी कोटि के इन निबन्धों में अध्येता को प्रतिपाद्य विषय का दिशा-संकेत ही मिल सकता है । इस प्रकार का दिशा-संकेत संस्कृत के उन छात्रों के लिए अपेक्षित है, जो एकनिष्ठ होकर संस्कृत भारती की सेवा में दत्तचित्त हैं । इस कोटि के संस्कृत-विषयक निबन्धों का हिन्दी में प्रायः अभाव ही दिखाई देता है, जो संस्कृत के अध्येता छात्रों के लिए सहायक

सिद्ध हो सकें। इन निबन्धों में प्रतिपादित स्थापनायें एवं तत्सम्बन्धी विषय-सामग्री प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथों पर आधारित है।

तीसरी कोटि के निबन्धों में दो बातों का संकेत मिलता है। पहली बात तो यह कि विदेशों में संस्कृत की लोकप्रियता का आरम्भ किस क्रम से हुआ और धरती भर का विद्वत्समाज संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किस द्रुत गति से अग्रसर हुआ। दूसरी बात इस वर्ग के निबन्धों में यह देखने को मिलती है कि संस्कृत-साहित्य के अध्ययन-अन्वेषण के लिए पश्चिम के इन ज्ञानप्रेमी मनीषियों ने अपना संपूर्ण जीवन किस महान् त्याग और कितनी महती निष्ठा से अर्पित कर दिया !

विशेषतया इतिहास की दिशा में इन विदेशी विद्वानों के द्वारा जो कार्य हुआ, आज भी वह अतुलनीय है। कदाचित् यह कहना असत्य एवं अनुपयुक्त न होगा कि इन प्राच्य पंडितों ने हमारी संस्कृत भाषा के उन्नयन के लिए जो कार्य किए और उनके फलस्वरूप संस्कृत-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए जो परिस्थितियाँ तैयार हुईं, उनकी ही प्रेरणा से अपनी इस अथाह ज्ञान-थाती के प्रति हमारी चेतना उद्बुद्ध हुई।

इस संग्रह के चौथे वर्ग में कला-विषयक निबन्ध हैं; विशेषतः चित्रकला-सम्बन्धी। भारतीय चित्रकला पर जब तक कुछ भी नहीं लिखा गया था, उस समय तक, पश्चिम के कला-भवनों में जो छोटे-छोटे भारतीय चित्र सज्जित थे उन्हें या तो फारसी समझा जाता था या चीनी। उनका मूल्य या तो पुस्तकों की शोभा बढ़ाने तक ही सीमित था अथवा कला-संग्रहों की विचित्रता घोटन करना मात्र ही उनकी उपयोगिता समझी जाती थी; किन्तु आज भारत की इस कलात्मक देन से यूरोप तथा

एशिया के सभी प्रमुख कला-मंचन अलंकृत हो रहे हैं। भारतीय चित्रों पर विदेशों में अब तक अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं और अनेक अल्पम प्रकाशित हो चुके हैं। इस क्षेत्र में डब्ल्यू० जी० आर्चर, जे० सी० फ्रैंक, विलियम मूरक्राफ्ट, एल्विन और हिवेल आदि विदेशी कलाचिद् विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है।

प्राचीन भारत के राजवंशों में कला का किस प्रकार अर्जन-संवर्धन होता गया, मध्ययुगीन मुगल सल्तनत के कलाप्रेमी स्वामियों द्वारा किस उत्साह से भारत की यह कलात्मक धरोहर आगे बढ़ी और आधुनिक युग के कलाकारों ने उसको नव-सुधार कर किस ढंग से युग के अनुरूप ढाला, इसका विवेचन इन निबन्धों में दर्शित है।

अन्त में कृपालु विद्वान्, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के प्रति नतमस्तक होकर अपने इस निवेदन को मैं यहीं समाप्त करता हूँ।

वसन्तपंचमी,
१२ फरवरी, '५९ }

—वाचस्पति गैरोला

अनुक्रम

भूमिका

यह निबन्ध-संग्रह

• एक

भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय	:	१
ये बिखरे हुए ग्रन्थरत्न	:	१३
अक्षर अमर रहें	:	१९
प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय	:	२७
भारत में हस्तलिखित पोथियों की सुदीर्घ परम्परा	:	३४
भारतीय पोथियों का प्रवास	:	४०
इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय	:	५३
हस्तलिखित पोथियों का संरक्षण	:	५९

दो

भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता	:	६५
महापुरुष मनु	:	७६
विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ	:	८४
व्याकरणशास्त्र का प्रणयन	:	९०
महर्षि पाणिनि	:	९८
महर्षि कात्यायन	:	१०२
भाष्यकार पतञ्जलि	:	१०७
कालिदास का मेघदूत	:	११२
कालिदास का ऋतुसंहार	:	१२०
संस्कृत के महाकाव्य	:	१२७
संस्कृत के नाटक	:	१३५

संस्कृत के गीतिकाव्य	:	१४४
संस्कृत के कथाकाव्य	:	१५०
संस्कृत के गद्यकाव्य	:	१५६
बौद्ध न्याय का उद्भव और विकास	:	१६१
बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य	:	१६८
मातृगुप्त और भर्तृहरेण	:	१८२
संस्कृत-साहित्य में 'बृहत्त्रयी' का मूल्यांकन	:	१८७
अलंकारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी	:	१९३
संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार : भवभूति	:	२०१
उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते	:	२०५
कल्हण-कृत राजतरंगिणी	:	२११

तीन

भारतीय वाङ्मय का विदेशों में समादर	:	२१८
भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन	:	२२७
हैन-त्सांग मोक्षदेव	:	२३७
संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ हेनरी टॉमस कोलब्रुक	:	२४५
महापण्डित मैक्समूलर	:	२५०
प्राच्यविद्या-विशारद—डॉ० जे० जी० वूलर	:	२५९
वेवर : मेक्डोनेल : कीय	:	२६५

चार

भारतीय चित्रकला की व्याप्ति	:	२७०
भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण	:	२७८
अजन्ता की चित्रकला	:	२९७
पहाड़ी चित्र-शैली : दिशाएँ और संभावनाएँ	:	३२२
भारतीय नृत्यकला	:	३२८

अक्षर अमर रहें

भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय

भारतीय विचारधारा आदिकाल से ही चिन्तन-मनन-प्रधान रही है। उसकी अभिरुचि जीवन की शाश्वत गहराइयों को खोज निकालने में ही अग्रसर रही है। दैहिक जीवन की प्रगति और प्रतिगति की बिना चिन्ता किये उसके व्यापक वाङ्मय और विधुत ज्ञान की छाया में मानवीय जीवन के चिरन्तन आदर्शों की सदा से ही रक्षा होती आई है। उसकी प्रतिभा ने, उसके साहित्य ने संसार को आलोकित किया और आज भी अपने तपःपूत महाप्राण मनस्वियों की गौरव-गाथा हमारी साहित्यिक चेतना में आप्यायित है।

भारतीय वाङ्मय के मूलस्वरूप की ओर जब ध्यान जाता है तब प्रतीत होता है कि अपनी वर्तमान स्थिति से वह सर्वथा भिन्न था। वेदों की मंत्र-संहिताओं के अनन्तर उनका व्याख्या-काल आता है। यह काल 'ब्राह्मणकाल' से अभिहित किया गया है और प्रायः सभी इतिहासज्ञों ने 'ब्राह्मणकाल' की प्राचीनता संवत् पूर्व २५०० से १४०० तक मानी है तथा अन्तिम रूप से अपना निर्णय भी दिया है कि इस समय तक संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान केवल स्मरणशक्ति-द्वारा ही रक्षित था। तदनन्तर विकासवाद के सिद्धान्तानुसार भावानुभूति और विचारणा के क्षेत्र में महान् परिवर्तन दिखाई देता है और फलतः अभिव्यञ्जना का स्वरूप भी एक नयी परिस्थिति को जन्म देता है। यहाँ से 'सूत्रकाल' का आरंभ होता है, जिसकी आयु संवत् पूर्व १४०० से ५०० मानी गयी है। इस काल में हमारे महर्षियों ने एक नयी शैली को जन्म दिया जिसे भाष्य-ग्रन्थ शैली कहा जाता है। सूत्रों की सङ्केत भाषा गागर में सागर की भाँति इतनी गुरुह प्रतीत हुई कि जिसे बोधगम्य करना असाधारण बात थी। फलस्वरूप लेखन-कला का जन्म हुआ और गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त कर शिष्यों ने अपनी सुविधा के लिए उसको लिपिबद्ध करना आरंभ किया। जितना भी मौखिक साहित्य था वह सबका सब लिपिबद्ध हुआ और हस्तलिखित पोथियों का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख है उसकी सृष्टि सूत्रकाल से ही होनी आरंभ हुई।

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने, जिन्होंने अपने जीवन के ५६ वर्ष वेदों के अनुसंधान कार्य में व्यतीत किये, इस सम्बन्ध में अपनी अन्तिम राय इस प्रकार दी है 'वेदों का निर्माण आदिकाल में ही हो चुका था। इतने पूर्व का कोई हस्तलिखित ग्रन्थ खोजने पर भी संसार भर में नहीं मिलता।' इस पर भी उन्होंने पुनः 'भारत से हम क्या शिक्षा

ले सकते हैं' नामक पुस्तक में कहा 'अमूल्य एवं अप्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थों के कोष केवल भारत में ही प्राप्त हो सकते हैं ।'

हस्तलेखों का स्वरूप

पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात् भारतीय विद्वानों एवं पाश्चात्य शोधकों ने एकमत होकर यह स्थिर किया कि भारत में ई० पू० ८०० वर्ष से हाथ से लिखने की प्रथा प्रचलित थी । इससे यह धारणा सिद्ध होती है कि भारत में हस्तलेखों का आरंभ सूत्रकाल से ही हो चुका था । ऐतिहासिक गवेषणा से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हस्तलेखों का सूत्रकालीन स्वरूप अनिर्णीत है; किन्तु सम्राट् अशोक की प्रशस्तियों एवं तत्सामयिक शिलाओं तथा स्तम्भों पर किये गये उत्कीर्णों के रूप में प्राचीनतम हस्तलेखों की गणना की जा सकती है, जिनकी तिथि निर्दिष्ट ई० पू० तृतीय शतक है । इस प्रकार के प्रस्तर-हस्तलेखों की प्रथा बहुत काल तक प्रचलित रही । बाद में कुषाण राजाओं के समय धातु के हस्तलेख प्रचारित हुए और कनिष्क के धातु-लेख इस कोटि के उत्कृष्ट प्रमाण हैं ।

अशोककालीन प्रस्तर-लेखों और कुषाणकालीन धातु-लेखों के अनन्तर गुप्तकालीन ताम्र-लेख उल्लेखनीय हैं । ये हस्तलेख अधिकतर ब्राह्मीलिपि में लिखे हुए प्राप्त होते हैं । ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का मत है कि आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी नामक कन्या द्वारा दाहिने हाथ से जिस लिपि को लिखवाया था कालान्तर में वही लिपि उसी आदिकन्या के नाम से 'ब्राह्मीलिपि' के रूप में अभिहित हुई ।

तत्पश्चात् हस्तलेख ताड़पत्र, भोजपत्र और मांडपत्र पर लिखी गई पोथियों के रूप में मिलते हैं । ताड़पत्र ताड़ के पत्रों से बनता है जो

तापजीवी होने के कारण तापप्रधान मैदानी प्रदेशों में होते हैं। दक्षिण भारत और पूर्वी भारत में इसीलिपि ताड़-वृक्षों की अधिकता है। ताड़पत्र पर लिखी सबसे प्राचीन पोथियाँ पशुपताचार्य रामेश्वरध्वजकृत 'कुसुमाञ्जलि की टीका' और 'प्रबोध-सिद्धि' प्राप्त हुई हैं, जिनका लिपिकाल क्रमशः ईसा का प्रथम तथा द्वितीय शतक है। ईसा की दूसरी शताब्दी में लिखी तीसरी पोथी नाटक के कुछ श्रुति अंश के रूप में प्राप्त हुई, जिसका उल्लेख डा० लूपर्स ने 'कीलहार्न संस्कृत टेस्ट' के प्रथम भाग में किया। सप्तम शताब्दी के बाद की लिखी अनेक ताड़पत्रीय पोथियाँ प्राप्त होती हैं।

इसी भाँति भोजपत्र पर लिखी गई दो प्राचीन पोथियाँ—'धम्मपद' और 'संयुक्तागमसूत्र'—उपलब्ध हुई हैं। एताद्वयक विद्वानों के मतानुसार क्रमशः दोनों का लिपिकाल दूसरी शताब्दी और चौथी शताब्दी है। भोजपत्र के घृत्त शीतप्रधान प्रदेशों—हिमालय तथा काश्मीर की तराइयों में अधिकता से पाये जाते हैं। इन्हीं प्रदेशों में भोजपत्रीय पोथियाँ मिलने की अधिक संभावना है।

ताड़पत्र और भोजपत्र के अतिरिक्त हस्तलिखित पोथियों का तीसरा स्वरूप मांडपत्रीय पोथियाँ हैं। मांडपत्र का दूसरा नाम 'देवी हाथ का घना कागज' भी है, जिसके बनाने की अनेक विधियाँ हैं। पहिली विधि तो इस प्रकार है कि रुई को भिगोकर गला दिया जाता था और भीगने की क्रिया जब पूर्ण हो जाती थी तब उसको लकड़ी की घनी एक विशेष प्रकार की गोलाकार जाड़ी से सावधान होकर तबतक लगातार घूट दिया जाता, जबतक कि रुई के रेशे-रेशे स्वच्छ दशा में न बदल जायें। तदनन्तर बीच-बीच में एक ओषधि मिलाकर उसको अन्तिम अवस्था में लाया जाता था और अन्त में उसको निर्मल हरी

दूब अथवा ऐसे ही स्वच्छ स्थान पर कुनकुनी धूप में सुखाने के लिए ढाल दिया जाता था। कागज जैसे रंग का बनाना हो, उसमें वैसी ही ओषधि मिलायी जाती थी। जब वह सूख जाता तब उसका पक्षपादन और खुरदुरापन मिटाने के लिए उसके ऊपर मांड का लेप कर दिया जाता, जिससे उसके छिद्र भर जाते और पुनः तेज धूप में सुखाकर उसको शंख से घोट दिया जाता था और अन्तिम रूप से उसको कागज की दशा में लाया जाता था। इसी कोटि का दूसरा कागज पानी की ऊपरी सतह में जमे शैवाल से निर्मित किया जाता था। उसकी भी अपनी पृथक् विधि है। ये दोनों प्रकार के कागज 'मांडपत्र' से अभिहित होते हैं एवं विशुद्ध देशी हाथ का बना कागज यही कहलाता है।

चीन में पहले-पहल सन् १०५ में जब कागज का आविष्कार हुआ था उसके बहुत बाद तक भारत में हस्तलेखन के लिए मांडपत्र को ही उपयोग में लाया जाता रहा। आज हस्तलिखित पोथियों की प्रचुर संख्या मांडपत्र पर लिखी हुई मिलती है। इस प्रकार की पोथियों की प्राचीनता कागज के माध्यम से स्वतः सिद्ध हो जाती है। मांडपत्र पर लिखी गई अधिक से अधिक छः सौ सात सौ वर्ष प्राचीन पोथियाँ ही शोधकर्ताओं को प्राप्त हो सकीं। उसका कारण यह है कि कागज होने की वजह से पर्याप्त संरक्षण के अभाव में ऐसी पोथियाँ चिरन्तनी नहीं हो सकतीं।

इन पोथियों को लिखने के लिये स्याही को उपयोग में लाया जाता था वह भी आज की स्याही की भांति भिन्न एवं अपेक्षाकृत चमकीली और अधिक टिकाऊ होती थी। इस प्रकार की स्याही वृक्षों के पत्ते एवं जड़ी-बूटियों से तैयार की जाती थी। आज भी कहीं-कहीं स्याही बनाने का यह तरीका उपयोग में लाया जाता है। इस स्याही

भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय

में एक अपनी विशेषता यह देखने को मिली है कि कागज को पानी में डालने पर भी वह धुलती तथा पिघलती नहीं है। चित्रकार भी प्रायः ऐसे ही रत्नों का निर्माण करते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद पश्चिम भारतीय शैली, जो जैन-स्कूल के नाम से पुकारी जाती है, के चित्रों के आधार पर पोथियाँ लिखी जाने लगीं। भित्तिचित्रों के अतिरिक्त ताड़पत्र पर भी लिखे हुए इस शैली के अनेक चित्र मिले हैं। ये चित्र प्रसङ्गानुसार पोथियों के मध्यभाग में बने होते थे। इस प्रकार कला की प्राचीनता पर भी हस्तलिखित पोथियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

भारत में इस कार्य का आरम्भ

सन् १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसायटी आफ् बंगाल' की स्थापना की। इस संस्था के प्रोत्साहन से भारत में पुरातत्त्व-अनुसंधान कार्य के साथ-साथ हस्तलिखित पोथियों का खोज-कार्य भी बड़ी तत्परता से संपन्न होने लगा। अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने एकत्र होकर इस महत्वपूर्ण कार्य में अपना पूर्ण योग दिया। पुरातत्त्व विशेषज्ञ यूरोपीय विद्वान् महाशय कोलमुक यहां तक उत्साहित हुए कि उन्होंने अकेले हस्तलिखित पोथियों के उद्धारार्थ १० हजार पौंड की एक वृहत् निधि खर्च कर विद्वानों को इस दिशा में आकर्षित किया। डा० आम्ब्रेक्ट ने इंडिया आफिस के हस्तलिखित संस्कृत पोथी संग्रह को, डा० फीलहार्न, वूलर, पीटर्सन, मांडारकर, घर्नेल, मेकेंजी, कोलमुक और गायकवाड प्रभृति विद्वानों की खोज रिपोर्ट के आधार पर तीन भागों में सूचीबद्ध कर उसको 'कैटेलोगस कैटेलोगरम' नाम से प्रकाशित किया। मद्रास यूनिवर्सिटी से उसका संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण निकल रहा है। ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण

इस प्रकार रखा:—ग्रन्थ का नाम, ग्रन्थकर्ता का नाम, ग्रन्थविस्तार, लिपि, निर्माणकाल, लिपिकाल, ग्रन्थ की अवस्था, ग्रन्थ का आदि-अन्त अंश और कहीं-कहीं मध्य का अंश भी उद्धृत किया। इसी की देखा-देखी आक्सफोर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी का सूचीपत्र, एगलिंग का इंडिया आफिस का सूचीपत्र तथा वेवर कृत वर्लिन के राजपुस्तकालय का सूचीपत्र बड़े उत्साह से प्रकाशित हुए।

सन् १८६८ ई० में लाहौर निवासी पंडित राधाकृष्ण के सध्यत्नों के फलस्वरूप भारत सरकार ने हस्तलिखित पोथियों के उद्धारार्थ धर्मई, मद्रास आदि प्रान्तों में अनेक संस्थाएँ स्थापित कीं। इन्हीं संस्थाओं की देखादेखी 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने सन् १८९३ ई० से हस्तलिखित हिन्दी पोथियों के खोज-कार्य के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रम रखे, किन्तु सभा अपनी आरंभिक स्थिति में इतना आर्थिक व्यय वहन करने में असमर्थ रही। सन् १८९९ में प्रान्तीय सरकार से ४०० की अत्यल्प निधि वार्षिक सहायता के रूप में सभा को प्राप्त हुई और सभा के योग्य संचालकों के प्रयत्नस्वरूप वही निधि बढ़कर २००० तक हो गई। तब से लेकर आज तक सभा ने अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी जिस उत्साह से इस उद्धारकार्य को किया, वह स्तुत्य है। सभा ने जिन खोज रिपोर्टों को आज तक प्रकाशित किया ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस दिशा में कार्य करने वाली प्रमुख संस्थाओं में नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; सरस्वती भवन, वाराणसी; भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना; श्री शार्दूल रिसर्च इंस्टिट्यूट; तथा अमय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर; सिंधिया रिसर्च इंस्टिट्यूट, उज्जैन; बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बिहार; ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास; आदियार लाइब्रेरी,

मद्रास; प्राच्य विद्या संस्थान, मद्रास; विश्वविद्यालय, मद्रास; वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर; शोधसंस्थान, उदयपुर; खुदायकशाखाँ लाह्वेरी, पटना; पुरातत्व मंदिर; तथा राजकीय पोथीखाना, जमपुर; भारती कलामवन, वाराणसी; महाराज वलरामपुर का संग्रहालय; रजा लाह्वेरी, रामपुर और हिन्दी साहित्य समेलन, प्रयाग; का नाम उल्लेखनीय है ।

इनके अतिरिक्त सभी प्रदेशों में ऐसी संस्थाओं का संघटन हुआ है जिनका उद्देश्य इन पोथियों का अधिक से अधिक संग्रह कर उनको विनष्ट होने से बचाना है; किन्तु बहुत कम संस्थाएँ अभी तक इस कार्य में सफल सिद्ध हुई हैं । भारत के प्रायः सभी भागों में यह ग्रन्थ-संपत्ति यत्र-तत्र विखरी हुई है । उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, विहार आदि मैदानी प्रदेशों के अतिरिक्त हिमालय प्रदेश के पहाड़ी भागों में भी उपेक्षित रूप से पड़ी हुई इन पोथियों का उद्धार हो सकता है । राष्ट्रीय सरकार के तत्वावधान में यदि यह कार्य संपन्न हो तो अति उत्तम है; अन्यथा सरकार को चाहिए कि वह इन संस्थाओं को प्रोत्साहन दे । अविदित नहीं कि हमारी उदासीन वृत्तियों के कारण जिन असंख्य पोथियों का प्रवास हुआ उसकी पूर्ति क्या कभी हो सकती है ? इस दिशा में जितनी जल्दी सावधान हुआ जाय उतना ही कल्याणकर होगा क्योंकि ये पोथियाँ जिस कागज पर लिखी होती हैं वह दीर्घजीवी एवं समयापेक्ष्य नहीं होता ।

इन पोथियों के संग्रह करने में सबसे बड़ी कठिनाई ग्रन्थस्वामी के मिथ्या-मोह के कारण होती है । सभी संग्रहकर्ताओं ने एकमत होकर इस अनुभव को दुहराया है कि लोगों के बीच इन पोथियों के सम्बन्ध में अभी तक परम्परागत पुराना अंधविश्वास चला आ रहा

है। वे लोग इन पोथियों को देने की बात तो भलग रही, छूने तक नहीं देते और उनकी पूजा करते हैं। उनका यह पूजा भाव यहाँ तक सीमातिक्रमण कर चुका है कि भले ही पुराने चिथटों में वेष्टित वे पोथियाँ एक दिन दीमक की भोज्य-सामग्री बन जायँ; किन्तु किसी के हाथ में न जायँ। उनकी धारणा है कि पोथियों में उल्लिखित मन्त्रों का रहस्य खुल गया तो उनका महत्व नष्ट हो ही जायगा, साथ ही उन पूर्वजों की स्वर्गवासी आत्माओं को भी ठेस पहुँचेगी जिन्होंने पोथियों के आमुख आवरण पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा है 'सुगोप्यम्' 'अपाठ्यम्'। कई सज्जन मुझे ऐसे भी मिले हैं जिन्होंने अपने पूर्वजों के उक्त वेदवाक्यों की रक्षा के लिए अपने विशाल ग्रन्थ-संग्रहों की आधी रात में सामने वाली आंगन की दीवार में चुन दिया। कुछ ने कुयें में डालकर ग्रन्थों की गोपनीयता की रक्षा की। ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि इस दिशा में उदासीन न हुआ जाय। पहले-पहल आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे लोगों की परम्परागत इस संदिग्ध एवं असत्य धारणा को दूर कर उनमें यह विश्वास पैदा कर दिया जाय कि राष्ट्र की जिस अमूल्य संपत्ति को वे इस प्रकार नष्ट कर रहे हैं। देश के लिए उसका कितना महत्व है।

जिन महानुभावों के पास इस प्रकार के व्यक्तिगत संग्रह केवल इसलिए ही पड़े हों कि एक दिन वे भी काल-कवलित हो जायेंगे उन्हें भी विवेक से काम लेना चाहिए। मिथ्या मोह-वश राष्ट्र की इस अप्राप्य निधि को व्यक्तिगत न समझकर कुछ उदारता वरतें। ग्रन्थस्वामी चाहें तो, यद्यपि भरसक जहाँ तक हो सके इस चाह की अवज्ञा ही करें, अर्थ के बदले भी अपने ग्रन्थ-संग्रह को दे सकते हैं। ऐसी भी संस्थाएँ हैं जो प्रतिवर्ष एक बड़ी निधि केवल इन ग्रंथों के उद्धारार्थ ही व्यय करती हैं।

हस्तलिखित पोथियों के निर्माताओं में जादिकाल से ही दो प्रवृत्तियाँ ऐसी चली आ रही हैं जिनके कारण जोषकर्मों को धनैकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्राचीन, अर्वाचीन बहुत कम पोथियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें रचनाकाल, लिपिकाल अथवा ग्रन्थकर्ता के संबंध में कोई उल्लेख हो। हमारा कारण परम्परागत प्रथा का निर्वाह लक्षित होता है। हमारे ग्रन्थकारों ने आत्मानिमान के भय से इन महत्वपूर्ण बातों की उपेक्षा की। डा० के ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'संस्कृत के ग्रन्थकारों ने अपना परिचय दिपाकर न जाने कितने महत्वपूर्ण ग्रन्थों को देवताओं और ऋषियों के नाम लिए दिया।' संस्कृत के ग्रन्थकारों की इस प्रवृत्ति का हिन्दी के ग्रन्थकारों ने भी कम अनुसरण नहीं किया।

इसीसे मिलती-जुलती इन ग्रन्थकारों में एक दूसरी प्रवृत्ति लक्षित होती है। यह है एक ही आवरण में कई ग्रन्थों को लिग्न बाँटने की। १०० से अधिक ग्रन्थ एक ही आवरण में लिखे मिलते हैं, जिनका न तो विषय की दृष्टि से कोई साम्य होता है और न ही एक जैसी भाषा में वे लिखे होते हैं। दो ग्रन्थों को एक ही पृष्ठ में समाप्त और आरंभ भी कर देने से तथा एक ही आवरण में अनेक भाषाओं—संस्कृत, पालि, हिन्दी, उर्दू, बंगला आदि—के ग्रन्थ लिग्न देने के कारण इन पोथियों को किसी वैज्ञानिक पद्धति से वर्गीकृत करना पड़े तो उलझन का विषय बन जाता है।

उपयोगिता

उपयोगिता की दृष्टि से इन हस्तलिखित पोथियों का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी भी देश की सांस्कृतिक चेतना को अनुप्राणित करने के लिए इन पोथियों का महान् योग रहा है। साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक जीवन की तत्कालीन मनोवृत्तियों, धारणाओं,

चिन्ताओं, भावनाओं और आदर्शों का अविकल स्वरूप इन पोथियों में प्रतिच्छायायित है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने अपने ज्ञान-विज्ञान को ग्रथित करने के हेतु हाथ से लिखने की प्रथा को जन्म दिया। आदिकालीन तथा मध्यकालीन अधिकांश ग्रन्थकर्ताओं ने राज्याश्रय प्राप्त कर ही इन पोथियों का प्रणयन किया। ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में आश्रित राजा के सम्बन्ध में भी उन्होंने यत्र-तत्र लिखा, जिससे उस राज्य का इतिहास जानने में बड़ी सुविधा होती है।

इसके अतिरिक्त शिलालिपियों के महत्वपूर्ण लेख इतिहास-निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। हरिवेण कवि द्वारा खुदवाई गई प्रयाग के स्तंभ पर सम्राट् स्कन्दगुप्त की प्रशस्ति, अशोक के शिलालेख और महासूत्रप रुद्रदामन के गिरनार वाले शिलालेख इसी कोटि के हैं। अनेक पुरातत्व खोजियों ने ऐसी ही अनेकानेक सोने, चाँदी एवं ताम्रपत्रों पर लिखी गई प्रशस्तियों का पता लगाया है जिनके आधार पर विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है।

इन पोथियों की खोज-रिपोर्ट के आधार पर सर्वप्रथम सन् १८८३ ई० में श्री शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' नामक हिन्दी का इतिहास प्रस्तुत किया। इससे भी सदियों पूर्व काश्मीर के अमर कलावन्त कदहण ने अपनी 'राजतरंगिणी' की रचना इसी आधार पर की। सन् १८८९ ई० में डा० ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' नामक इतिहास लिखा, जिसका महत्व अपने क्षेत्र में अतुलनीय समझा गया। सन् १८९० ई० में महाशय वाचर ने 'वाचर मैनुस्क्रिप्ट्स' प्रकाशित करवाया, जिससे लोगों ने संस्कृत-साहित्य के महत्व को समझा। सन् १९१३ ई० में विद्वद्भर्य मिश्र बन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखकर हिन्दी के विलुप्त

कुछ दिन पूर्व भारत सरकार का विदेश-मंत्रालय इस घात की भरसक कोशिश में था कि लंदनस्थित इण्डिया आफिस पुस्तकालय उसको वापिस मिल जाय। वहाँ के लोग इस पुस्तकालय का मोह इसलिए नहीं छोड़ सके कि, इतने घपों का स्वामित्व भोगकर भारत से उन्हें एकमात्र यही ज्ञान-संपत्ति उपलब्ध हुई है, जो कि बाहिर में उनके पास बच सकी है।

इण्डिया आफिस पुस्तकालय में संप्रति ढाई लाख पुस्तकें सुरक्षित हैं। यहाँ बीस हजार हस्तलिखित पोथियों का गृहसंग्रह है। इस संग्रह में ऐसी पोथियाँ भी हैं, जो दुनिया में कहीं नहीं मिलती हैं। यह सारी संपत्ति भारत की ही है।

भारत के ये ग्रन्थरत्न किस कदर और किस तादाद में विदेशों को प्रवासित हुए, इसकी एक छम्पी कथा है; किन्तु जिस कथा को किसी भी इतिहासकार ने लिपिबद्ध नहीं किया है। भारतवासी अपनी इस ग्रन्थ-सम्पदा के लिए तब चिन्तित हुए जब उसका एक बड़ा भाग उनके हाथों से छिन कर विदेशों को प्रवासित हो चुका था। इन पोथियों के सम्बन्ध में घारीकी से अध्ययन करते हुए हमें विदित होता है कि भारत की घनती-विगदती राजनीति के कारण उनको स्थायीरूप से अच्छे दिन देखने नसीब नहीं हुए।

प्रवास की दिशाएँ

योरप, अमेरिका और सारे एशिया में भारत की ये पोथियाँ विभिन्न कारणों से प्रवासित हुईं। चीन, जापान, तिब्बत और ब्रिटेन में अधिकाधिक पोथियाँ गयीं। चीन, जापान और तिब्बत में ये पोथियाँ बौद्ध-धर्म के प्रचार के कारण ईसवी पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी से जाने लग गयी थीं और लगातार सातवीं-आठवीं शताब्दी तक जाती

रहीं। इन देशों में पोथियों को ले जाने का कार्य बौद्ध-पण्डितों, प्रचारकों, भिक्षुओं और घुमक्कड़ों ने किया।

अकेले चीन में फाहियान, हुएन्-त्सांग और इत्-सिंग नामक तीन बौद्ध-परिव्राजकों द्वारा सहस्रों भारतीय पोथियाँ प्रवासित हुईं। एक ही यात्री हुएन्-त्सांग के सम्बन्ध में अंग्रेज इतिहासकार बिसेट स्मिथ का कथन है कि वह चीनी-यात्री भगवान् बुद्ध की अनेक सोने-चाँदी की बहुमूल्य प्रतिमाओं सहित बीस घोड़ों पर मूल्यवान् पोथियाँ लाद कर अपने देश को ले गया।

विदेशों के संग्रहालय

इन देशों के बौद्ध-विहारों और सरकारी-नौर-सरकारी पुस्तकालयों में बहुत-सी भारतीय पोथियाँ आज भी सुरक्षित हैं। ऐसी दुर्लभ पोथियाँ भी वहाँ संगृहीत हैं, जो अपनी जन्मभूमि भारत और अपनी मूल-भाषा संस्कृत में आज उपलब्ध नहीं हैं। वैसे तो ये पोथियाँ ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व से ही उक्त देशों को जाने लग गयी थीं; किन्तु बङ्गाल के सेन और पाल राजाओं के समय में भागलपुर के समीप विक्रमशिला विश्वविद्यालय में लिखी गयी पोथियाँ विशेष रूप से वहाँ गयीं।

ब्रिटिश शासकों ने अपनी सत्ता के अन्तिम दिनों तक भारत से पोथियों को इकट्ठा करके अपने देश को भेजा। इण्डिया आफिस पुस्तकालय की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त लन्दन स्थित ब्रिटिश म्यूजियम, एशियाटिक सोसाइटी और कामनवेल्थ संग्रहालय भारतीय ज्ञान से ज्योतिष हो रहे हैं।

अरब, फारस, तुर्किस्तान, खोतान, मिस्र, यूनान और ईराक आदि

ये बिखरे हुए ग्रंथ-रत्न

१५

एशिया के देशों में भारतीय पोथियाँ निरन्तर जाती रही और अपने मूल रूप में तथा अनुवादों के रूप में ये पोथियाँ आज भी उन्हीं देशों के गौरव को बढ़ा रही हैं। 'दत्तविप्र-उद्घन' नामक निरूपणाग्र-विषयक पोथी एक जर्मन विद्वान् द्वारा अनूदित होकर कुछ दिन पूर्व प्रकाशित हुई। इस पुस्तक को देकर संसार के विद्वानों को आश्चर्य हुआ कि भारतीयों को इतने पुराने जमाने में निरूपणाग्र जैसे अति गूढ़ और अप्रचलित विषय का इतना प्रौढ़ ज्ञान था।

अभी हाल ही में डाक्टर रघुवीर चीन, मंगोलिया और मध्य-एशिया से बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री साथ लाये हैं। इस सामग्री का घजन एगमग दम टन है। उसको देखकर विद्वानों ने अनुमान लगाया कि पहिली शताब्दी से तेहर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत के साथ हुए मध्य-एशिया, मरूरिया, चीन, जापान और कोरिया के सांस्कृतिक सम्बन्धों का मिलसिलेगार इतिहास तैयार करने में उक्त सामग्री बड़ी सहायक एवं उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रतिभा के प्रमाण

प्राचीन-भारत के चूड़्य ज्ञानकेन्द्र, उसके ग्रन्थालयों का क्षयभय करने पर विदित होता है कि भारत में हस्तलिखित पोथियों के सपरिमित भण्डार भरपूर थे। इन पुस्तकालयों से भारतीयों के अद्भुत विद्याप्रेम का परिचय मिलता है, अपने इस विद्याप्रेम के ही कारण पोथियाँ लिखना उनका व्यवसाय एवं व्यसन हो गया था।

नालंदा महाविहार को विश्व-विख्यात गौरव प्राप्त होने का एक बड़ा कारण उसका असाधारण पुस्तकालय भी था। भारत के विद्याप्रेमी और कलाप्रेमी ग्रन्थ-स्वामियों ने अपने-अपने अनमोल ग्रन्थ-संग्रहों तथा

चित्र-संग्रहों को नालंदा महाविहार को भेंट कर उसके पुस्तकालय के यश को बढ़ाया ।

व्यक्तिगत पुस्तकालय

इसके अतिरिक्त तत्कालीन मठ-मन्दिरों के संग्रह और राजा-महाराजाओं के सरस्वती भण्डार भी पोथियों के गढ़ थे । नालंदा पुस्तकालय की खोई हुई शोहरत को फिर से कायम करने वाले मगध का ओदन्तपुरी महाविहार और विक्रमशिला का पुस्तकालय भी अपना निजी महत्त्व रखते हैं । इस प्रसङ्ग में हमें महाराजा भोज की भोजशाला, जैनियों के बृहत् उपाश्रय और सहस्रों व्यक्तिगत पुस्तकालयों की भी सहसा याद आ जाती है ।

भारत के हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों का इतिहास, मुगल-शाहंशाहों के पोथीखानों का अध्ययन किये यगैर, अधूरा ही कहा जायगा । शाहंशाह अकबर का चरित्र मध्यकालीन भारतीय इतिहास की सहेजनीय वस्तु है । अकबर एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, असामान्य विद्वत्सेवी, अद्भुत विद्याप्रेमी और बड़ा कला-रसिक शासक था । अकबर का पुस्तकालय अपने युग में संसार का सबसे बड़ा पुस्तकालय था । इस पुस्तकालय में चौबीस हजार हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थीं ।

अकबर का ज्ञानप्रेम विरासत के रूप में मुगलवंश के अन्तिम दिनों तक बना रहा । शाहंशाह औरंगजेब की विदुषी पुत्री जेबुन्निसा तक शाही-वंश में पुस्तकालयों की परम्परा चली रही ।

ज्ञान-गौरव

भारत के ज्ञान-गौरव प्राचीन पुस्तकालयों का अध्ययन कर और यह जानकर कि ये ग्रन्थ-रत्न भारत से किस प्रकार विदेशों को प्रवासित यें बिखरे हुए ग्रन्थ-रत्न

हुए, काम हमें निष्ठा ग्रहण करनी चाहिए। अभी भी यह ग्रन्थ-संपदा हिमालय में लेकर बन्वाहुमारी। गुरु माँ भारत में बिगरी हुई है। बाज़ भी हमारे मठ-मन्दिरों में, विद्याप्रेमी भारतीय नरेशों के मरगुनी-मण्डारों में, सरकारी, गैर-सरकारी संग्रहालयों में और मदमें अधिक म्यनिगत घरों में, सर्वत्र दृश्यदिक्षित पोथियों के अपार संग्रह भरपूर हैं।

सनाज में इन पोथियों के सम्बन्ध में एनेक अन्यविधाय और कुरीतियों पूर्ववत् हैं। लोग अपनी पोथियों को दिमाने और उनका रक्षा करने में पाप समझते हैं। इसका सुपरिणाम यह हुआ है और होता जा रहा है कि पुराने घेदनों में छपेटी ये पोथियाँ अविगम बॉमि छोड़ रही हैं। उनकी कीमती काया को दीमक खाट रही हैं।

राज्य सरकार का प्रयास

परम सौभाग्य का विषय है कि अपने १६ जून, १९५६ ई० के ४४८३।२—८९-१९५६ संक्रमक एक अर्धसासरीय परिपत्र द्वारा उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने यह सूचित किया है कि इस राष्ट्रीय सम्पत्ति को यधाने और उसको उचित संरक्षण देने के लिए यह उद्यत है। भारत सरकार और अन्य राज्य सरकारें मिलकर अविलंब ही इस कार्य को संपन्न करने के लिए कृतप्रतिज्ञ हैं।

राष्ट्र की इस ज्ञान विरासत के उद्धारार्थ उद्यत अपनी सरकार का हाथ बँटाना आज प्रत्येक व्यक्ति का अनिवार्य फर्तव्य है।



अक्षर अमर रहें

हमारे पुरखा हमें जो दे गये उस वसीयत के प्रति
कुछ हमारा भी तो फर्ज है न ?

प्रागैतिहासिक मानव को वर्णमाला की क्यों आवश्यकता हुई और किस उद्देश्य से उसने लेखनकला को जन्म दिया, इसका कोई स्नेहा-जोखा नहीं है। योरोप के इतिहास में 'फदमों' नामक एक पूर्विय जाति को सभ्यता-संस्कृति के मामले में बहुत बड़ा-बड़ा माना जाता है। वर्णमाला की सबसे पुरानी जानकारी इसी पूर्विय जाति को प्राप्त थी। इनसे ही बाद में 'फ्रोनीशियनों' ने वर्णमाला की शिक्षा ली। फ्रोनीशियनों से इस परम्परा को यूनानवासियों ने लिया।

अक्षर अमर रहें

यद्यपि कदमों द्वारा निर्दिष्ट वर्णमाला में प्रोनीशियनों ने कई सुधार किये; किन्तु उसे सरल और सर्वांगीण बनाने का श्रेय यूनानियों को ही है। यूनानियों द्वारा वर्णमाला में दो उल्लेखनीय सुधार हुए : उन्होंने प्रचलित स्वर-विहीन वर्णमाला में स्वरों का संयोग किया और उसे बायें से दाहिनी ओर लिखने की प्रणाली चलायी। यूनानियों से रोम वालों ने वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त किया और यहाँ से फिर सम्पूर्ण योरोप में प्रचार हुआ। ईस्वी पूर्व तेरहवीं शती तक योरोपवासी वर्णमाला से सर्वथा अपरिचित थे। उन्हें उसकी परिचिति एक शती बाद ही हुई।

आज से लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व ही अन्तरराष्ट्रीय लिपि का नाम कोनदार-लिपि था, जिसका सीरिया की 'मस्ती' नामक आर्य सम्यता व्यवहार करती थी। मिश्र की अपनी अन्तरदेशीय लिपि यद्यपि चित्रलिपि थी, फिर भी बाहरी पत्र-व्यवहार के कोनदार-लिपि में ही करते थे। यही कोनदार लिपि वर्तमान यूरोपियन लिपि की जन्मदात्री है। सीरिया की कोनदार लिपि को पहले-बहुत भूमध्य-सागर के आस-पास रहने वाली जातियों ने सीखा। इन्हीं जातियों ने उनमें स्वरों का संयोग कर उसे बायें से दाहिनी ओर लिखना भी प्रचलित किया।

प्राचीनता की दृष्टि से विश्व की आदिम दो भाषाएँ—आर्य और सेमेटिक—प्रचलित सभी भाषाओं की जननी हैं। योरोप की ग्रीक, फ्रेंच, लैटिन और इंग्लिश आदि जितनी भी भाषाएँ हैं, सभी का मूल स्रोत आर्य भाषा है। पूरव में भारत और ईरान, जिनकी भाषाएँ संस्कृत और फ़ारसी हैं, आर्य संस्कृति से ही अनुप्राणित हैं। आर्यों का एक दल मध्य-एशिया से आकर पंजाब में बस गया था। भाषा-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि वे लोग जिस आसुरी भाषा को बोलते थे, उसीसे वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति हुई है।

भारतीय वर्णमाला विषयक चर्चाएँ वेद, उपनिषद् और पुराणों में दिखरी हुई मिलती हैं। यजुर्वेद (३४।९ अ०) में लिखा है कि अष्ट वसु देवताओं ने १३ अक्षरों के छन्द में १३ मन्त्रों का प्रणयन किया; रुद्रों ने १४ अक्षरों के छन्द में १४ मन्त्रों की सृष्टि की। इतना ही नहीं, बल्कि यजुर्वेद के एक दूसरे मन्त्र (५७।२३ अ०) में वैदिक युगीन वर्णाक्षरों की संख्या पर भी प्रश्न किये गये हैं और समाधानकर्ता उत्तर देता है कि अक्षरों की संख्या सौ और होमों की संख्या अस्सी है।

इससे यह तो विदित होता है कि वैदिक युग की वर्णमाला आज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न थी, साथ ही इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि वह वर्णमाला आज की वर्णमाला से कहीं अधिक व्यापक और संवर्धनशील थी। यजुर्वेदोक्त शत-वर्णों की संख्या घट कर आज इतनी न्यून हो जाने का प्रबल कारण उच्चारण और व्यवहार की कमी प्रतीत होती है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि (ई० पू० पंचम शतक) के समय में वर्णों की यह संख्या घट कर केवल ६३-६४ रह गयी थी।

अथर्व वेद (४०।३ सूक्त । १८ काण्ड) भी वैदिकयुगीन वर्णमाला का समर्थन करता है।

‘छान्दोग्योपनिषद्’ में तो वर्णोत्पत्ति और उनका वर्गीकरण इस प्रकार वर्णित है कि अ इ उ आदि सम्पूर्ण स्वर इन्द्र की उत्पत्ति हैं, ए श स ह यह ऊष्मवर्ण प्रजापति अर्थात् चन्द्रमा की सृष्टि हैं और कवर्ग आदि जितने भी व्यंजन हैं सबके उच्चारयिता मृत्यु अर्थात् महेश्वर हैं। वर्णमाला की उत्पत्ति और उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में ‘नारद-पुराण’ में एक श्लोक आता है कि यदि ब्रह्मा वर्णमाला की उत्पत्ति और लिखने-पढ़ने की परम्परा की स्थापना न करते तो संसार का यह लोकव्यवहार न चलता और संसार ज्ञान से शून्य ही रह जाता। इसी

प्रकार पुराणोक्त एक दूसरा श्लोक वर्णमाला का विकास और लेखनकला की उपयोगिता के सम्बन्ध में निर्देश करता है कि छः मास के ही बाद लोग वेदमन्त्र को भूलने लगते थे। किसी विद्वत्पुरुष के मरणोपरान्त उसका सारा ज्ञान और सारी विद्या उसी के साथ विलुप्त हो जाया करती थी। ज्ञान के स्थायित्व और विद्या के प्रचारार्थ सुरश्रेष्ठ ब्रह्मा ने वर्णमाला की उत्पत्ति की और उसके उपरान्त भोजपत्रों तथा ताड़पत्रों पर लिखने की प्रथा का प्रचलन हुआ।

इन सब उद्धरणों और प्रमाणों से विदित होता है कि भारतीय वर्णमाला की आयु लगभग दो-ढाई हजार वर्ष विक्रमी पूर्व अवश्य है। साथ-साथ यह भी सिद्ध होता है कि भारत में लेखन कला का जन्म भी बहुत पहिले हो चुका था। सिन्धु-सभ्यता के आलेख इसके प्रमाण हैं। आज भारतीय हस्तलेखों का जो रूप उपलब्ध होता है, हस्तलेखन की परम्परा उससे कहीं अधिक प्राचीन है। सम्राट् अशोक की प्रशस्तियाँ एवं तत्सामयिक शिलालेखों तथा स्तम्भों पर किये गये उत्कीर्णों के रूप में उपलब्ध हस्तलेखों की गणना की जा सकती है, जिनकी तिथि ई० पू० तृतीय शतक है। उसके बाद क्रमशः कुषाण-कालीन धातु-लेख और गुप्तकालीन ताम्रलेख उपलब्ध होते हैं। भारत और बाहरी देशों में ताड़पत्र और भोजपत्र पर लिखी गयी ईसोत्तर प्रथम और द्वितीय शती की पोथियाँ उपलब्ध होती हैं। दक्षिण भारत के मलवार प्रान्त में आज भी ताड़पत्रीय पोथियाँ लिखने का रिवाज है। वहाँ दस्तावेज इन्हीं पत्रों पर लिखते हैं और स्टाम्प भी इन्हीं के विकते हैं।

संसार के प्राचीनतम हस्तलेख मिट्टी की टिकियों और पेपरी की छालों पर लिखे हुए उपलब्ध होते हैं। कई देशों में मिट्टी पर ग्रन्थ

खोदने का रिवाज था। मिट्टी की गीली टिकियों पर अक्षर उत्कीर्ण करके उन्हें धूप या आग में सुखा लिया जाता था। इससे उन पर उत्कीर्ण अक्षर सुख कर पक्के और स्पष्ट हो जाते थे। वैबिलोन की खुदाइयों से इस प्रकार की सहस्रों मिट्टी की ईंटें तथा टिकियाँ मिली हैं जिन पर अनेक प्रकार के लेख खुदे हुए थे। कुछ टिकियें वहाँ से ऐसी भी प्राप्त हुई हैं जिनका लेखन-काल पुरातत्त्वज्ञों ने ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व का निर्णीत किया। ये मृत्तिका-ग्रन्थ पेटियों में चुन कर रखे जाते थे। इन लेखों के आधार पर शोधकर्त्ता विद्वानों ने वैबिलोन की प्रागैतिहासिक सम्यता को खोज निकाला था।

इन मृत्तिका-ग्रंथों से भी अधिक प्राचीन 'पेपरी-पोथियाँ' उपलब्ध होती हैं। नील नदी के तटों पर पेपरी के वन्य-वृक्ष अधिकता से पाये जाते हैं। मिश्र के प्रतिभाशाली मनस्वियों ने ईसा की हजारों शताब्दियों पूर्व लेखन-कला का आरम्भ इन पेपरी-वृक्षों की छालों पर किया। ये पेपरी-पोथियाँ पत्राकार न होकर कुण्डलीनुमा होती थीं। छिली हुई पेपरी की छालों को पास-पास रख कर उनकी परतों को इस प्रकार लम्बाकार जोड़ दिया जाता था कि उनको कुण्डलीनुमा जोड़ने पर भी उनके जोड़ तथा पत्ते अलग-अलग न हो पाते थे। आवश्यकतानुसार पेपरी की छालों को जोड़ कर उनकी लम्बाई-चौड़ाई तैयार की जाती और तदुपरान्त उन्हीं पर लेखन-कार्य सम्पन्न किया जाता। आज से लगभग ५००० वर्ष पुरानी पोथियाँ पेपरी की छालों पर लिखी हुई मिली हैं। ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व की कुछ शताब्दियों में मिश्र में कुण्डलीनुमा पेपरी-पोथियाँ अधिक संख्या में उपलब्ध हुई हैं। मिश्र के तत्सामयिक सम्राट् पेरों के शासनकाल में साहित्य, हस्तकला और विज्ञानविषयक अनेक-बहुमूल्य पोथियाँ पेपरी पर लिखी हुई मिली हैं। साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला का भी उस युग में अच्छा प्रचार था

और आज तक जिनकी समानता नहीं की जा सकती, ऐसी सचित्र पेपरी-पोथियाँ भी उस युग में सर्वप्रथम निर्मित हुईं। मिश्र-वासियों में एक पुरानी परम्परा यह भी थी कि मृतात्माओं के साथ अनेक धार्मिक और साहित्यिक पोथियाँ पेपरी पर लिख कर उनके साथ कब्र में गाढ़ दी जाती थीं। इस प्रकार विदित होता है कि सारे विश्व में प्राचीनतम हस्तलेख पेपरी की छालों पर लिखे हुए कुण्डलीनुमा पोथियों के रूप में उपलब्ध होते हैं।

मिश्र में अनेक ऐसे प्राचीन ग्रंथालय थे जिनमें लाखों मूल्यवान् पोथियाँ संगृहीत थीं। इतिहासकारों का विश्वास है कि टॉलेमी के ग्रंथालय में लगभग दो लाख कुण्डलीनुमा पेपरी-पोथियाँ सुरक्षित थीं। इसी प्रकार अकेले सिकन्दरिया के विश्व-विद्यालय बृहत् पुस्तकालय में चार लाख से भी अधिक पेपरी-पोथियाँ बड़े व्यवस्थित ढङ्ग से रखी हुई थीं। सिकन्दरिया के इस ऐतिहासिक ग्रन्थालय का धर्मद्रोहियों द्वारा बार-बार अपहरण और अग्निदाह द्वारा अन्त हुआ। संसार के इस अद्वितीय पुस्तकालय को विनष्ट करने और उसके मूल्यवान् संग्रह को जला डालने का पहिला कुक्षुत्त रोम-सम्राट् सीज़र द्वारा हुआ। बाद में मिश्र की विद्यानुरागिनी सम्राज्ञी क्लियोपेट्रा ने बड़े यत्न से लगभग दो लाख पेपरी-पोथियों को एकत्र कर सिकन्दरिया के पुस्तकालय को पुनर्जीवित भी किया था; किन्तु सन् ३८९ ई० में धर्मभीह और विद्या-द्वेषी आर्कडिशप थियोक्रिलास के प्रपंच से थियोडोशियन ने उसको जलवा कर राख कर दिया और इस पुष्कर्म का सारा अश्रेय खलीफा उमर के सेनानायक तथा मिश्र के महान् विजेता अमरु के सिर में ढ़ दिया।

सिकन्दरिया का यह बृहत् ग्रंथालय यदि आज होता तो संसार भर के पुस्तकालयों में उसका प्रमुख स्थान होता और निःसन्देह विश्व-

इतिहास की रूपरेखा तैयार करने में वह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ होता। उन बहुमूल्य पेपरी-पोथियों के महान् ज्ञान से मानवता को अपूर्व राहत मिल गई होती। विश्व-विख्यात दार्शनिक अरस्तू के ग्रंथालय में अकेले ५०० ग्रंथ सुरक्षित थे।

धीरे-धीरे लेखनकार्य के लिए पेपरी की जगह वाँस का कागज और पशुओं की खालें उपयोग में लायी जाने लगीं। मिश्र में यूनानियों के राज्यकाल के समय लगभग ईसा की तीन शती पूर्व वाँस के कागज पर पोथियाँ लिखी जाने लगीं। यूनान-वासियों और रोम-वासियों ने भी मिश्र-वासियों के अनुकरण पर पेपरी और वाँस के कागज पर पोथियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं। कागज मिलों में तैयार किया जाता था और उस पर सारा नियन्त्रण यूनानी शासन का था। ई० पू० तीसरी शती से पहली शती तक की सारी पोथियाँ रोम और यूनान के ग्रंथालयों में पेपरी की छालों अथवा वाँस के कागज पर लिखी उपलब्ध हुईं।

ईसा की दूसरी शती पूर्व लेखनकार्य के लिए जब कागज और पेपरी की कमी होने लगी तब पशुओं की खालों पर पोथियाँ लिखी जाने लगीं। ये चर्म-पोथियाँ पहले-पहल मिश्र स्थित परागान नगर में लिखी गयीं। इन चर्म-पोथियों का नाम 'पार्चमेंट' था। डॉ० इब्नर ने मिश्र की कुछ पेपरी-पोथियों का अन्वेषण करते समय पता लगाया कि उनमें पार्चमेंट अर्थात् चर्म-पोथियों का भी उल्लेख किया गया है। इससे यह विदित होता है कि 'पार्चमेंट' का उपयोग भी आज से लगभग ४००० वर्ष पहले हो चुका था।

इस प्रकार मनुष्य ने आज से हजारों वर्ष पूर्व अपने साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन का आरम्भ कर दिया था। सांस्कृतिक और

साहित्यिक अभ्युदय की यह परम्परा सर्वप्रथम किस देश के निवासियों ने प्रतिष्ठित की, यह बड़ा ऊहा-पोहा का विषय है ; किन्तु अपने पूर्व-पुरुषों द्वारा वसीयत के रूप में हमें जो बहुमूल्य सम्पत्ति परम्परा से उपलब्ध हुई, वह थी महान् ज्ञान से परिपूर्ण हस्तलिखित पोथियाँ । विश्व के प्रायः सभी देशों में न्यूनाधिक ये पोथियाँ मूल्यवान् साहित्यिक सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित होती आयी हैं । आज भी हमारा यह पहिला कर्त्तव्य है कि इस राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति को विनष्ट होने से बचायें ।



प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय

भारत के प्राचीन ग्रंथागारों से अवगत होता है कि भारत में विद्या-व्यसन की परम्परा बहुत पुरानी है। भारत की यह ज्ञान-सम्पत्ति आज भी यूरोप और एशिया तक बिखरी हुई मिलती है। चीन, जापान, तिब्बत, नेपाल, ईराक, ईरान, मिश्र, तुर्किस्तान, ग्रीस के व्यक्तिगत घरों में तथा पुस्तकालयों में भारत का विद्याधन हस्तलिखित पोथियों के रूप में आज भी उपलब्ध होता है। ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व से ही ये पोथियाँ विदेशों को प्रवासित होने लग गई थीं और समय-समय पर सहस्रों की संख्या में भारत से अलग होती गईं। पोथियों को ले जाने का यह कार्य मुख्यतः बौद्ध भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ।

प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय

धार्मिक एका के माने विदेशी मिष्ट और पर्यटन भारत भाग और इन मूल्यवान् रत्नों को हरना कर साथ ले गए। मुद्रमिष्ट इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ का भी यहाँ तक कहना है कि चौथी पायी मुद्रमार्ग २० घोड़ों की पीठ पर लगभग ७०० पौधियाँ लाद कर चीन ले गया था।

इसमें विदित होगा है कि तर्हीउयुगीन भारत का सांस्कृतिक और साहित्यिक धरातल बहुत ही सुदृढ़ था। इतिहास के पृष्ठ भाग भी इस समय की पुनरावृत्ति करने हैं। मुद्रमिष्ट जरीरिया, मेसिटीन और मिश्र के प्राचीनतम राजकीय ग्रन्थगारों की भाँति भारत में भी विश्वविख्यात पृष्ठ पुस्तकालय हमलनेरी के महारत्नों संग्रहों से भरपूर थे। ग्रन्थ-लेखन और ग्रन्थ-संग्रह का कार्य भारत में इसने समय से चला आ रहा है। हिन्दू-युग के गिने भी प्राचीन विचारों, मठ-मन्दिर और राजप्रसाद थे, मनी में अपरिणिग एवं अनुपलब्ध ग्रन्थ-संग्रह विद्यमान थे। उसके बाद भी मध्य-युग के कुछ मुस्लिम बादशाह और नवाब भी ठाकुर विद्या-रत्नानी, विद्यामेरी और पत्र-रमिक रहे हैं, जिनके शही पुस्तकालयों में मूल्यवान् ग्रन्थरत्न सुरक्षित थे।

पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक के दो शतक सांस्कृतिक अभ्यु-
त्थान के स्वर्णिम शतक रहे हैं। इस समय भारत में साहित्य,
संस्कृति और कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व उत्थिति हुई। चौथी-युगीन भारत ने न केवल विश्व में धर्मनिरपेक्ष राज्यतन्त्र की प्रतिष्ठा की; अपितु उसने सम्पूर्ण एशिया में ऐसे असंख्य बौद्ध-विहारों को भी जन्म दिया जिनके कारण सुदूर देशों तक ज्ञानार्जन की भाव्य परम्परा का भी सूत्रपात हुआ। इसी समय दर्शन, धर्म, विज्ञान, काव्य और कला आदि विषयों

पर भी जम कर चिन्तन-मनन तथा ग्रन्थ-प्रणयन का अभूतपूर्व कार्य प्रारम्भ हुआ। नालंदा के जगद्विख्यात विद्यापीठ की स्थापना भी इसी समय हुई, जिसमें कि संसार के कोने-कोने से विद्योपार्जन के हेतु लोग आने लगे। कुछ ही दिनों में नालंदा का यह बौद्ध-विहार विद्याध्ययन का महान् केन्द्र बन गया। भारत के पण्डित-परिवारों और कलाप्रेमियों ने अपने अमूल्य संग्रहों को मुक्तहस्त नालंदा विहार को भेंटस्वरूप अर्पित कर दिया। इस सहयोग के कारण नालंदा का बृहद् ग्रन्थालय लाखों की संख्या में भारतीय ग्रन्थरत्नों से जगमगाने लगा और शोध-कर्ता विद्वानों के लिए उत्तरोत्तर उसकी उपयोगिता बढ़ती ही गई।

तरसामयिक हिन्दू मन्दिर भी पोथियों के गढ़ थे। पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान युग में हिन्दू मन्दिरों की स्थिति बहुत ही अच्छी थी। उस समय के देवालय एक प्रकार से शास्त्र-वर्चा के केन्द्र थे। राजा-महाराजाओं ने भी अपने-अपने यहाँ बड़े-बड़े पंडितों को आश्रय देकर नए-नए विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन करवाया।

कुछ दिनों बाद नालंदा का महाविहार जय ध्वस्त हो गया तब मगध के ओदन्तपुरीविहार और विक्रमशिला के ऐतिहासिक मठों के बृहद्ग्रन्थालयों ने भारतीय पोथियों के संग्रह-कार्य को आगे बढ़ाया। अपार ग्रन्थ-सम्पत्ति तो नालंदा-पतन के ही साथ विलीन हो गई; किन्तु जो कुछ भी बच पाई थी वह भी अधिकांश रूप में विदेशी विद्यार्थियों द्वारा भारत से निष्कासित हुई। सन् १२०२ ई० में बख्तियार खिलजी के प्रधान सेनानायक मुहम्मद ने विहार-विजय के साथ-साथ ओदन्तपुरी ग्रन्थालय को भी समूल विनष्ट कर ढाका। इस धार्मिक द्रोह के कारण भारत के कतिपय ग्रन्थालयों और बौद्ध-विहारों की ग्रन्थ-सम्पत्ति का बड़ी नष्टतापूर्वक अपहरण हुआ। यहाँ की अधिकांश पोथियाँ नेपाल

और तिब्बत को प्रवासित हुई। मुसलमानी आक्रमणों से भयभीत हो कर बौद्ध-भिष्टु नेपाल की शरण में गए और साथ ही असंख्य पोथियाँ वहाँ लेते गए। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में अनुकूल जलवायु के कारण आज भी प्राचीनतम भारतीय पोथियाँ सुरक्षित हैं।

परमार वंश के कीर्तिशाली महाराज भोज (१०१० से १०५५ ई०) का ऐतिहासिक ग्रन्थालय और उनकी भोजशाला आज भी उस वैभव-शाली जमाने की यादगार है। इस भोजशाला के ११ प्रकोष्ठ आज भी विद्यमान हैं। बाहर चहारदीवारी से घिरा हुआ विद्याल प्रांगण है। यह भोज की पाठशाला थी जहाँ कि यहाँ भग्य एवं फलापूर्ण प्रस्तर की विद्याल सरस्वती-प्रतिमा अघिष्ठित थी। यह प्रतिमा न जाने कब इंग्लैण्ड को ले जाई गई और प्रतिमा के स्थान पर मस्तिदनुमा एक चौकोर दरार बना दी गई है। भोजशाला के प्रकोष्ठों पर जो मन्त्र उक्ती-र्णित हैं उनसे विदित होता है कि वहाँ ज्योतिष पर बहुत अच्छी शिक्षा दी जाती थी।

कुछ दिन पूर्व गिरे हुए दो शिला खण्डों पर उक्तीर्णित मदन कवि (तेरहवीं शताब्दी) कृत 'पारिजात मंजरी' के दो अङ्क पाए गए। महाराजा भोज की पोथीशाला अपने युग की अद्वितीय वस्तु थी। सन् ११४० ई. में सिद्धराज जयसिंह ने मालव-विजय के साथ-साथ महाराजा भोज की पोथीशाला की मूल्यवान् ग्रन्थ-सम्पत्ति को वहाँ से उठा कर चालुक्यवंशीय राजकीय पुस्तकालय में स्थानान्तरित कर दिया। बारहवीं शताब्दी के एक शिलालेख से विदित हुआ है कि भोज के पुस्तकालय में 'नैपथीय चरित' पर लिखी हुई विद्याधर की प्रथम टीका सुरक्षित थी। यशोधर कृत 'जयमंगला' टीका उसी का आधार था। संप्रति वान-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में प्राप्त होनेवाली 'रामायण' की प्राचीनतम प्रति की उक्त पुस्तकालय से ही प्रतिलिपि ली गई थी।

मध्ययुगीन कुछ मुस्लिम-शासकों का विद्याप्रेम और उसके द्वारा अनुजीवित पोथीखानों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। दो-एक बादशाह तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने न केवल भारतीय साहित्य की रक्षा की, अपितु उसका अर्जन-वर्द्धन भी किया। पठान बादशाह फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने ज्वालामुखी भण्डार में संगृहीत लगभग ४००० पोथियों के महत्वपूर्ण पोथी-संग्रह को उठवा कर दिल्ली मँगवाया और उनमें से कुछ पोथियों का अरबी एवं फ़ारसी भाषा में अनुवाद करवाया।

शाहँशाह अकबर जैसे प्रत्युत्पन्नमति शासक का नाम मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर आलिखित है। अकबर न केवल एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था, अपितु अतिशय विद्याप्रेमी, उत्कट विद्या-सेवी और अद्वितीय कलारसिक भी था। अकबर ने अपने अन्वेषकों द्वारा देश भर से मूल्यवान् ग्रन्थों को एकत्र तो करवाया ही, साथ ही अनेक अनुभवी लेखकों, कलाकारों और विविध-भाषाविदों द्वारा स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थलेखन, चित्रकारी और अनुवाद का कार्य भी करवाया। अकबर के शाही पुस्तकालय में संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी और ग्रीक भाषा की पुस्तकें अलग-अलग वर्गों में विभाजित थीं। ऐसी भी सचित्र पुस्तकें वहाँ संगृहीत थीं जिनकी क्रीमत एक लाख से अधिक थी। अबुल फजल ने 'आईने-अकबरी' में लिखा है कि "इस विद्याप्रेमी शासक का शाही पुस्तकालय अपने ढंग का अद्वितीय और अद्भुत पुस्तकालय था।" विन्सेण्ट स्मिथ ने तो अपने इतिहास ग्रन्थ में यहाँ तक लिखा है कि "उस जमाने के शाही पुस्तकालय की समानता में संसार भर में कोई पुस्तकालय नहीं था। सभी पोथियाँ हस्तलिखित थीं।" शाहँशाह के देहान्त के समय शाही पुस्तकालय में २४०००

प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय

३१

हस्तलिखित पोथियाँ विद्यमान थीं। फैजी की मृत्यु के बाद १५३५ ई. में उसके संग्रह की ४३०० पोथियाँ इसी पुस्तकालय में रखी गई थीं।

अकबर के बाद, शाही पुस्तकालय की बड़ी दुर्घटना हुई। कुछ पोथियों को अवध के नवाब ले गए; कुछ को १८५७ के विद्रोहियों ने जला डाला; कुछ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने खरीद लिया और शेष लखनऊ में ही रह गई। नवाब रामपुर तथा खान् यहादुर खुदायकश के प्रयत्नों से कुछ पोथियाँ बच गई थीं जो कि संप्रति रामपुर-घोंकीपुर के पुस्तकालयों और कुछ लखनऊ के अजायबघर में सुरक्षित हैं। इन पोथियों पर आज भी अवध-नवाब की मुहर अंकित है।

रामपुर और घोंकीपुर के पोथी-संग्रह आज भी बड़ी सुघरी हालत में विद्यमान हैं। नवाब रामपुर ने पुनः घटे यत्न से पर्याप्त अर्थ व्यय करके हस्तलिखित पोथियों को एकत्र करवाया था। इन दोनों संग्रहों में अरबी और फारसी भाषा की अनुपलब्ध पोथियाँ सुरक्षित हैं। रामपुर-संग्रह में ४४७७ अरबी भाषा की पोथियाँ और ४२५३ फारसी भाषा की पोथियाँ संगृहीत हैं। शाहंशाह बाघर के हाथ की लिखी हुई कुछ मूल कविताएँ भी इस संग्रह में शामिल हैं। घोंकीपुर-संग्रह में लघुाधिक प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त लगभग ३०० हस्तलिखित पोथियाँ भी संगृहीत हैं। इस संग्रह में भी प्राचीनतम अनेक कवियों, कलाकारों और पण्डितों की लिखी हुई मूल प्रतियाँ विद्यमान हैं, जिसमें दाराशिकोह लिखित 'जीवनी-ग्रन्थ' बड़े महत्त्व का है। नवाब रामपुर और खान् यहादुर का नाम उनके इन महत्वपूर्ण कार्यों के कारण बहुत सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है।

प्राचीन-साहित्य-सरङ्गों में शाहंशाह औरंगजेब की पुत्री ज़ेबुन्निसा का नाम उल्लेखनीय है। इस विख्यात विदुषी के ग्रन्थालय की ख्याति

संपूर्ण मध्य एशिया में फैली हुई थी। बड़े-बड़े पण्डित, कवि, चित्रकार और अनुवादक इस पण्डिता के यहाँ रहते थे। ज़ेबुजिसा ने अपने अन्वेषकों को सम्पूर्ण एशिया में भेजा हुआ था। वहाँ से वे अमूल्य पोथियों का संग्रह कर भारत भेजते थे। भारत के प्रायः सभी ग्रन्थालयों की बहुमूल्य पोथियों की प्रतिलिपियाँ इस विद्वत्पीठ के ग्रन्थालय में संगृहीत थीं।

इसके अतिरिक्त जैनियों के उपाध्यों और काश्मीर के पण्डित परिवारों में भी मूल्यवान् पोथियों के बृहत् संग्रह विद्यमान थे। आज भी भारत के अधिकांश घरों में तथा राजकीय और स्वतन्त्र ग्रन्थालयों में भारतीय पोथियों के महत्त्वपूर्ण संग्रह विद्यमान हैं।

भारत में हस्तलिखित पोथियों की सुदीर्घ परम्परा

भारत में पोथियों को हाथ से लिखने की परम्परा का अनुवर्तन बहुत पुराने जमाने में हो चुका था । वैदिक युग का सारा ज्ञान मौखिक था । वेदों का 'श्रुति' नाम पढ़ने का एकमात्र कारण यही है कि समग्र वैदिक साहित्य लगभग पन्द्रह सौ वर्षों तक कण्ठस्थ रूप ही में निर्वाहित होता रहा । जिन विलक्षण प्रतिभा के महामनस्वियों का आज ऋषि-महर्षि के विरुद्ध से स्मरण किया जाता है, वैदिक युग की ज्ञान-परम्परा का एकाधिकार उन्हीं के हाथों में था ।

वैदिक युग की अन्तिम अवधि को 'सूत्रकाल' के नाम से स्मरण किया जाता है। सूत्र-ग्रन्थों की रचना लगभग ८००-२०० ई० पूर्व के बीच हुई। इस युग तक अध्ययन-अध्यापन की विधियों में बहुत परिवर्तन हो चुका था। 'गागर में सागर' की भाँति सूत्रग्रन्थों की ज्ञान-प्रणाली इतनी जटिल हो गयी थी कि उसे, बिना लिपिबद्ध किए, हृदयङ्गम करना दुष्कर-सा हो गया था। साथ ही, वैदिक युग के मनुष्यों की अपेक्षा इस युग के मनुष्यों की ज्ञान-ग्राहिणी प्रज्ञा में भी उतना अद्भुत शौर्य नहीं रह गया था।

वैदिक युग के मौखिक ज्ञान को सूत्रयुग के धर्मप्रवण आचार्यों ने जिस प्रकार लिपिबद्ध किया उसकी प्रामाणिक विवरणिका प्रस्तुत करना सम्प्रति कठिन ही नहीं, वरन्, असम्भव भी है; किन्तु, इतना निश्चित-सा है कि पोथियों को लिखने की परम्परा का सूत्रयुग में व्यापक रूप से प्रचलन हो चुका था।

हाथ से लिखी हुई प्राचीनतम पोथियाँ हमें भोजपत्र और ताड़पत्र की पोथियों के रूप में मिलती हैं। ताड़पत्र, ताड़-वृक्षों के पत्तों को कहते हैं। ये ताड़-वृक्ष ग्रीष्मप्रधान प्रदेशों में अधिकता से पाए जाते हैं। दक्षिण-भारत और पूर्वी-भारत में इसीलिए ताड़-वृक्षों की प्रधानता है। ताड़पत्रों पर पोथियाँ लिखने की विधि बड़ी जटिल है। इन पत्तों को कसाकर पहले धूप में सुखाया जाता है और उसके बाद लौह-लेखनी आदि से उन पत्तों पर अक्षर खोदे जाते हैं। पत्रों पर अक्षर खुद जाने के अनन्तर ऊपर से स्याही का लेप कर दिया जाता है। स्याही खुदे हुए अक्षरों में भर जाती है और इस प्रकार, इतने श्रम के बाद ताड़पत्र की पोथियों को तैयार किया जाता है।

ताड़पत्र की कुछ पोथियाँ, बिना खोदे, स्याही से भी लिखी जाती

हैं। ऐसी पोथियाँ खुदे हुए अक्षरों की पोथियों से अपेक्षाकृत प्राचीन मिलती हैं।

तादपत्र की पोथियों के बीच में, उनको लिखने से पूर्व, एक सुराख किया जाता है। उस सुराख में दोरी डालकर सभी पत्रों को एक-साथ पिरो लिया जाता है। पुस्तकों के लिए 'ग्रंथ' कहा जाना तभी से प्रचलित हुआ जब से पोथियों को इस प्रकार सूत्र में ग्रथित किया (पिरोया) जाने लगा। बाद में ग्रन्थ पुस्तक का पर्यायवाची हो गया।

तादपत्र के अतिरिक्त भोजपत्र पर भी प्राचीन पोथियाँ लिखी हुई मिलती हैं। भोजपत्र पर लिखी हुई पोथियाँ, तादपत्र पर लिखी हुई पोथियों की अपेक्षा कम मिलती हैं। भोजपत्र के कुछ शीतप्रधान प्रदेशों में पाये जाते हैं। हिमालय और काश्मीर की तराहियों में उनकी अधिकता है।

भोजपत्र और तादपत्र पर पोथियाँ लिखने का कार्य बड़ा कठिन है। उनको लिखने के लिये बड़ी सूक्ष्म-वृक्ष और सघे हुए हाथों की आवश्यकता है। इन पोथियों के लेखक विद्वान् होने के साथ-साथ निपुण कलाकर भी होते थे।

भोजपत्र और तादपत्र पर लिखी हुई बहुत-सी पोथियाँ काश्मीर में मिली हैं। ये पुस्तकें आज से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखी गयी थीं। यह समय गुप्त साम्राज्य की खराहाली और सुसचैन का समय था। गुप्त-राजाओं के समय में बड़ी अच्छी-अच्छी पोथियाँ भोजपत्रों और तादपत्रों पर लिखी गयीं। ये पोथियाँ बड़ी मूल्यवान् थीं। उनके सम्बन्ध में पुराणों में लिखे हुए हवालों से विदित होता है कि उनके अक्षर सुनहरी कलम के थे तथा बाहर की दस्तियों पर अच्छी चित्रकारी रहती थी। चारहवीं

या-तेरहवीं शताब्दी की ताड़पत्र पर लिखी हुई जो श्वेताम्बरीय जैन सम्प्रदाय की थोड़ी-सी पोथियाँ गुजरात में मिली हैं, उनकी सुनहरी लिपि और आकर्षक चित्रकारी गुप्तकालीन पोथियों जैसी ही थी।

बहुत पुराने समय में इसी प्रकार पेड़ की छालों या पत्रों पर पोथियों को लिखने का प्रचलन था। इस बात का पता और प्रमाण हमें उस अति-प्राचीन साहित्य को देखकर लगता है। आजकल हम पुस्तक का अध्याय, सर्ग या काण्ड एक खास उद्देश्य को लेकर पूरा करते हैं; किन्तु, वैदिक युग की प्रायः सभी पुस्तकों में यह बात नहीं दिखाई देती। हम देखते हैं कि वेदयुगीन ग्रंथनिर्माता जब तक पूरा विषय समाप्त ही नहीं करते, तब तक वर्ण्य मण्डल, अध्याय या सूक्त को समाप्त कर देते हैं। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में एक प्रकार के विचार एक ही जगह जमा हुए न मिलकर किसी हद तक बिखरी हुई हालत में मिलते हैं।

इसका कारण उस समय लिखने के साधनों की कमी था। पेड़ों की छालें अथवा पत्ते, आकार में जितने छोटे-बड़े होते थे, उन्हीं के हिसाब से मण्डल, सूक्त, सर्ग या अध्याय समाप्त कर लिए जाते थे।

आज ताड़पत्र और भोजपत्र की पोथियों में वैदिक युग की अपेक्षा सुविधाजनक, कुछ बड़ी हुई परिस्थितियों को पाते हैं। यह मनुष्य की विचार-बुद्धि में तब्दीलियों का परिणाम है। अपनी इसी बढ़ती हुई विचार-बुद्धि के बल पर मानव ने ताड़पत्र और भोजपत्र की जगह देशी हाथ के बने कागज का निर्माण किया।

वैसे तो पहले-पहल चीन ने आज से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व कागज का आविष्कार कर डाला था; किन्तु, वह तादाद में भारत में हस्तलिखित पोथियों की सुदीर्घ परम्परा

इतना कम था कि बहुत समय तक दूसरे देश उसके लाभ से वञ्चित ही रहे। भारत में यद्यपि देशी हाथ के बने कागज की पोथियाँ आज से दस-बारह सौ वर्ष पूर्व लिखी जाने लगी थीं; किन्तु, मंश्रति हमें जो पोथियाँ उपलब्ध होती हैं, वे प्रायः तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से पहले की नहीं मिलती।

देशी हाथ के बने कागज को माइपत्र भी कहा जाता है। आजकल हमें माइपत्र की पोथियाँ अधिकतर मिलती हैं। इन पोथियों को लिखने के लिए जिस स्याही को काम में लाया जाता था, उसकी भी अपनी भलग सूची थी। उस प्रकार की टिकाऊ और चमकीली स्याही आज देखने को नहीं मिलती। यह स्याही पेड़ों के पत्तों के रस या दूसरी जड़ी-बूटियों को कूटकर तैयार की जाती थी। इस स्याही से लिखी हुई पोथियों की अपनी खामियत यह है कि उनको पानी में डाल देने पर भी उनकी स्याही धुलती या पिघलती नहीं है।

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद भारतीय चित्रकारों ने एक नई शैली को जन्म दिया, जिसको पश्चिम-भारतीय शैली और अंग्रेजी में जैन स्कूल कहा जाता है। इस चित्रशैली में भी पोथियाँ लिखी गईं।

भारत में सचित्र पोथियों को लिखने का प्रचलन मुगल-सल्तनत की प्रतिष्ठा के बाद अधिक हुआ। भारत में भी तुर्कों और पठानों की अरबी-फारसी पुस्तकों के अनुकरण पर अक्षर तराशी जाने लगे। मुगल सल्तनत के पिता शाहशाह बाबर ने कला के क्षेत्र में जो उत्सुकता जाहिर की थी, वह मुगलों में अंत तक धनी रही।

मुगल शाहशाहों में सुन्दर-सुन्दर पोथियों को लिखाने का अद्भुत शौक था। मुगलकाल के लिखे हुए 'महाभारत' के अनुवाद 'रजमनामा' की हजारों सचित्र पोथियाँ मिली हैं। शाहजहाँ को तो एक शौक ही

चर्चाया था कि अच्छी-अच्छी कलापूर्ण पोथियों की पोस्तीन पर वह अपने दस्तखत कर दिया करता था ।

मुगलकाल की लिखी हुई रुपहली, सुनहली, काली स्याही की कलापूर्ण बहुमूल्य पोथियों को देखकर तत्कालीन कलाकरों के प्रति बरबस संमान-भरे उद्गार प्रकट किए बिना नहीं रहा जाता । कुछ दिन पूर्व कुरान की एक ऐसी ही पोथी को राष्ट्रीय संग्रहालय ने दस हजार रुपयों की लागत से क्रय किया । इस पोथी की पोस्तीन पर शाहजहाँ ने अपना नाम और सन् आदि लिखे हैं ।

मुगलकाल के बाद भी भारत में पोथियाँ लिखी जाती रहीं; किंतु, अंग्रेजों का आधिपत्य हो जाने के बाद भारत में ज्ञानार्जन की यह सुन्दर परम्परा उखड़ती गई, और भारत का सारा अर्जित ज्ञान यहाँ से प्रवासित होता गया ।

यद्यपि बौद्ध-धर्म के आविर्भाव के समय से लेकर अंग्रेजों के आधिपत्य तक भारत से पोथियाँ निरंतर विदेशों को जाती रहीं; किंतु, सहस्रों वर्षों की लम्बी परम्परा में अद्भुत रूप से लिखी गई असंख्य पोथियों के फलस्वरूप आज भी हिमालय के लेकर कन्याकुमारी तक, अनेक घरों में पोथियों के बृहद् भंडार भरे हुए हैं ।



भारतीय पोथियों का प्रवास

भारत ज्ञानियों, पंडितों, कवियों और कलाकारों का देश रहा है। शास्त्र-चिंतन और साहित्य-निर्माण उसके दो सनातन व्यवसाय रहे हैं। तपःपूत भारतीय महर्षियों ने अपने जीवन के क्षण-क्षण विद्याध्ययन और विद्या-वितरण जैसे महान् कार्यों को सम्पन्न करने में व्यतीत किए। अपने पूर्वपुरुषों से उत्तराधिकार के रूप में हमें जो सम्पत्ति उपलब्ध हुई वह थी हमारी साहित्य-सम्पत्ति। परम्परा से प्राप्त भारत का यह साहित्य-धन आज भी भारतीय एवं विदेशीय ग्रन्थालयों में हस्तलिखित पोथियों के रूप में सुरक्षित है। भारत के इस अतुल्य विद्या-धन का उपयोग सारा संसार शताब्दियों से करता आ रहा है। भारत की यह ज्ञान-सम्पत्ति किस प्रकार विदेशों को प्रवासित हुई, इसका भी एक रोचक इतिहास है।

अपने इस बृहद्-वाङ्मय के प्रति भारतीय विद्वान् तब जागरूक हुए, जब अमूल्य एवं अप्राप्य हस्तलिखित पोथियों के बृहत्संग्रह विदेशों को प्रवासित हो चुके थे। राजनीतिक उथल-पुथलों के कारण भारत को जो अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी वह थी उसके प्राचीन साहित्य का अपहरण। समय-समय पर आतताइयों द्वारा जिन असंख्य भारतीय पोथियों की होली जलाई गई उसकी तो गणना ही नहीं की जा सकती; किंतु भारतीय ज्ञान के जो बृहद्-भंडार आज भी विदेशों में दिखाई दे रहे हैं उनके संबंध में तो प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो यहाँ के प्रतिकूल जल-वायु ने प्राचीन पोथियों को असमय ही ग्रस लिया, दूसरे जो कुछ बच पाई थीं उनसे विदेश ही लाभान्वित हुए। अनुकूल जल-वायु के कारण जो भारतीय पोथियाँ चीन, तिब्बत और नेपाल प्रभृति देशों में जीवित रह सकी हैं, प्राचीनता की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस्लाम की विनाशक आँधी ने, जो एक दिन अरब के मरुस्थल से उठी थी, भारत के जिन विशाल ग्रन्थालयों को विनष्ट किया वह इतिहास की एक अमिट घटना है। साथ ही इस तथ्य को भी नहीं मुलाया जा सकता कि विदेशी शासकों ने भारत की इस साहित्य-सम्पत्ति का जिस क्रूरता और स्वार्थपरता से अपहरण किया उसका अभाव भी सदा बना रहेगा।

मध्य एशिया

विशेषतः तिब्बत, नेपाल और यहाँ तक कि चीन, जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड तक भारत से हस्तलिखित पोथियाँ पहुँचीं। पुरातत्त्व के खोजियों ने मठ-मन्दिरों, गिरे हुए घरों, पुराने टीलों और बालू के नीचे से अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियों को खोज निकाला। इन पोथियों में ताद-पत्रीय पोथियाँ थीं। असीरिया, बेबिलोन और मिस्र के ऐतिहासिक

पुस्तकालयों की भाँति प्राचीन भारत में भी पुस्तकालयों की कमी न थी। तक्षशिला, नालंदा, नदिया, मिथिला तथा राजा भोज के पुस्तकालय के अतिरिक्त मध्यकालीन भारतीय पुस्तकालयों में शाहँशाह अकबर का राजकीय पोथीखाना और भरघी-फारसी भाषाओं की विख्यात विदुषी औरंगजेब की पुत्री जेयुन्निसा का सुप्रसिद्ध पुस्तकालय भारतीय इतिहास की स्मृति मात्र रह गए हैं। असंख्य बौद्ध-विहारों और जैन उपाश्रयों के पोथी-संग्रह भी कथावशेष रह गए हैं।

चीन, जापान, तिब्बत, ब्रिटेन आदि देशों में जो असंख्य एवं मूल्यवान् भारतीय पोथियाँ प्रवासित हुईं उनकी तथ्य-विवरणिका प्रस्तुत करना कठिन ही नहीं असंभव भी है, किन्तु उसकी रूप-रेखा मात्र से ही विदित हो सकता है कि राष्ट्र की यह दुर्लभ संपत्ति समय-समय पर किस प्रकार हमसे दूर होती गई।

चीन में

ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर विदित होता है कि चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचारकाय ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व से ही आरंभ हो गया था। हान्-वंश के सम्राट् मिंग अथवा मिंगी ने सन् ६४ ई० में अपने कुछ पण्डितों को बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी साहित्य की खोज और ज्ञान-प्राप्ति के लिए भारत भेजा। किन्तु खोजतान में उन पण्डितों की भेट चीन जानेवाले कुछ भारतीय बौद्ध-भिक्षुओं से हो गई और वे सब चीन को लौट गए। इन भारतीय बौद्ध-भिक्षुओं के नाम थे—काश्यप मातङ्क (किया-पहमोत्तांग) और धर्मरत्न या गोघर्धन (घु-फा-लन्)। ये प्रथम भारतीय भिक्षुद्वय जब चीन में प्रविष्ट हुए तो सम्राट् ने उनका आदर-संस्कार किया और उनके निवास-स्थान के लिए लोयांग में श्वेताश्व (पाह्-मा-स्म) नामक विहार का निर्माण कराया। कुछ दिनों बाद

लोयांग का वह बौद्ध-विहार बौद्ध-संस्कृति का सुप्रसिद्ध केन्द्र बन गया। सम्राट् मिंग का शासनकाल सन् ५८-७५ ई० है। वे भिक्षुद्वय अनेक बौद्धधर्मविषयक पोथियाँ साथ ले गए और वहाँ जाकर उन्होंने उनका अनुवाद किया। काश्यप मातंग ने चीनी भाषा में पहले-पहल जिस पोथी को अनूदित किया उसकी एक प्रतिलिपि आज भी शान्तिनिकेतन के संग्रहालय में विद्यमान है।

उत्तरी तातार के यई-वंश की राज-महिषी हुआ ने ५१८ ई० में सुंग-युन् और हुआ-संग नामक पण्डितों को ग्रन्थ-संग्रह के लिए उज्जयिनी और गांधार भेजा। इन पण्डितों ने कुछ दिन भारत में रहकर ज्ञानार्जन किया और स्वदेश लौटते समय १७० महत्त्वपूर्ण पोथियाँ साथ लेते गए। चीन के दूसरे सम्राट् हुआ ने ५३९ ई० में पोथियों के अन्वेषणार्थ मगध में अपने पण्डितों को भेजा। मगध के तत्कालीन राजा जीवगुप्त ने उन चीनी पण्डितों का समादर ही नहीं किया, अपितु अपने राज्य में बौद्ध-पोथियों का संग्रह कर अपने पण्डित परमार्थ के साथ उन्हें चीन वापस भेजा। इसी प्रकार हुआ के राजा चि ने ५७५ ई० में ग्यारह विविध भाषा-विद् विद्वानों को भारत भेजा। वे विद्वान् लगभग ठाई सौ पोथियाँ चीन ले ही जा रहे थे कि उन्हें रास्ते में विदित हुआ कि चेऊ-वंश तथा हुआ-वंश के राजा बौद्धधर्म-द्रोही बन गए हैं। फलतः वे तुर्किस्तान में ही रुक गए और जिनगुप्त प्रभृति भारतीय बौद्ध-भिक्षुओं के सहयोग से उन्होंने उन भारतीय पोथियों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। सम्राट् ताई-चि ने भी १५० भिक्षुओं को भारत भेजा और वे असंख्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ साथ ले गए।

इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध परिव्राजकत्रय फा-हियान्, हुआन्-सांग और ईत्-सिंग कई वर्षों की भारतीय यात्रा के बाद सहस्रों पोथियाँ और महत्त्वपूर्ण आलेख चीन ले गये। फा-हियान् पहिला चीनी यात्री था जिसने भारतीय पोथियों का प्रवास

भारतीय इतिहास पर काफी शोध किया। यह बौद्धभिन्नु काशगर-स्रोतान होता हुआ पहले पहल काश्मीर में प्रविष्ट हुआ और सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा मगध आदि प्रदेशों का भ्रमण कर ताम्रलिप्ति से सुमद्रपथ द्वारा सिंहल होता हुआ १५ वर्ष बाद लौट कर चीन गया। भारत के अतिरिक्त श्री लंका से भी यह यात्री अनेक पोथियाँ साथ ले गया था। इसी यात्री के साथ चे-येन और पाओ-युन् नामक दो भिन्नु और आये थे, जिन्होंने काश्मीर में रुक कर संस्कृत पोथियों का अनुवाद कर चीन भेजा।

दूसरे चीनी यात्री हुयेन्-त्सांग के विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासकार विसेंट स्मिथ लिखता है कि 'यह यात्री मार्ग की अनेक कठिनाइयों को पार करता हुआ साथ में बुद्ध भगवान् की मूर्त्यवान् स्वर्ण-रजत-प्रतिमाएँ और २० घोड़ों पर ६५७ बृहत्काय भारतीय पोथियाँ भी लेता गया। अपने जीवन का शेष भाग उसने उन पोथियों का चीनी-भाषान्तर करने में बिताया। ६६१ ई० तक उसने ६४ ग्रन्थों का अनुवाद कर डाला था।' यह ग्रंथ-संग्रह ५२० जिल्दों में विभाजित था जिसको सिगान्-फु के हुँग-फु विहार में रखा गया। १७ वर्ष बाद वह लौटकर गया।

ईसिग तीसरा स्रोती या जो जावा, सुमात्रा, मलय, नीकोवर होकर ताम्रलिप्ति के मार्ग से भारत आया। श्रीविजय (सुमात्रा) में उसने संस्कृत का अध्ययन किया और नालंदा, राजगिरि, बुद्धगया, वैशाली, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती तथा वाराणसी प्रभृति भारतीय विद्या-केंद्रों तथा ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण कर लगभग ४०० बौद्ध-पोथियों को वह जाते समय साथ लेता गया। कुछ पोथियों का अनुवाद उसने सुमात्रा में बैठ कर किया। ६८९ ई० में वह स्वदेश लौटा।

और भी कई चीनी बौद्ध भारत आये। शिह-चे-मंग और फा-यंग नामक भिक्षुद्वय भी अनेक ग्रन्थ चीन ले गए। शिह-चे-मंग को कुसुमपुर (पटना) निवासी रेवत नामक ब्राह्मण से अनेक सुन्दर और व्यवस्थित पोथियाँ प्राप्त हुई थीं। फा-यंग २५ भिक्षुओं को भी साथ लाया था। वे यहाँ से जिस महत्त्वपूर्ण पोथी को चीन ले गए उसका नाम था—‘अवलोकितेश्वर-महास्थानप्राप्त-व्याकरणसूत्र’। चीन को जितनी भी पोथियाँ प्रवासित हुईं उनमें अधिकांश संस्कृत-भाषा की थीं।

नन्दी अथवा पुण्योपाय नामक एक भारतीय बौद्ध भिक्षु सिंहल से महायान और स्थविरवाद के लगभग १५०० ग्रन्थ लाद कर चीन ले गया, जिनमें कई पोथियों का चीनी भाषा में सफल अनुवाद हुआ।

आज भी चीन में राष्ट्र-निर्माण के साथ-साथ साहित्य-निर्माण की आधुनिकतम वैज्ञानिक योजनाओं को बड़े चाव से प्रोत्साहन दिया जा रहा है। संप्रति चीन में छः बृहत् पुस्तकालय हैं—राष्ट्रीय पीपिंग-पुस्तकालय, नान्किंग-पुस्तकालय, चुंग्किंग-पुस्तकालय, लान्-चौ-पुस्तकालय, यन्-यांग-पुस्तकालय और वू-छांग-पुस्तकालय। राष्ट्रीय पीपिंग-पुस्तकालय चीन का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। इसकी गणना विश्व के बृहत्तम पुस्तकालयों में की जाती है। इस पुस्तकालय की स्थापना का श्रेय मिंग (१३६८-१६४४ ई०) और क्षिंग (१६४४-१९११ ई०) वंशीय राजाओं को है। इसमें संप्रति देशी-विदेशी भाषाओं की लगभग २५ लाख पुस्तकें विद्यमान हैं, जिनमें बौद्ध सूत्रों के अकेले ४,३०० भाग हैं, जो सुंग-वंशीय युग (११४९-११७३ ई०) में लकड़ी के प्लार्कों द्वारा छापे गए थे।

भारतीय पोथियों का प्रवास

जापान में

चीन से बौद्धधर्म का प्रचार जिन-जिन देशों में हुआ, जापान का उनमें प्रमुख स्थान है। जापान में छठी शताब्दी के आस-पास बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ। बौद्धधर्म को अधिक स्थायी और व्यापक बनाने के हेतु अनेक बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा बहुत सी संस्कृत-पोथियाँ चीन से जापान ले जाई गईं। बौद्ध-धर्म की इन पोथियों ने और बौद्ध-धर्म के प्रचारकों ने बौद्ध-धर्म के प्रति जापान में एक उत्कंठा जागरित कर दी। फलतः वहाँ की एक शिशु (सुखावती) नामक बौद्ध-संस्था ने अपने दो सुयोग्य विद्वानों, बुनियोनाजिओ और कासावारा, को १८७९ ई० में संस्कृत भाषा के अध्ययनार्थ आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में भेजा। कासावारा की कुछ समय बाद ही मृत्यु हो गई। तीसरे जापानी पंडित ताकाकुसू भी आक्सफर्ड से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर जापान वापस गए। उक्त पंडितद्वय ने जापान में संस्कृत-भाषा का अच्छा प्रचार करने के साथ बाहर से जाई हुई बौद्ध पोथियों का बड़े मनोयोग से अध्ययन तथा अनुवाद किया।

जिस-समय मैक्समूलर आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक थे उस समय उन्होंने नांजिओ और ताकाकुसू द्वारा जापान से एक 'सुखावती स्यूह' नामक संस्कृत पोथी को अवलोकनार्थ मँगाया। वह पोथी चीनी-भाषा में अनूदित थी और उसका उच्चारण जापानी लिपि में उल्लिखित था। तदुपरांत भी महापंडित मैक्समूलर द्वारा अनेक महत्वपूर्ण हस्तलिखित और प्रकाशित संस्कृत-ग्रंथ जापान से आक्सफर्ड मँगाए गए, उनकी प्रतिलिपियाँ कराई गईं और आज भी वे ग्रंथ और उनकी प्रतिलिपियाँ आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के बोडलियन ग्रंथालय में सुरक्षित हैं। उनमें प्राकृत और संस्कृत में लिखी हुई कुछ

तादृशपोथियाँ तो बड़े ही महत्त्व की हैं। सिंहली और बर्मा लिपियों में लिखी हुई कुछ पालि-पोथियाँ भी जापान से प्राप्त हुई हैं।

कारयप, धर्मरत्न, धर्मपाल, बोधिरुचि, बोधिधर्म, कुमारजीव, परमार्थ, प्रज्ञतर प्रभृति भारतीय बौद्धपर्यटक बौद्धधर्म के प्रचारार्थ न केवल दुर्गम पर्वत-पथों को पारकर जापान आदि देशों में असंख्य भारतीय पोथियाँ साथ ले गए; अपितु उन्होंने उन देशों की भाषाओं में भी अद्भुत कृतियों की रचना कर अपने प्रखर पांडित्य और साथ ही भारत के नाम को भी गौरवान्वित किया।

तिब्बत में

किंवदंती है कि तिब्बत के नरेश अंबु के राजप्रासाद में दैवयोगात् ऊपर से एक ऐसी पेटी गिरी जिसमें 'करण्ड-व्यूहसूत्र' की एक हस्त-लिखित पोथी, 'ओं मणि पद्मे हुं' एक लिखित मंत्र तथा स्वर्ण-चैत्य एवं चिंतामणि की एक मूर्ति विद्यमान थी। यह किंवदंती उत्तनी प्रामाणिक न भी हो; किंतु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्य देशों की भाँति तिब्बत में भी भारतीय पोथियाँ बहुत बड़ी संख्या में प्रवासित हुईं। अनेक बौद्ध-पर्यटकों और धर्म-प्रचारकों के साथ ऐसी असंख्य मूल्यवान् पोथियाँ भारत से तिब्बत को गईं, जो संप्रति भारत और संसार में कहीं भी अनुपलब्ध हैं। काल-कवलित हो जाने के उपरांत आज भी तादृश, भोजयत्र और मांडपत्र पर लिखी हुई पाँचवीं से दशवीं शताब्दी तक की सहस्रों पोथियाँ तिब्बत में पाई जाती हैं।

सन् ६१६ ई० में थौमी-संभोत नामक विद्वान् ने भारत में आकर ब्राह्मी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया और वह 'व्याकरणमूल-त्रिशद-नाम' तथा 'व्याकरण-लिंगावतार' नामक व्याकरण-ग्रंथों को अनेक अनूदित ग्रंथों सहित तिब्बत ले गया; जिनका परिचय समय-समय पर मिलता

भारतीय पोथियों का प्रवास

४७

रहा। १०१३ ई० में अपनी तिर्यकमंडली के साथ सुप्रसिद्ध अनुवादक धर्मपाल और १०४२ ई० में अविद्या नामक भारतीय पंडित तिर्यक गए और वहाँ उन्होंने तंत्र-ग्रंथों का एकल अनुवाद किया।

अनेक विद्याप्रेमी और बौद्ध-धर्मानुयायी नरेशों ने भारतोप विद्याओं को तिर्यक आनंदप्रिय किया। ऐसे नरेशों में दिग्गज-मोन्गमान का नाम उल्लेख्य है। इन विद्यानुरागी नरेशों ने संस्कृत पोथियों के अध्ययनायें योशान और भारत में पंडितों को सुनाया। इन्हीं के राजपक्ष में चीन में प्राप्त 'सुवर्ण-प्रमान-सुत्र' और 'वर्जनागर' का तिर्यकी भाषा में अनुवाद हुआ। अनुवादक विद्वानों में धर्मपाल, दक्षयर्ज और विनमित्र प्रभृति भारतीय भिक्षुओं के नाम उल्लेख्य हैं। इसी समय सुप्रसिद्ध पंडित अग-सोम ने तिर्यकी भाषा में आपुर्वेद, उपोनिष और तंत्रविषयक संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद किया।

नालंदा विश्वविद्यालय के अनुकरण पर लामा में समूचे नामक महाविद्वान की स्थापना हुई। उल्लेख्य की स्मृति की गई थी कि सरल-पूर्वक भारतीय पोथियाँ वहाँ पढ़ायी जा सकें और भारतीय पंडितों के सहयोग से उनके तिर्यकी भाषा में अनुवाद किए जा सकें। 'महा-सुवर्ण' नामक संस्कृत-तिर्यकी महाकोश के अनुवादक पद्मसंभव और कमलशील नामक विद्वान् सन् १८०४ ई० में भारत आए और अनेक महत्वपूर्ण पोथियाँ तिर्यक ले गए। नागार्जुन, चंद्रकीर्ति, अक्षयेश, पररुचि, रविगुप्त और पाणिदास प्रभृति आचार्यों-महाकवियों की कृतियाँ तिर्यक पहुँची, जो एक दिन सफल तिर्यकी-अनुवाद के रूप में वहाँ प्रचारित हुईं। 'रामायण' और 'महाभारत' की अनूदित पोथियाँ से वहाँ की जन-प्रकृति आत्यधिक प्रभावित हुई और जहाँतक येन सके भारत से हस्तलिखित पोथियाँ तिर्यक को प्रेषित होती गईं।

हाल ही में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी तिर्यक-यात्रा

के समय धर्म, दर्शन, व्याकरण और काव्य-विषयक अनेक भारतीय पोथियों को खोज निकाला। उन पोथियों में तेरहवीं शताब्दी की लिखी हुई भगवद्भक्तकृत 'माघ-काव्य' की टीका 'तत्त्वकौमुदी' के अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन-विषयक आचार्य बुद्ध श्रीज्ञान (आठवीं शताब्दी) कृत 'अभिसमयालंकार' की टीका 'प्रज्ञाप्रदीपावली' और 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

कुन्-दे-लिंग महाविहार में रखी हुई कुछ ताइपत्रीय पोथियों का भी राहुल जी ने पता लगाया। वहाँ उन्हें नैयायिक धर्मकीर्ति कृत 'वादान्य' पर नालंदा के आचार्य शांतरक्षित द्वारा लिखी हुई एक महत्वपूर्ण टीका उपलब्ध हुई। उस टीका-ग्रंथ का विस्तार लगभग २००० श्लोकों का था और लिपिकाल १० वीं शताब्दी। आचार्य धर्मकीर्ति का यह ग्रंथ आज केवल भोटिया-भाषा में लिखा हुआ मिलता है। इसका मूलरूप संस्कृत में था। उक्त विहार में ही प्राप्त अन्य दो पोथियाँ—'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' के विषय में राहुल जी का कहना है कि 'प्रज्ञापारमिता महाराजा महीपालदेव गौडेश्वर (९७४-१०२६ ई०) के समय लिखी गई थी। इन दोनों पुस्तकों की काष्ठ-पट्टिकाओं पर सुंदर बहुरंगे चित्र बने हुए हैं।..... फुटकर पत्रों में तीन पत्र ऐसे भी मिले हैं जिनमें सिद्ध गोरखनाथ के पद हैं।'

आज भी तिब्बत के कान-जुर और तान-जुर नामक बौद्ध-संग्रहों से विदित होता है कि भारत से कितनी अधिक पोथियाँ तिब्बत को प्रवासित हुईं।

ब्रिटेन में

भारत की जो अपरिमित साहित्य-संपत्ति ब्रिटेन को प्रवासित हुई भारतीय पोथियों का प्रवास

सबसे आत भी यहाँ के ग्रंथालय और संग्रहालय सुशोभित हो रहे हैं।
 छंदन-स्थित इंडिया आफिस, प्रिटिश म्यूजियम, एनियाटिक सोसाइटी
 और कामनवेल्थ जैसे विज्ञान संग्रहालय भारतीय ज्ञान में उपोत्तित हो
 रहे हैं। अवेले कामनवेल्थ के ग्रंथालय में ४००० से अधिक अमूल्य
 भारतीय पोथियाँ संगृहीत हैं, जिनका भाषा हिंदी, संस्कृत, पाणि,
 भारवी, फारसी तथा तिब्बती हैं और जो दर्शन, धर्म, संगीत, काव्य,
 नाटक, गणित आदि विषयों में वर्गीकृत हैं। यहाँ की लगभग १५०
 हिंदी की पोथियाँ ३०० वर्ष प्राचीन हैं। हिंदी की पोथियों में पृथ्वीराज
 रासो, हम्मीर रासो, कबीरचरितनाम, पद्मावत, रामचरितमानस,
 कविप्रिया, रामचंद्रिका और बिहारी सतसहस्र की अनेक प्राचीन प्रतियाँ
 सुरक्षित हैं।

कामनवेल्थ-मुक्तकाल्य में हस्तलिखित पोथियों को रखने की बहुत
 सुंदर व्यवस्था है। यहाँ का संग्रह भी अद्वितीय है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक
 दाराशिकोह ने जिन भारतीय उपनिषदों का मन् १६२४ ई० में अपने
 राज पंडितों के सहयोग से संस्कृत से फारसी में अनुवाद किया उस
 अनुवाद का हिंदी-रूपंतर कामनवेल्थ-मुक्तकाल्य में विद्यमान है।
 इसका हिंदी-अनुवाद प्रह्लाद पंडित ने १७१८ वि० में किया था।

इसी प्रकार प्रिटिश म्यूजियम में भी अनेक नयनाभिराम अनुपलब्ध
 पोथियाँ संगृहीत हैं। संस्कृत आदि भाषाओं की पोथियों के अतिरिक्त
 यहाँ ६० हिंदी की पोथियाँ सुरक्षित हैं, जिनमें ब्रह्मभाचार्य का जीवन-
 चरित, लीलावती, वैद्यमनोरसय, कोक-भंजरी, कोकसार-विधि, संगीत-
 दर्पण और संगीत-रत्नाकर आदि ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं।

इंडिया आफिस लाइब्रेरी के प्रकाशित कैटलॉग को देखकर अनुमान
 किया जा सकता है कि भारतीय पोथियों का कितना महत्वपूर्ण संग्रह

वहाँ विद्यमान है। इंडिया आफिस में पोथियों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण पुरातत्व-संबंधी ऐतिहासिक आलेख भी सुरक्षित हैं। इस मूल्यवान् सामग्री को लौटाकर भारत लाने के लिए भारत सरकार का पहिला प्रयास असफल ही रहा। इंडिया आफिस की हिंदी-पोथियों में रामायण, योगवाशिष्ठ भाषा, रामविनोदवचनिका, उपनिषद्-नृसिंहतापनी, छांदोग्य उपनिषद्, २३ उपनिषद्-संग्रह, अध्यात्मरामायण, कवीरवचनावली और हरिदास के पदों का अद्वितीय संग्रह विद्यमान है। इसी प्रकार एशियाटिक सोसायटी में रखी हुई हिंदी-पोथियों में राठौर-वंशावली, शाहीनामा, सोमवंश की वंशावली, राजतरंगिणी तथा भागवत पुराण जैसी दुष्प्राप्य पोथियाँ संगृहीत हैं।

चीन, जापान, तिब्बत और ग्रीस के अतिरिक्त अन्य देशों में भी भारतीय-पोथियाँ प्रवासित हुईं। अरब, फारस और तुर्किस्तान में भी पर्याप्त पोथियाँ पहुँचीं। अन्य देशों की भाँति यहाँ भी यह कार्य बौद्ध-मिष्टुओं द्वारा आरंभ हुआ। धार्मिक एकता के नाते बाहरी देशों से अनेक मिष्टु तथा पर्यटक भारत आए और ज्ञान-अर्जन के साथ-साथ पोथियों को भी अर्जित कर वे साथ लेते गए। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में लिखित अनेक पोथियाँ मध्य एशिया में प्राप्त हुई हैं। 'धम्मपद' की जिस ताड़पत्रीय पोथी को फ्रांसीसियों ने खोज निकाला था वह कुषाण-कालीन थी और उसका समय द्वितीय शतक था। इसी प्रकार तुर्किस्तान और खोतान में भी खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा में लिखी हुई अनेक पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं।

मिस्र, यूनान और ईराक के व्यापारियों ने जब भारत की हस्त-लिखित पोथियाँ अपने देशवासियों को दिखाई तो उन्हें रत्नगर्भा भारत-भूमि की इस साहित्य-संपत्ति को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। श्याम, कंबोडिया और मलय आदि द्वीपों में भी भारतीय पोथियाँ पहुँचीं।

चीनी-यात्री ईग्लिंग के यात्रा-विवरणों से विदित होता है कि कोरिया के दक्ष-पक्ष, गुण-ताइ (सर्वज्ञदेव) गुण-मुन ; बौद्धधर्म (पौ-तो-नामो) संप्रवर्मा (सैग-किआ-पो-ओ) प्रभृति भिक्षुओं द्वारा भी भारतीय पोथियाँ कोरिया को गईं ।

तिब्बत और मंगोलिया से दा० रागुंगर को दस-सदस्य धार्मिक पोथियाँ प्राप्त हुई हैं । ग्यारहवीं शती में प्रिग्रित चीनीप्रिविटक भी उक्त सामग्री में सम्मिलित है । ८८ भागों का एक दूसरा संग्रह है, जिसमें तांग्रिक संग्रहों से भरे दस-सदस्य ग्रंथ हैं । ८० में भी अधिक ऐतिहासिक पुरालेखों के अक्षरेप, लगभग १०० मंगोलिया के भिक्षुविर तथा पाथर, लोहे और काठ की यनी मूर्तियाँ इस संग्रह में विशेष रूप से उल्लेख्य हैं ।

इस प्रकार आमूल अनुशीलन करने के पश्चात् विदित होता है कि ईस्वी पूर्व की कुछ शताब्दियों से लेकर आज तक भारत की यह अद्वितीय राष्ट्रीय संपत्ति कितने बड़े परिमाण में विदेशों को प्रवासित होती गई और उसके अभाव में हमारा साहित्यिक और सांस्कृतिक अभ्युदयान किस प्रकार गतिरुद्ध होता गया ।

आज भी ऐसे मुख्यवान् प्रंपरनों से भारत के सदस्यों घर भरपूर हैं । आज भी हमारे मठ-मंदिरों, ग्रंथागारों और राजा-महाराजाओं के सरस्वती-भंडारों में अपरिमित पोथियाँ सुरक्षित हैं । पचासों संस्थाएं और हजारों व्यक्ति इस क्षेत्र में कार्य करने की कामना करते हुए भी अर्थभाव और अन्य अनेक कठिनाइयों के कारण आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं । यह एक गंभीर विचार का विषय है कि अपने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए राष्ट्रीय सरकार और देश के विद्वानों का ध्यान इस दिशा में आकर्षित हो ।



इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय

भारत के प्रोज्ज्वल सांस्कृतिक अतीत की जीवित साक्षी उसकी विपुल ग्रन्थ-सम्पदा संसार के अनेक भागों में आज भी बिखरी पड़ी है। उसका यह अतुल ज्ञान-धन गत सहस्रों वर्षों से विदेशों को जाता रहा है। अमेरिका, जर्मनी और मध्य एशियाई देशों को भारत की प्राचीन पोथियाँ गयीं ही, सबसे अधिक संख्या में वे चीन, जापान, तिब्बत और ब्रिटेन को गयीं।

लन्दन स्थित ब्रिटिश म्युजियम, एशियाटिक सोसाइटी, कॉमनवेल्थ ग्रन्थालय और इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय भारत के ज्ञानग्रन्थों से आज भी ज्योतिषित हैं और अँगरेजों के विद्या-भ्यसन के ज्वलन्त प्रमाण

हैं। हिन्दू, अरबी, सीरिया, चीनी, मंगोल, पाणि और हिन्दी भाषा की लगभग ६०,००० हस्तलिखित पोथियाँ म्युजियम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण भागों विभाग 'नॉर्थ लाइब्रेरी' में सुरक्षित हैं। रॉयल एथिओपिया सोसाइटी के शोध-संस्थान में महत्वपूर्ण मंगोल और हिन्दी की पोथियाँ संगृहीत हैं। अकेले फॉर्मनवेल्थ ग्रन्थालय में ४००० से अधिक मूद्रणयन्त्र भारतीय पोथियाँ रखी हैं। इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय लन्दन बीका ज्ञान-केन्द्र है जो भारत की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री में भरपूर है।

भारत में प्रवेश करने के बाद लगभग दस प्रिटिग सामग्री ने एक ऐसे बृहत् ज्ञान-केन्द्र ग्रन्थालय की आवश्यकता का अनुभव किया जहाँ भारत की इस अतुल्य शोधकार्योपयोगी साहित्यिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सामग्री को एकत्र किया जाय। यह सूत्र पहिले-बहल सुप्रसिद्ध ऐतिहासज्ञ रॉबर्ट ओरम के सस्तिष्क में जगी थी जो उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ऐतिहास लिख रहे थे। किन्तु इस कार्य को सम्पन्न करने में यह विफल रहे। बाद की धीरे-धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के 'समस्तदार' डाइरेक्टरों ने यहाँ की धनराशि के साथ-साथ इस अनमोल सम्पदा को भी हस्तगत करने का मुख्य समझा और उस ओर ध्यान दिया। सन् १७९९ में विजित दीप् सुक्तान के बृहत् पोथोग्राने से प्राप्त २००० मूद्रणयन्त्र हस्तलिखित ग्रन्थरत्नों ने इन कार्यकर्ताओं के ठगमाह को द्विगुणित कर दिया और फलस्वरूप उन्हीं ग्रन्थों के शुभारम्भ में इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय का बीजारोपण हुआ।

फिर तो इंगलैण्ड से विविध विद्वानों को आमन्त्रित किया गया और उनके परामर्श से कम्पनी के वर्णधारों ने भारतीय राज्य-सरकारों के नाम परिपत्र भेजकर वहाँ की साहित्यिक, सांस्कृतिक और पुरातात्विक विषयक सामग्री एकत्र कर लन्दन भेजना आरम्भ किया। वहाँ इस

सारे साहित्य को लेकर इण्डिया हाउस, लेडनहॉल स्ट्रीट में १८ फरवरी १८०१ को 'पब्लिक रिपोजिटरी' नाम से एक भव्य पुस्तकालय की स्थापना की गई और उसे प्राच्य विद्या-विद्यारद सर चार्ल्स विल्किन्स की अध्यक्षता में संचालित किया गया। इसके बाद कम्पनी के डाइरेक्टरों ने अपने पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों के निर्देशानुसार भारत से मुख्यवान् हस्तलिखित पोथियाँ और दूसरी सामग्री खोज-खोज कर लन्दन भेजी और 'पब्लिक रिपोजिटरी' को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाया। उसीके अन्तर्गत एक म्युजियम की भी स्थापना की गयी और उसमें भारत से प्राप्त कला-वस्तुओं को रखा गया। सन् १८५७ के राष्ट्र-विप्लव के बाद अरबी और फारसी भाषाओं की दुर्लभ कलापूर्ण पोथियों का बृहत्संग्रह भारत से लन्दन प्रवासित हुआ। इन सचित्र पोथियों और पुरातत्त्वसम्बन्धी आलेखों का मूल्य लाखों रुपया था।

राष्ट्र-विप्लव के बाद जय कम्पनी का शासन समाप्त हुआ और इण्डिया ऑफिस की नींव पड़ी तब सन् १८६७ में इस 'पब्लिक रिपोजिटरी' का नाम 'इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी' कर दिया गया और उसे इण्डिया हाउस, लेडनहॉल स्ट्रीट से हटाकर किंग चार्ल्स स्ट्रीट स्थित 'हाइट हॉल' में स्थानान्तरित कर दिया गया, जहाँ वह आज भी वर्तमान है। भारतीय सम्पत्ति होने के कारण भारतीय स्वाधीनता के बाद १९४७ ई० में 'इण्डियन इण्डिपेण्डेण्ट ऐक्ट' के अनुसार उसका उत्तराधिकार 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर कॉमनवेल्थ रिलेशन्स' को सौंप दिया गया। इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय की वर्तमान रूपरेखा को देखकर उसके महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय में सम्प्रति लगभग ढाई लाख पुस्तकें हैं। इनमें ७०,००० अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं की हैं, शेष

सब प्राच्य भाषाओं की हैं। इसके अतिरिक्त २०,००० मुख्यवान कला-कृतियों का एक पृथक् संग्रह है जहाँ संसार-दुर्लभ कृतियाँ सुरक्षित हैं। इण्डिया ऑफिस भारतीय-ज्ञान-विषयक विश्व का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। लगभग ९५ भाषाओं के ग्रन्थ इस पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, जिनमें अधिकांश भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित हैं।

वास्तव में, इस इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय की सारी महिमा और विशेषता उसके 'प्राच्य-विभाग' के ही कारण है। यह विभाग पाँच उप-विभागों में है—मुद्रित पुस्तकें, हस्तलिखित ग्रन्थ, चित्रकला, छायाचित्र (फोटो) और अन्य वस्तु।

प्राच्य-भाषाओं के मुद्रित-विभाग में लगभग १,४०,००० पुस्तकें सुरक्षित हैं, जिनकी मुख्य भाषाएँ बँगला, हिन्दी, संस्कृत, पाळि, प्राकृत, तमिल, उर्दू, मराठी, गुजराती, तैलगु, अरबी और पंजाबी हैं। किन्तु सबसे महत्व का विभाग हस्तलिखित ग्रन्थों का है। यूरोपीय भाषाओं की हस्तलिखित पोथियों के क्षेत्र में फॉक, फ्रांसिस, लार्सेन, रेकिन्स और मेकेन्जी के लगभग ४० व्यवस्थित संग्रह उल्लेखनीय हैं। प्राच्य भाषा की हस्तलिखित पोथियों में अरबी, पर्सियन, संस्कृत, तिब्बती, खोतानी, बँगला, हिन्दी, गुजराती, मराठी, उड़िया, पश्तो और उर्दू की पोथियाँ प्रमुख हैं। केवल संस्कृत, अरबी, पर्सियन और तिब्बती भाषाओं की पोथियों की संख्या १९,५०० है। उर्दू, मराठी, हिन्दी, गुजराती, पश्तो, उड़िया और बँगला की पोथियों की संख्या लगभग ९५० है। इसके अतिरिक्त बर्मा, मेसोपोटामिया, स्याम, इण्डो-नेशिया, तुर्की और टर्की भाषाओं की पोथियाँ भी वहाँ संग्रहीत हैं, जिनकी संख्या लगभग ४०५ है।

इस विभाग की हस्तलिखित पोथियों की कुछ वर्गीकृत विवरणक्रमक

सूचियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं और कुछ प्रकाशनार्थ तैयार हैं। ऐसी प्रकाशित सूचियों में यूरोपीय भाषाओं की पोथियों के पाँच भाग, संस्कृत पोथियों के चार भाग, पर्सियन पोथियों के दो भाग और पालि, असमी, पहलवी, अवेस्ता, बँगला, मराठी, उड़िया और उर्दू की पोथियों के भी सूचीपत्र प्रकाशित हो चुके हैं। राजस्थानी, तिब्बती और गुजराती प्रभृति भाषाओं की सूचियाँ प्रकाशनार्थ तैयार हैं।

इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय का तीसरा चित्रकला विभाग भी अपने ढंग का अपूर्व है। पर्सियन भाषा की हस्तलिखित पोथियों में लगभग २००० चित्र तत्कालीन कलाविदों की अमर लेखनी के अद्भुत नमूने हैं। इसी प्रकार भारतीय जीवन से सम्बन्धित पाश्चात्य कलाकारों के लगभग १५०० अनुपम चित्र इस विभाग के प्राचीन चित्रों के संग्रह मोनोक्रोम फोटोग्राफिक प्रिण्ट और कलर प्रिण्ट इन दो सीरीजों में निकल चुके हैं।

इसी प्रकार चौथे छायाचित्र या (फोटो) विभाग में भारतीय शिल्प, वास्तुकला और पुरातत्त्वविषयक लगभग २३०० निगेटिव प्लेट्स और लगभग ३०,००० विभिन्न चित्र संगृहीत हैं। सन् १९३९ में पुस्तकालय की संगृहीत उक्त प्लेटों के आधार पर अरेविक और पर्सियन शिलालेखों के आलेख प्रकाशित हो चुके हैं, जो पुरातत्त्वज्ञों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

पाँचवें स्फुट विभाग में ग्रामोफोन रेकॉर्ड तथा भारतीय कढ़ाई-बुनाई के नमूने संगृहीत हैं। मुद्रित पुस्तकों की अपेक्षा हस्तलिखित पोथियों को पुस्तकालय से निर्गत करने के लिए विशेष नियम हैं। ये पोथियाँ या तो विशिष्ट संस्थाओं के नाम निर्गत की जाती हैं या विश्वविद्यालय के पुस्तकालय ही उन्हें उधार ले सकते हैं। सामान्य

सदस्य या पाठक उनका उपयोग पुस्तकालय में बैठ कर ही कर सकता है। यदि कोई अनुशीलनकर्ता किसी हस्तलिखित पोथी की अथवा उसके किसी भी चित्र की प्रतिलिपि चाहे तो उसकी सुविधा के लिए पुस्तकालय की ओर से माइक्रोफिल्मिंग और फोटोसेटिंग की व्यवस्था है।

इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय की इतनी मूल्यवान् सामग्री का सारा परिचय पाकर सहज ही प्रश्न उठता है कि यह भारत की अनमोल सम्पदा अब, भारतीय स्वतन्त्रता के बाद भी, वहीं क्यों अटकी है। ब्रिटेन के परराष्ट्रमण्डलीय सचिव लॉर्ड होम ने हाल ही में एक वक्तव्य दिया है, जिसमें उन्होंने इस पुस्तकालय पर ब्रिटेन के एकाधिकार की घोषणा की है। किन्तु सन् १९३५ के इण्डिया ऐक्ट की धारा २ तथा १७२ के अनुसार सन् १८५८ में इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी का जो उत्तराधिकार 'ताज' के सुपुर्द कर दिया गया था, भारतीय स्वाधीनता अधिनियम सन् १९४६ के बाद वह समाप्त हो जाता है।

भारत और पाकिस्तान सरकारों के शिष्टामन्त्रियों के समय-समय पर प्रकाशित संयुक्त वक्तव्यों से यह सुविदित है कि इंडिया ऑफिस की अधिकार-प्राप्ति के लिए दोनों देशों का स्वाभाविक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि ब्रिटिश शासनकाल की सम्पूर्ण भारतीय सम्पत्ति पर।



प्रयास किया, उपःकाल से ही लेखन-कला का भी अभ्युदय हुआ, किन्तु उस आदिम युग में लिखने के जो साधन थे वे आज की अपेक्षा सर्वत्र भिन्न और आज की दृष्टि से सर्वथा विचित्र थे। ये पोथियाँ श्रुति और कंठ में लिखी गईं। अर्थात् वे एक की वाणी से दूसरे की श्रुति तक और दूसरे की वाणी से तीसरे की श्रुति-स्मृति तक पहुँचीं।

सारा पुराना ज्ञान श्रुतजीवी एवं स्मृति-संरक्षित था। गुरु-शिष्य और वंश-परम्परा के क्रम से वह कण्ठस्थ रूप में सुरक्षित मौखिक ज्ञान ही श्रुति, स्मृति और पुराण आदि अनेक अभिधानों से कहा गया। ज्ञान-विचारणा की इस परम्परा का अभ्युदय अरण्यों में अधिष्ठित ऋषि-मुनियों के पवित्र आश्रमों से हुआ।

यल, विक्रम और आयु के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य की मेधा स्मृति में हास होता गया, त्यों-त्यों ज्ञान की विपुल परम्परा को सुरक्षित रखने और उसको भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने के उसके पुराने माध्यमों में भी परिवर्तन हुआ। एक युग ऐसा था, जब कि ज्ञान को लिपि-बद्ध करना धर्मानुगत नहीं समझा जाता था; किन्तु 'गागर में सागर की भौँति' सूत्रग्रन्थों के सूक्ष्म ज्ञान ने तत्कालीन विद्या-निकेतनों और अध्येताओं को ऐसी विकट स्थिति में ला पहुँचाया कि समग्र कण्ठाग्र ज्ञान को लिपिबद्ध करने के लिये उन्हें विवश होना पड़ा। तभी से सारा मौखिक ज्ञान, सारी मौखिक विद्याएँ और सारे कण्ठाग्र शास्त्र पत्रों पर अर्थात् भोजपत्रों, ताड़पत्रों या ताम्र-मृत्तिकापत्रों अथवा घृष्टद्वालों पर लिखे जाने लगे।

सम्प्रति हमें सर्वाधिक प्राचीन पोथियाँ भोजपत्रों और ताड़पत्रों पर लिखी हुई मिलती हैं। ताड़पत्र की पोथियाँ त्योंलमुखी कलम या लौह-लेखनी से लिखी जाती थीं। भोजपत्र पर लिखी हुई पोथियाँ,

ताड़पत्र पर लिखी हुई पोथियों की अपेक्षा कम संख्या में उपलब्ध होती हैं। ताड़पत्रीय और भोजपत्रीय पोथियों को लिखने के लिए बड़ी सूक्ष्म-वृक्ष एवं साधना की आवश्यकता है। इन पोथियों के लेखक विद्वान् होने के साथ-साथ निपुण कलाकार भी होते थे।

आज अधिकांश पोथियाँ हमें माण्डपम अर्थात् देशी हाथ के बने कागज पर लिखी हुई मिलती हैं। यद्यपि चीन में कागज १०५६ ई० में ही बनाना आरम्भ हो गया था, किन्तु वह निर्यात में इतना कम था कि दूसरे देश बहुत समय तक उसके लाभ से वञ्चित रहे। भारत में देशी, हाथ के कागज पर पोथियाँ, आज से लगभग दस-बारह सौ वर्ष पूर्व अर्थात् आठवीं-दसवीं शताब्दी ईसवी में लिखी जाने लगी थीं; फिर भी इस प्रकार की पोथियाँ हमें चौदहवीं शताब्दी से पाहेले की कम मिलती हैं।

अति प्राचीन काल से संरक्षित-संगृहीत भारत की यह विपुल ग्रंथ-सम्पदा धर्मग्रन्थों द्वारा अनेक बार विनष्ट किए जाने पर और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार से लेकर आंग्ल-शासन के अन्तिम दिनों तक सहस्रों की संख्या में देशों को प्रवासित होने पर भी आज हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारत के सभी अञ्चलों में अपरिमित संख्या में बिखरी हुई है। हमें यह जानकर विस्मय होता है कि आज ऐसी भी अनेक पोथियाँ हमें चीन, जापान, जर्मनी और ब्रिटेन प्रभृति देशों में सुरक्षित मिलती हैं, जो न तो जन्मभूमि भारत में और न अपनी मूल भाषा संस्कृत में ही हैं। संसार का ऐसा बृहत् पुस्तकालय कोई भी शेष नहीं है, जहाँ भारत के ये मूल्यवान् ग्रंथरत्न सुरक्षित और अतिशय रूप में सम्मानित नहीं हो रहे हैं।

किन्तु, इस दृष्टि से यदि हम अपने देश की इस ज्ञान-धाती के हस्तलिखित पोथियों का संरक्षण

सम्बन्ध में विचार करते हैं तो हमें निरुत्साहित और निराश ही होना पड़ता है। भारतीय साहित्य के शोध-संस्कार और वैज्ञानिक विधियों से परीक्षित उसकी जितनी भी दिशाएँ आज तक प्रकाश में आई हैं, उनको प्रकाशित करने का बहुत बड़ा श्रेय विदेशी विद्वानों को ही दिया जाना चाहिये। इन मूल्यवान् पुरानी पोथियों और दुर्लभ कला-कृतियों का पता लगाने में भी पाश्चात्य विद्वान् अधिक उत्सुक रहे हैं, और यद्यपि पाश्चात्यों की यह निष्ठा और लगन परिणाम में भारत के लिए उतनी शुभंकर नहीं रही है; फिर भी उनके ज्ञानानुराग, विद्याव्यसन और परिशीलन ने इस दिशा में हमें पर्याप्त प्रोत्साहित किया।

भारतीय साहित्य के परम अनुरागी जर्मनदेशीय वेदविद् विद्वान् मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'भारत से हम क्या शिक्षा ले सकते हैं' में एक जगह कहा है कि 'सारे संसार में ज्ञानियों और पण्डितों का देश भारत ही एक मात्र ऐसा है जहाँ कि विपुल ज्ञान-सम्पदा हस्तलिखित पोथियों के रूप में सुरक्षित है।' मैक्समूलर महोदय की यह वाणी पाश्चात्य विद्वानों को चरदान सिद्ध हुई और अदम्य उत्साह से वे भारतीय ज्ञान की खोज में जुट गये।

संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् हेनरी टामस कोलब्रुक (१७६५-१८३७ ई०) ने अपनी खोजपूर्ण अभिरुचि के कारण १८०७ ई० में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल का समापति नियुक्त होते ही सहस्रों भारतीय पोथियों को नष्ट होने से बचाया। उनके द्वारा एकत्र और सम्प्रति इण्डिया आफिस लन्दन में सुरक्षित पोथियों पर उनके द्वारा लिखी हुई खोजपूर्ण विवरणिकायें बड़े महत्त्व की हैं। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये अकेले ही उन्होंने एक वृहत् निधि व्यय करके इस दिशा में अपने अनुराग का परिचय दिया।

डा० चूलर (१८३७-१८९८ ई०) पेरिस, आक्सफर्ड और लन्दन आदि के बृहत् भारतीय पोथी-संग्रहों का अध्ययन-अनुशीलन करने के उपरान्त मैक्समूलर साहब की प्रेरणा से भारत आए और शिक्षा विभाग बम्बई में नियुक्त होते ही सरकार की ओर से संस्कृत के पंडितों के हितार्थ सर्वप्रथम उन्होंने 'बम्बई संस्कृत सीरीज' नामक ग्रंथमाला का प्रकाशन किया। उनके जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग भारतीय हस्तलिखित पोथियों की खोज करते बीता। १८६६ ई० में सरकार की ओर से बंगाल, बम्बई और मद्रास में शोध-संस्थान कायम हुए, और चूलर साहब को बम्बई शाखा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। उन्होंने अपने इस कार्यकाल में लगभग २३०० महत्वपूर्ण पोथियों की खोज निकाली जिनमें से आज कुछ पोथियाँ एलिफिसटन कालेज के पुस्तकालय में, कुछ बर्लिन विश्वविद्यालय में और शेष इंडिया आफिस में सुरक्षित हैं।

डा० घेवर (१८२५-१९०१ ई०) ने बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत संस्कृत-पोथियों का एक बृहत् सूचीग्रंथ तैयार किया तथा डा० चूलर द्वारा बर्लिन पुस्तकालय के लिए प्रेषित ५०० जैन पोथियों का अनुशीलन करके, जैन-साहित्य पर अन्वेषणात्मक प्रकाश डाला।

डा० आम्ब्रेड ने कीलहार्न, चूलर, पीटरसन, भांडारकर, वर्नेल, मैकेंजी, कोलब्रुक, गायकवाड़ और राधाकृष्ण प्रभृति विद्वानों द्वारा तैयार की गई खोज-रिपोर्टों के पोथी-संग्रहों को तीन भागों में विभक्त कर उसको 'कैटेलोगस कैटेलोगरम' (सूचीपत्रों का सूचीपत्र) नाम से प्रकाशित किया, जिसका संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण १९४९ ई० में मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डा० सी० कुन्हन

हस्तलिखित पोथियों का संरक्षण

६३

राजा तथा उनके सहायक डा० बी० राघवन के संपादकत्व में 'ए' अक्षर तक प्रकाशित हो चुका है। डा० आफ्रेक्ट की प्रेरणा से आक्सफर्ड की घोडलियन लाइब्रेरी, इंडिया आफिस और बर्लिन के राजकीय पुस्तकालयों में संगृहीत भारतीय पोथियों की विवरणिकाएँ भी प्रकाश में आई हैं।

अनेक भारतीय विद्वान् भी समय-समय पर इस दिशा में जागरूक हुए, और यह दिशा भी सर्वथा सूनी नहीं है, किन्तु जिस अदम्य साहस और अटूट गति से कार्य होना चाहिए था, वैसा आज तक हुआ नहीं। पं० राधाकृष्ण जी, सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मिथवंधु, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० पीताम्बरदत्त घडवाल प्रभृति विद्वानों के अथक यत्न से सहस्रों पोथियों का उद्धार हुआ और वे प्रकाश में आई हैं। आज भी राहुल जी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, राय कृष्णदास, मुनि जिनविजय, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० रघुवीर, प्रो० कुण्डस्वामी शास्त्री, डा० सी० कुन्दन राजा, डा० बी० राघवन, डा० प्रबोधचन्द बागची, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और विश्वचन्द्र शास्त्री आदि विद्वान् एवं अनेक संस्थाएँ इस क्षेत्र में कार्य-रत हैं।



भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता

प्राचीनता की दृष्टि से विश्व की आदिम दो भाषायें—आर्यभाषा और सेमेटिक भाषा—प्रचलित सभी भाषाओं की जननी हैं। यूरोप की ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, इंगलिश आदि जितनी भी भाषायें हैं, सभी का मूल स्रोत आर्यभाषा है। पूरव में भारत और ईरान, जिनकी भाषा संस्कृत और फारसी है, आर्य-संस्कृति से ही अनुप्राणित हैं।

आर्य कहा जानेवाला सम्पूर्ण मानव-समाज जब श्रेणियों में विभाजित होकर अपनी-अपनी सभ्यता को अर्जित करने में लग गया था, उसी समय के आसपास आर्यों का एक जत्था मध्य-एशिया से आकर पंजाब में बस गया। भाषा-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि

भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता

वे लोग जिस आसुरी भाषा को चोलते थे, उसी से वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति हुई। इन लोगों ने सम्यता के उद्यान में, अपने जीवन-स्तर को सुसंस्कृत एवं उन्नत बनाने में विश्व की सभी विभाजित जातियों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त किया।

केवल कहने मात्र से ही किसी भी सिद्धान्त एवं अभिप्रेत विषय की 'इति' नहीं हो जाती। सत्य और मिथ्या में बड़ा व्यवधान होता है। मिथ्या की अपेक्षा सत्य अधिक घलवान्, पुष्ट एवं अनायास ही स्वीकार्य होता है। अतः असन्दिग्ध सत्य है कि उस समय जब कि इतर जातियाँ जंगलों में घूम-घूमकर अपने अभिप्रेत कार्यों को संकेतों द्वारा संपन्न करती थीं, हमारे पूर्वज भाष्यात्मिक ज्ञान की गुरुधियों को सुलझाने में, भगवान् की अदृष्ट विभूतियों का वैदिक ऋचाओं द्वारा स्तवन करने में तथा अपनी गवेषणात्मक बुद्धि द्वारा नई शक्तियों के अनुसन्धान में निरत थे।

वेदों की तिथि

विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद संस्कृत भाषा का आदिग्रन्थ है। यह महर्षियों द्वारा उच्चारित, एवं उन्हीं द्वारा संपादित, विश्व के इतिहास में आदि संस्कृति का सर्वस्व है। भावुकतावश कुछ लोगों ने वेद को अनादि एवं अपौरुषेय कहकर सहस्रों वर्ष पूर्व उसके निर्माण की करुपना की है। तब भी मित्रदेश के साहित्य से—जिसको अनेक योरोपीय विद्वानों ने विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है—वेदों का निर्माणकाल प्राचीन है। मित्रदेश का साहित्य विक्रम सं० पूर्व चार सवा चार हजार वर्ष का है, जब कि वेदों की तिथि आज से आठ हजार वर्ष पूर्व सिद्ध हो चुकी है।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता महापंडित मैक्समूलर ने यद्यपि वेदों की प्राचीनता विश्ववाङ्मय में स्वीकार करते हुए कहा कि संसार की किसी भाषा में इतना प्राचीन ग्रन्थ अभी तक नहीं पाया गया; फिर भी वैदिक साहित्य को चार काल—छन्दकाल, मंत्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल—में विभक्त कर प्रत्येक काल की विकास-अवधि के लिए उन्होंने दो-दो सौ वर्ष निर्दिष्ट किया है और ऋग्वेद की रचना १२०० ई० पू० मानी है; किन्तु भारतीय विद्वानों को यह मत पुष्ट नहीं प्रतीत हुआ। इधर डा० हाग वैदिक काल को २४०० से २००० ई० पू० मानते हैं और प्रत्येक काल को उसकी विकासावस्था के लिए पाँच-पाँच सौ वर्ष का समय देते हैं। हो सकता है कि आगे चलकर यही क्रम घटाया-बढ़ाया भी जा सके क्योंकि दूसरा कोई पुष्ट आधार नहीं। फिर ऐसी दशा में कठिन हो जाता है कि किस मिद्धान्त को आधारित एवं प्रामाणिक मानकर उसको असन्दिग्ध समझा जाय ?

किन्तु लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने घड़े परिश्रम से वेदों का अनुसन्धान कार्य किया और ऋग्वेद में वर्णित नक्षत्रविद्या-सम्बन्धी उपलेशों के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि ऋग्वेद का निर्माण काल ५ हजार वर्ष ई० पू० हुआ है। तदनन्तर अन्य वेदों की रचना ई० पू० ३ हजार वर्ष तक मानी है। यह मत भारतीय विद्वानों को मान्य है।

प्रागैतिहासिक प्रमाण

भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता के प्रमाणस्वरूप हाल ही में तीन महत्वपूर्ण आधार प्राप्त हुए हैं—मेसोपोटामिया का सन्धिपत्र, हरप्पा और मोहेंजोदारों की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री। मेसोपोटामिया

भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता

से प्राप्त एक सन्धिपत्र, जिसमें मित्र और मेसोपोटामिया के राजाओं की सन्धिवार्ता का उल्लेख है, प्राचीनता की दृष्टि से ई० पू० लगभग १६ सौ वर्ष प्राचीन है। इस संधिपत्र में इन्द्र, वरुण आदि वेदविहित देवताओं की वन्दना का उल्लेख है। यह बात स्मरणीय है कि इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की अर्चना का विधान केवल वैदिक काल में ही था। उपनिषत्काल में इन्द्र, वरुण के स्थान पर त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। तदनन्तर सूत्रकाल और पुराणकाल में तो अवतारों की ही चर्चा पाई जाती है। अतः स्पष्ट है कि उक्त सन्धिपत्र उस समय लिखा गया होगा, जब कि ईश्वरभाव से न तो अवतारों की महत्ता थी और न त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश की पूजा का ही विधान था।

दूसरे और तीसरे आधार क्रमशः पंजाब और सिन्ध में स्थित हरप्पा और मोहेंजोदारो स्थानों से प्राप्त हुए हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर श्री दयाराम साहनी ने सन् १९२१ में मिंटगुमरी जिले के हरप्पा स्थान से मिट्टी के घर्तन, खिलौने, पालिश की हुई कुछ मिट्टी की प्रतिमाएँ, जिन पर धृपम अंकित है—सिक्के, चाकू, अँगूठियाँ तथा कुछ मोहरें प्राप्त की हैं। इसी समय के आसपास घाबू राखालदास यनजी ने लरखाना जिले में स्थित मोहेंजोदारो नामक स्थान से भी ऐसी ही महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त की। इस सामग्री के आधार पर पुरातत्त्व-विभाग के ढाहरेक्टर महाशय जॉन मार्शल ने उक्त दोनों स्थानों को प्रागैतिहासिक बताया और प्राप्त सामग्री को ई० पू० ४००० अथवा ५००० वर्ष प्राचीन सिद्ध किया।

इन महत्वपूर्ण खोजों से भारतीय सभ्यता की अनेक प्राचीनतम बातों का पता लगा। आजतक जहाँ भारतीय लेखनकला, चित्रकला

आदि की मासिकता ई० पू० दूसरी तारीखी व्यापारित हो चुकी थी, वहाँ भय प्रमानित हो चुका है कि मासिक मन्वता का सुवधान ईसा के ५००० वर्ष पूर्व ही हो चुका था, जिसका समर्थन ज्योतिष की कुछ श्रुतियों भी करती हैं, जिनमें मास के कालों में आठ का अंक जगत् जाने का उल्लेख आया है ।

ब्राह्मण काल

वेदों की मन्त्रसंहिताओं के अन्तर्गत जिनकी व्याख्या का विधान है । व्याख्या का विधान जिन ग्रन्थों में पाया जाता है, उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों की संज्ञा दी गई । इन ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा वैदिक एवं लौकिक युग की मध्यकालीन भाषा है । ब्राह्मण ग्रन्थों के मोटे गीन विभाग हैं—एक ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् । पहिले भाग में यज्ञ-याग-सम्बन्धी विधानों की सविस्तर चर्चा है । कुछ शान्ति, श्रवणों की गाथाओं का भी इनमें उल्लेख आया है । दूसरे आरण्यक ग्रन्थ में हैं, जो जल-वस्त्रय से दूर अरण्यों में पढ़े एवं पढ़ाये जाते थे । तैत्तिरीय आरण्यक पर भाष्य करते हुए माधवाचार्य ने लिखा है कि इनका आरण्यक नाम इसलिये पड़ा कि आर्य वानप्रस्थकाल में अरण्यों में रहकर जीवन की गूढ़ समस्याओं पर विचार करते थे । इन ग्रन्थों में यज्ञों का आत्मात्मिक साहाय्य वर्णित है । दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों में भेद यह है कि एक ब्राह्मण तो गार्हपत्य जीवन के क्रिया-कलापों का प्रतिपादन करते हैं और आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थी जीवन के विधानों की सीमांसा है । तीसरे ग्रन्थ उपनिषद् हैं, जिनमें वैयक्तिक आध्यात्मिक सुखसाधिसूक्ष्म विचारों का प्रतिपादन है । वैदिक-ब्राह्मण का अन्तिम भाग होने में उपनिषद् वेदान्त में भी अभिहित होते हैं । उपनिषदों में ही सम्यन्धित दो अन्य ग्रन्थ भगवद्गीता

और ब्रह्मसूत्र मिलकर 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से उच्चारित होते हैं। ब्राह्मणों का रचनाकाल वि० पू० २५०० से १४०० तक माना गया है।

विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थों के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। स्वयं ब्राह्मणों और आरण्यकों में कर्म का ही विशेषतः विधान है। अतः ये कर्मकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उपनिषद् भारतीय ज्ञान के भण्डार हैं। अतः इनकी गणना ज्ञानकाण्ड के ही अन्तर्गत होती है। स्वयं ब्राह्मणों और आरण्यकों की संख्या लगभग ७० तथा उपनिषदों की संख्या २६० है। प्रसिद्ध उपनिषद् १२ हैं—ईशा, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौशीतकी और श्वेताश्वतर।

सूत्र काल

मंत्रसंहिताओं की व्याख्या का समय ब्राह्मणकाल से अभिहित होता है। ब्राह्मणकाल के अनन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। ब्राह्मणकाल धृतियों का काल रहा है। इस समय का सारा साहित्य केवल धृतिगम्य होने के कारण उल्लिखित रूप में नहीं पाया जाता। स्मरणशक्ति के ही द्वारा उसका अध्ययन-अध्यापन एवं व्यवहार होता था। सूत्रकाल तक यज्ञ-यागों का इतना बाहुल्य हो गया था कि उसको स्मरणशक्ति के द्वारा सुरक्षित रखना कठिन था; फलस्वरूप इस परम्परागत संचित ज्ञान को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से सूत्र-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। वेद-विषय को समझने के लिए जिन ग्रन्थों को निमित्त माना गया उनको वेदांग की संज्ञा दी गई। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, इन छः वेदांगों की सृष्टि हुई। तीन प्रकार के सूत्र रचे गए—गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और श्रौतसूत्र।

इसी समय राजा चैन और विरोचन ने भोगवाद को प्रधानता देकर सारी आध्यात्मिक ज्ञान-गरिमा को उपेक्षित कर दिया। इसी सिद्धान्त को लेकर आचार्य चार्वाक ने भोगवाद की विस्तृत मीमांसा कर अपना पृथक् मत ही प्रतिपादित कर दिया। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा में दार्शनिक सिद्धान्तों पर ऊहापोह हुआ। तदनन्तर महर्षि गौतम और महर्षि कणाद ने पुष्ट प्रमाणों के आधार न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन द्वारा ईश्वरवाद का प्रतिपादन किया। बाद में सांख्यदर्शन और योगदर्शन की रचना हुई। इस प्रकार आध्यात्मिक तत्त्व के प्रतिपादक पद्धतियों—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक की सृष्टि हुई।

भाषा का परिष्कार

इसी समय भाषा को एक विशेष रूप दिए जाने की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया। ऋग्वेद और ऋग्वेद से पूर्व की भाषा आसुरी भाषा कहलाती थी। ब्राह्मणकाल की भाषा आसुरी से भिन्न एवं अधिक परिमार्जित दशा में थी। तदनन्तर सूत्रकाल में व्याकरण ग्रन्थों की रचना होने के कारण भाषा नियमों से आदब्द होकर सुसंस्कृत हो गई और उसको एक विशेष दशा में विकसित होने का मौका मिला।

ई० सन् ११-१२ सौ वर्ष पूर्व औदुम्बरायण, शाकटायन तथा गार्ग्य आदि आचार्यों ने व्याकरण एवं निरुक्त ग्रन्थों की रचना कर भाषा को परिमार्जित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। ई० सन् ७ सौ वर्ष पूर्व आचार्य यास्क ने निरुक्त की रचना कर भिन्न-भिन्न देशज शब्दों एवं व्यवहारोपयोगी शब्दों का निर्वचन किया।

तदनन्तर वेद सौ वर्ष पश्चात् महर्षि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना कर भाषा को व्याकरण के नियमों से परिष्कृत किया। पाणिनि के बाद तो व्याकरणग्रन्थों का मार्ग ही प्रशस्त हो गया। महर्षि पतंजलि का 'महाभाष्य' भी इस क्षेत्र का गण्य ग्रन्थ है।

यद्यपि ब्राह्मणकाल में त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश के आराध्य के रूप में पूजे जाने का उल्लेख है; फिर भी उस समय गौरुरूप से ही उनका अस्तित्व बना रहा। सूत्रकाल में आकर हम देखते हैं कि त्रिमूर्ति की अर्चना पर लोगों की पूर्णतः निष्ठा रही। इसके अतिरिक्त लेखनकला का भी इस काल में अच्छा आवर हुआ। ब्राह्मी लिपि को छोड़कर वेदविहित इतर लिपियाँ, जो नागरीलिपि की भाँति बाएँ से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं, अपनाई जाने लगीं। संस्कृत वाङ्मय के सर्वप्रथम ग्रन्थत्रय—रामायण, महाभारत और मनुस्मृति—की रचना सूत्रकाल में ही हुई, यद्यपि इनका पूर्णरूपेण प्रचलन एवं उपयोग आगे चलकर स्मृतिकाल एवं पौराणिक-काल में ही हुआ।

ई० सन् ५०० वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ। बुद्धकालीन सारा साहित्य दूसरी प्राकृत, जिसको पालि की संज्ञा दी गई, सूत्रकाल में ही रचा गया। सूत्रकालीन सारा साहित्य वि० पूर्व १४०० से ५०० वर्ष के बीच रचा गया।

पुराण काल

सूत्रकाल के अनन्तर स्मृतियों का समय और तदनन्तर पुराणों का युग आता है। पुराणों के सम्बन्ध में विद्वानों की बहुत समय तक प्रायः यही धारणा बनी रही कि उनके अन्दर कपोल-कल्पना के अतिरिक्त कोई तथ्य है ही नहीं। पाश्चात्य विद्वान् तो उस सारे

साहित्य को माह्योलोजी, अर्थात् प्राचीन दन्तकथाओं का संग्रहमात्र समझते रहे हैं; किन्तु अब पर्याप्त छानबीन के अनन्तर पुराणों की प्राचीनता और उनकी प्रामाणिकता पर विद्वानों की आस्था हट होती जा रही है। हो सकता है कि अत्युक्ति से वर्णित अनेक घटनाओं का ऐतिहासिक आधार तथ्यों से हीन हो; किन्तु सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य को एकदम ही कल्पित बता देना केवल थोड़े विचारों का शोतक होगा।

मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण तथा ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में वर्णित अनेक आख्यानों से पता चलता है कि पुराणों की रचना किसी उद्देश्य-विशेष को लेकर की गई थी। उक्त ग्रन्थों में पुराणों का लक्षण एवं पुराणों की कल्पना का आधार इस प्रकार वर्णित है:—१. सर्ग अर्थात् सृष्टि की आदिकथा, २. प्रतिसर्ग अर्थात् उसकी विकासावस्था, ३. वंश अर्थात् प्रलय के बाद सृष्टिरचना की आदि वंशावली, ४. मन्वन्तर अर्थात् चौदह मनुओं की राज्यस्थिति एवं उनका कालक्रम और ५. वंशानुचरित अर्थात् सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी राजाओं का वंशवर्णन। इन पाँच निर्देशों से पुराणों के रचे जाने का उद्देश्य जाना जा सकता है।

इस प्रकार सृष्टि के आदि से लेकर उसकी प्रलयावस्था की कहानी और बीच-बीच में लुप्त राजवंशों की सविस्तार सूची तथा सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी राजाओं की राज्यस्थिति का ऐतिहासिक वर्णन जिन पुराणों का अपना विषय है, वे क्या कोरी दन्तकथाओं से भरे केवल कपोल-कल्पित कहे जाने योग्य होंगे?

पुराणों-उपपुराणों की संख्या कुल मिलाकर ३६ है, जिनमें १८ पुराण हैं और १८ उपपुराण। सृष्टि के अपरिहार्य तीन विशेषण सर्ग, स्थिति और विनाश के ऐतिहासिक ज्ञान को सुरक्षित रखने की विचारणा

से लोमहर्षण सूत ने मैत्रेय, शिशुपायन और अकृतमण नामक तीन शिष्यों के सहयोग से चार संहिताओं की रचना की। पुराण संहिताओं का यह समय ई० सन् १५ सौ वर्ष पूर्व का है। जैसे ब्राह्मणों ने धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं, वर्णाश्रम-धर्मों आदि का नियमन स्मृति ग्रन्थों में किया, वैसे ही सूतों, मागधों और चारणों आदि ने समय-समय पर पौराणिक माहात्म्यों की रचना कर उनमें सृष्टि की कथा का सविस्तार वर्णन किया।

प्रामाणिकता की दृष्टि से पुराणों का महत्व समय-समय पर प्राप्त शिलालेखों, मुद्राओं और विशेषतः विदेशियों के यात्रा-विवरणों से होता रहा है। महर्षियों के जीवन-वृत्त, उनके कार्यों का उल्लेख पुराणों के अतिरिक्त खोजने पर भी नहीं मिलेगा। भौगोलिक दृष्टि से भी पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक तीर्थों और धर्मस्थानों का जैसा वर्णन पुराणों में मिलेगा, वह इतिहासकारों की दृष्टि में सर्वथा नई वस्तु है।

समय-निर्धारण की दृष्टि से पुराणों की तिथि बहुत प्राचीन है। यहाँ तक कि सूत्रग्रन्थों, उपनिषदों और इससे पूर्व संहिताओं में भी बीज रूप से पुराणों का बीज काल वर्तमान था। फिर भी शंकराचार्य, कुमारिलभट्ट तथा बाणभट्ट के ग्रन्थों में पुराण ग्रन्थों का जो उल्लेख आया है और आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में पुराणों के जो अनेक उद्धरण दिये हैं, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुराणों का पूर्ण प्रौढरूप ई० सन् ६०० वर्ष पूर्व से आरंभ होकर लगातार गुप्तकाल तक अप्रतिहत गति से संपन्न होता रहा है।

यूरोप, अमेरिका तथा भारत में समय-समय पर सभ्यता, धर्म और संस्कृति के अर्जन में जो नये अनुसन्धान हुए हैं, उनमें भारतीय

और यूरोपीय परिवारों की प्रागैतिहासिक ज्ञानगवेषणा में वैदिक वाङ्मय का जो महत्वपूर्ण योग रहा है, वह विश्व के इतिहासकारों से अविदित नहीं। दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ज्ञान का ऐसा गहन और गंभीर ठरस, जिससे सारा विश्व अनुप्राणित होता रहा है, भारत की देन है। उपनिषदों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक जर्मन विद्वान् शोपेनहार का कहना है कि 'वे मुझे जीवन में शान्ति देते रहे और मृत्यु के समय भी शान्ति देंगे।'

अतः संक्षेप में यह है, भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता और विश्व के सम्मुख उसका वास्तविक महत्त्व।



महापुरुष मनु

हमारे प्राचीन मनीषियों में महापुरुष मनु का नाम ऐतिहासिक तिथिक्रम से मले ही परे की वस्तु समझी जाती हो; किन्तु भारतीय वाङ्मय में सामाजिक व्यवस्था को संपन्न करने और आर्य-संस्कृति को अनुप्राणित करने में मनु का नाम इतिहास की वस्तु अवश्य बन गया है। धार्मिक व्यवस्था के नियन्ता के रूप में और आर्य-सम्यता को विश्व-सम्यता के सम्मुख एक सुयरा, निखरा रूप प्रदर्शित करने में मनु का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। सदियों से चली आती संस्कृति की झीण रेखा को पुनरुज्जीवित करने और प्रशस्त नियमों द्वारा सामाजिक जीवन को सुनियंत्रित करने में मनु की शास्त्रीय दृष्टि विश्व के बहुत

कम महापुरुषों में लक्षित होती है। धर्म-नियन्ता और आर्य-संस्कृति का व्याख्याता मनु आज भी जातीय पुनरुत्थान को शाश्वत गति से स्फूर्ति प्रदान कर रहा है। युगान्तव्यापी जीवन की सुथरी प्रतिच्छाया और मानवीय इतिहास के अतीत रूप को आज की तिथियों में और सुदूर भविष्य तक अप्रतिहित गति से अक्षुण्ण करने का श्रेय हमारे आदि पुरुष मनु को ही है।

मनु का विराट् स्वरूप

आर्य-संस्कृति के प्राणभूत मनु का नाम वेदों से लेकर पुराण और इतिहास की पंक्तियों में सर्वत्र बिखरा हुआ है। अनुश्रुतियों के वाक्य इस घात के प्रमाण हैं कि मानवीय सभ्यता के अभ्युदय में ऐतिहासिक पुरुष मनु की ख्याति युग-युगान्तर तक अमर रहेगी। हो सकता है कि गाथाओं में, पौराणिक आख्यानों में भावावेश के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से अतिरंजना भी हो गई हो; किन्तु सत्य के साक्षात्कार से विमुख नहीं हुआ जा सकता। अतः मनु को ऐतिहासिक पुरुष न मानने का कोई प्रयोजन हमारे सामने नहीं उठता है। अपितु मनु के विराट् रूप पर जब ध्यान जाता है तो बवेरू, सुमेरू और मिन्न तक के इतिहास से भी आंति होने लगती है। उक्त तीनों देशों का इतिहास वहाँ के मानवीय जीवन का जिस क्रम से आरंभिक अभ्युदय बताता है उसी के ठीक अनुरूप हमारा अंतिम मन्वन्तर भी चलता है। अनेक घटनाक्रम भी मिलते-जुलते हैं। अतः संदेह होता है कि बीज रूप में विराट् मानवीय सृष्टि का स्रष्टा एक ही पुरुष-पुरातन तो नहीं था, जो कि विविध नामरूपों से उदित होकर बवेरू और सुमेरू के इतिहास में तो जलप्रलय के बाद सृष्टि संस्थापना में 'नुह' के नाम से अभिहित हुआ, प्राचीन क्रीट-द्वीप में आदि सम्राट् के रूप में

‘मिनोस’-संज्ञावान् घना, तथा भारत में वैवस्वत मन्वन्तर के प्रतिष्ठापक विराट् चैतन्य के रूप में, ‘मनु’ के नाम से पूजा गया !

मन्वन्तर

वैदिक वाङ्मय में मनु के नाम से १४ मनुओं के साथ १४ मन्वन्तरों का उल्लेख है; किन्तु इतिहास की दृष्टि से सात मन्वन्तरों का ही योग ठीक बैठता है। प्रथम मन्वन्तर स्वायम्भू मनु से प्रारंभ होता है और अन्तिम मन्वन्तर वैवस्वत मनु तक चलता है। विश्व-इतिहास की प्रधान घटना जलप्लावन के बाद सृष्टि का सूत्रपात इन्हीं वैवस्वत मनु द्वारा मानते हैं। इक्ष्वाकुवंशीय आदि सम्राट् जिस मनु का अनुधृतिपों में उल्लेख आता है वह यही वैवस्वत मनु है। शतपथ ब्राह्मण से लेकर भागवत और छान्दोग्योपनिषद् में जिस पुरुष-पुरातन का वर्णन है वही वैवस्वत मनु प्रजापति के नाम से प्रख्यात है। राम, कृष्ण और बुद्ध इसी वंश-वृक्ष की शाखाएँ हैं। रघुवंश में कालिदास ने जिस शासन व्यवस्था का वर्णन किया है उसका मेरु मनु की व्यवस्था पर आधारित है। यहाँ तक कि रघुवंश में मनु को शासन और नीति का प्रतीक ही मान लिया गया है। श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है कि राजर्षियों द्वारा जिस प्रजायोग का विधान वर्णित है वह वैवस्वत मनु से ही अनुप्राणित एवं दृष्ट हुआ है। भारतीय इतिहास में साम्राज्य का सूत्रपात पहले-पहले वैवस्वत मनु द्वारा ही हुआ।

जिस अन्तिम मन्वन्तर का यहाँ उल्लेख हो रहा है उससे पूर्व प्रागैतिहासिक सात मनुओं का नाम आता है। पौराणिक खोजों से पता चलता है कि अन्तिम वैवस्वत मन्वन्तर को छोड़कर शेष छह मन्वन्तर

स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष पूर्वापर क्रम से सृष्टि-संस्थापना में समर्थ होते रहे हैं। पुराणों में वर्णित इन मन्वन्तरों का व्यवस्था-काल लाखों वर्षों का दिया हुआ है, जिसके आधार पर इनकी निश्चित तिथि का पता लगाना कठिन है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि हमारे पूर्वजों की और हमारी आयु में अन्तर अवश्य आ गया है। वे लोग हमारी अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी, एवं शारीरिक मापदंड से भी लम्बे-चौड़े थे। सत्ययुग में मानव-शरीर हस्त-परिमाण से २१ हाथ, त्रेता में १४ हाथ, द्वापर में ७ हाथ और आज कल कलियुग में ३॥ हाथ रह गया है। अतः उन प्र-पूर्वजों का भोगकाल भी स्वभावतः लम्बा होना चाहिये।

स्थिति-काल

मन्त्र-संहिताओं की अंतिम कुछ ऋचाओं में स्वायम्भू मनु का उल्लेख आया है। विद्वानों की सम्मति में ऋग्वेद का समय आज से ८००० वर्ष पूर्व निश्चित हो चुका है। ऋग्वेद संहिता के १००० वर्ष बाद अन्य तीन संहिताओं का समय आता है। अतः ऋग्वेद संहिता के अनन्तर और इतर तीन संहिताओं के पूर्व, स्वायम्भू मनु का समय आता है। पुराणों की धारणा है कि प्रथम स्वायम्भू मन्वन्तर २९ पीढ़ियों तक बिना व्यतिक्रम से राज्य-व्यवस्था चलाता रहा और उक्त २९ पीढ़ियाँ ७२५ वर्ष के अन्तर्गत आती हैं। यदि मन्त्रसंहिताओं और पुराणों के उक्त उल्लेखों को आधारित समझा जाय तो स्वायम्भू मन्वन्तर ईस्वी के ६००० वर्ष के कुछ पूर्व से आरंभ होकर ई० पूर्व ५३०० या ५२०० वर्ष के बीच बैठता है।

वेदों की कुछ ऋचाओं में वेदपि के नाम से दो ही मनुओं—स्वायं-भुव और वैवस्वत—का उल्लेख मिलता है। यह भी निश्चित हो चुका

महापुरुष मनुः

है कि हमारा वर्तमान मन्वन्तर, जिसके अधिष्ठाता वैवस्वत मनु हैं, ई० पू० ३८०० वर्ष से आरंभ होता है। इस प्रकार शेष पांच मन्वन्तरों के लिये कुल १५०० का समय बचता है। इतिहास की दृष्टि से यही गणना समुचित जान पड़ती है।

वैवस्वत मन्वन्तर की ग्रामाणिकता में एक दूसरी गणना भी उद्धृत की जा सकती है। महाराजा युधिष्ठिर, महाराजा रामचन्द्र की २९ वीं पीढ़ी, अर्थात् लगभग ७०० वर्ष पीछे हुए। महाराजा रामचन्द्र का राज्यकाल वैवस्वत मन्वन्तर से १६०० वर्ष पश्चात् आता है। इस प्रकार भी वैवस्वत मनु का समय ई० के ४००० वर्ष पूर्व ही आता है और उधर वैवस्वत मन्वन्तर से २००० वर्ष पूर्व अर्थात् आज से ८००० वर्ष पूर्व वेदों की तिथि भी उपयुक्त बैठती है।

मनुस्मृति

जर्मन विद्वान् निष्को ने वाइविल और मनुस्मृति की तुलना में अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'मनुस्मृति की रचना में मनु ने जिस विवेक बुद्धि का परिचय दिया है वह वाइविल की अपेक्षा कहीं बढ़कर है।'

अनेक विद्वानों की राय है कि मनुस्मृति का असली रूप आजकल पाये जाने वाले रूप से भिन्न था। तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी आदि संहिताओं में मनुविहित धर्मशास्त्र का उल्लेख हुआ है और उसकी प्रशंसा में यहाँ तक कहा है कि 'मनु के वचनामृत औपधि के समान गुणकारी हैं।' इससे पता चलता है कि मनु ने धर्मशास्त्र का प्रणयन बहुत पहिले कर लिया था। विद्वानों की गवेषणाओं से पता चलता है कि मनुविहित मनुस्मृति का असली रूप मानव धर्मसूत्र के रूप में हुआ था जिसका संबंध कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से था।

मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप चारह अध्यायों में विभक्त है। आद्योपान्त अनुष्टुप् छन्द की रचना है। धर्म-जिज्ञासु ऋषिवरों की प्रेरणा से मनु ने लोक-कल्याणार्थ समय-समय पर जिन प्रवचनों की पुण्य सृष्टि की उन्हीं का सङ्कलनमात्र मनुस्मृति है। कुछ समयानन्तर प्रवचन का उक्त कार्य अपने योग्य शिष्य भृगु को सौंपकर महर्षि मनु एकान्त जीवन की खोज में अन्तर्धान हो गये और शेष कार्य संपन्न करने में ऋषिवर भृगु लोक के नाम धर्म का संदेश देने में निरत हो गये। वास्तव में मनुस्मृति भृगुवंशीय आचार्यों की लोकोपकारी गवेषणा का ही फल है। अशेष जीवन की व्याख्या एवं उसके नाना रूपों की सर्वज्ञता मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थ, सोलह संस्कार, पञ्च महायज्ञ, चार आश्रम, चतुर्वर्ण और कर्तव्यत्रय, इन्हीं की सीमांसा मनुस्मृति में की गई है। और इससे अछूता कोई भी सामाजिक कर्तव्य शेष नहीं, जिसका उल्लेख इनमें न हुआ हो। संपूर्ण जीवन का ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस, दोनों की सिद्धि मनुधर्म के पारायण से प्राप्त हो जाती है।

व्यापकता और ख्याति

स्मृतिग्रन्थों में धर्म शब्द से उस व्यापकता का बोध होता है, जिसके अन्तर्गत अंग्रेजी के रिलिजन और ला, दोनों का समावेश हो जाता है। धर्मशास्त्रों में धार्मिक नियमों के अतिरिक्त राजनीतिक और सामाजिक नियमों का भी विधान है। अंग्रेजी के 'रिलिजन' शब्द से केवल धर्म का ही बोध होता है तो 'ला' शब्द से केवल राजनीतिक एवं सामाजिक नियमों पर दृष्टि जाती है; किन्तु एक ही धर्म के अन्तर्गत उक्त दोनों 'रिलिजन' और 'ला' आ जाते हैं। धर्मग्रन्थों की रचना बहुत

प्राचीन काल से ही होने लगी थी। मनुस्मृति से बहुत समय पूर्व आपस्तम्ब और बौधायन सूत्रों की रचना हो चुकी थी। लगभग इसी समय के समीप गौतम और वशिष्ठ सूत्रों का भी निर्माण हो चुका था। मनुस्मृति पर अनेक टीकाएं भी लिखी गयीं, जिनमें नवम शताब्दी की मेघातिथि की और ग्यारहवीं शताब्दी की गोविन्दराज की टीकाएं प्रसिद्ध हैं।

मनुस्मृति अपने पूर्ववर्ती सभी धर्मग्रंथों का निचोड़ है। सम्मान, दयाति और प्रचार की दृष्टि से, आज तक के लगभग सभी धर्मग्रंथ मनुस्मृति के पीछे हो जाते हैं। यमा, जावा, माली और फिलिपाइन, जिस एक ही देश में छः सौ द्वीप हैं, मनुविहित धर्म-व्यवस्था का प्रचार था। सन् १९३० में प्रकाशित 'फिलिपाइन और भारत' नामक पुस्तक में डा० राय का कहना है कि 'यहाँ की राजसभाओं में कानूनों के आदि निर्माता के रूप में मनु के चित्र लगे हुये हैं।' जावा और बोर्नियो में भी कुछ दिन पूर्व हिन्दू राजाओं का राज्य रहा है। स्पेन के अधिकार से पूर्व यहाँ मनु की शासन-व्यवस्था का ही प्रचार था। कम्बोडिया के पश्चिम में थाईलैंड, जिसका प्राचीन नाम 'हारावन्ती' भी था, हिन्दू-धर्म का प्रधान केन्द्र रहा है। डा० ग्राहम ने अपनी पुस्तक 'श्याम' में लिखा है कि 'चारह-तेरह वर्ष के बालकों का शिक्षामुण्डन-संस्कार हिन्दुओं के उपनयन संस्कार के ठीक अनुरूप है। मुसलमान तक भी इस संस्कार से उपनीत होते हैं।' अमेरिका में तो हिन्दू-संस्कृति का बड़ा आदर रहा है। माया, इन्का और आस्तिक जाति की शिक्षा-प्रणाली अपिकुल शिक्षा-प्रणाली से मिलती है। अन्येष्टि-संस्कार, जन्मोत्सव, विवाह-संस्कार, प्रसूतिका-गृह में अग्नि-स्थापन आदि विधियाँ हिन्दू-संस्कारों से पर्याप्त साम्य रखती हैं। श्री चमन-लाल ने अपनी 'हिन्दू-अमेरिका' पुस्तक में लिखा है कि 'हो सकता है

अमेरिका भी अन्य देशों की भाँति प्राचीन समय में हिन्दुओं का ही एक उपनिवेश रहा हो और ईसाई धर्म के व्यापक होने से पूर्व वहाँ हिन्दू-संस्कृति का ही प्रचार रहा हो ।’

स्मृतिकार मनु ने आज से हजारों वर्ष पूर्व विश्व को एक जुनौती दी थी कि वह भारत के तपःपूत ऋषियों के आचार-विचार से कुछ शिक्षा अवश्य ले । वास्तव में मनु की यह धारणा विश्व के संबंध में, मानवता के संबंध में, आदर्श कही जा सकती है । हिन्दुओं की प्राचीन शासन-व्यवस्था, राज्य-नियम और न्याय-पद्धति को महत्ता देते हुये महाशय लूर्ड जेकोलियट ने अपनी पुस्तक ‘हिन्दुस्तान की बाइबिल’ में महर्षि मनु की उक्त लोकोपकारी वाणी का समर्थन करते हुये लिखा है कि ‘मनुस्मृति वह नींव है जिसपर मिस्री, ईरानी, यूनानी और रोमन के न्याय और नियमों का भव्य प्रासाद खड़ा है । यूरोप की आधुनिक न्याय-भावना पर मनु का विशेष प्रभाव लक्षित होता है ।’

स्पष्ट है कि मानवता के पुनरुत्थान में महापुरुष मनु ने जिस शाश्वत गति से स्फूर्ति प्रदान की है वह भारतीय इतिहास में और विश्व के इतिहास में युग-युगान्तर तक अमर रहेगी ।



विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ

गंभीर मनन और एकाग्र चिन्तन करने के उपरान्त ज्ञात होता है कि विश्व के महाप्राण मनस्त्वियों में समान रूपसे जिस अन्तःप्रेरणा के दर्शन होते हैं, वह है उनका सत्यानुभव एवं उनकी सौन्दर्यानुभूति; जिससे प्रेरित होकर उन्होंने मानवता की तह में तिरोभूत शाश्वत सत्य और व्यापक सौन्दर्य को अपनी कलाभिलाषा का चिरन्तन विषय बनाया। सत्य और सौन्दर्य की इसी अनवरत आकांक्षा ने कला को जन्म दिया। यही कारण है कि विभिन्न देश-काल में अवतरित हमारे असामान्य प्रतिभासंपन्न महाकाव्यों में एक ही अन्तःप्रेरणा के दर्शन होते हैं। वाल्मीकि, वेदव्यास, होमर और मिह्टन विश्व-साहित्य की ऐसी ही अमर

विभूतियाँ हैं, जिनके महामानस सौन्दर्य और सत्य की एकान्त जिज्ञासा के फलस्वरूप एक ही भावधारा में तरंगायित हैं। शताब्दियों के सुदीर्घ व्यवधान के बावजूद भी आज हम उनकी कृतियों में एक ही अंतः प्रेरणाके दर्शन पाते हैं।

वाल्मीकि.

भारतीय वाङ्मय में महर्षि वाल्मीकि की स्वरूप-कल्पना बड़े पूज्य भाव से की जाती है। वाल्मीकि भारत के ही आदिकवि नहीं, अपितु विश्व के कान्याकाश में उनका ओजस्वी प्रकाश सर्वत्र देदीप्यमान है। उनकी व्यापक अनुभूति ने साहित्य में जिन नयी प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया, चतुर्दिक बड़े पूज्यभाव से उनका स्वागत किया गया। सांसारिक स्वार्थलिप्साओं से सर्वथा दूर अरण्यों में जीवन बिताने वाले भारतीय मनस्वियों के तपःपूत अन्तःकरण प्राणिमात्र की कल्याण-कामना से आतुर थे। इसीलिये उनकी कला एकदेशीय न होकर उसमें प्राणिमात्र की आत्मा आप्यायित है। महाकवि का हृदय जिस महावेदना से एक दिन आन्दोलित हुआ था, वह थी क्रौंच-मिथुन की असह्य विरह व्याकुलता, जिसे निष्ठुर व्याध ने विफल कर दिया था। कवि-हृदय की उसी चिरंतन 'आह' ने ही कविता को जन्म दिया।

'रामायण' महाकाव्य महाकवि वाल्मीकि का ही नहीं, अपितु वह विश्व-साहित्य का अमर स्मारक है। महापुरुष राम के विराट् स्वरूप में सत्य और सौन्दर्य की ऐसी लोकोत्तर अवतारणा महर्षि की सधी लेखनी ही कर सकने में समर्थ हुई है। जीवन की सुगम और दुर्गम भावानुभूति का साक्षात्कार 'रामायण' के शब्द-स्वरूपों से किया जा सकता है। आदि कवि की यह भावानुभूति राम की दैहिक

विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ

चित्तवृत्तियों में फूट कर उस महाप्रयाण की ओर अग्रसर है, जिसकी एकान्त विधान्ति आध्यात्मिक जीवन के मोड़ में निहित है।

वेदन्यास

वेदन्यास भारतीय कथा-साहित्य का आदि प्रणेता हैं। व्यापक कथा-साहित्य की प्रकृति यशस्वी कलाकार वेदन्यास की वाणी में अन्तर्निहित है। मानवीय जीवन के विराट् स्वरूप की कल्पना और मानसिक चित्तवृत्तियों का वैचित्र्य कथाकार व्यास की बृहत्कथाओं में बिखरा हुआ है। भगवान् वेदन्यास का असामान्य व्यक्तित्व विश्व के विचारकों के लिये आदि काल से ही एक महान् प्रेरणा का विषय बना रहा। व्यास की वाणी ने यावज्जीवन सरयान्वेषण और सौन्दर्योपासन में ही अपनी इयत्ता समझी। लोक-भावना एवं आतीय संस्कारों की अभिवृद्धि व्यास की विचार-धारा में साकार हो गयी है।

‘महाभारत’ महाकाव्यकार व्यास की वह अमर कृति है, जिसकी गणना विश्व के उन महाकाव्यों की कोटि में की जाती है, जिनकी जटिल सृष्टि कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म और पाप-पुण्य की विचारणा में एकाग्र है। इस विश्व-विश्रुत महाकाव्य की तह में मानवीय जीवन के बुध्दं अहंमन्यताएँ भी सन्निहित हैं और उन पर विजय प्राप्त करने के उपाय भी। दैहिक और दैविक जीवन का ऐसा सुन्दर समन्वय यदि किसी दूसरे काव्य में देखने को मिलता है, तो ग्रीस के अमर काव्य ‘इलियड’ में। ‘महाभारत’ और ‘इलियड’ ऐसे रत्नहार हैं, जिनमें जीवन की समग्र शक्तियों को घटोर कर पिरो दिया गया है। इस महाकाव्यद्वय में देश-काल की अत्यधिक दूरी के होने पर भी विचारों का इतना तारतम्य विस्मयोत्पादक है। वेदन्यास और होमर की कला में सत्य और सौन्दर्य का उभयविध स्वरूप समन्वित है।

होमर

‘इलियड’ महाकाव्य के रचयिता महाकवि होमर युग-युगान्तर तक हमारी साहित्यिक चेतनाओं को स्फूर्ति प्रदान करता रहेगा। उसकी वाणी में मन को वशीभूत कर देने वाली विचित्र संमोहकता है। होमर सृष्टि-सौन्दर्य का पिपासु है। उसकी इसी अद्भुत विशेषता और पारदर्शी कल्पना ने ही उसको विश्व के अमर कलाकारों की कोटि में लाकर खड़ा कर दिया है। उसकी कला में जीवन का निष्पन्द है और है काव्य-पिपासुओं को सन्तुष्ट कर देने की असाधारण रसिकता। उसके महाकाव्य-द्वय ‘ओडसी’ तथा ‘इलियड’ उस व्यापक भावुकता के श्रोतक हैं, जीवन भर जिसकी निःश्रेयस सिद्धि के लिये उसने घोर साधना की। दोनों के कथानक ऐतिहासिक हैं एवं शैली प्रतीकात्मक; किन्तु उनके मूल में एक ही प्रेम तत्व की प्रधानता है। यूनान की ख्यातनामा सुन्दरियाँ पेनीलोप और हेलेन सौन्दर्य और प्रेम की साक्षात् मूर्तियाँ हैं। विश्व को वशीभूत कर देने वाली होमर की इन रूपसी नायिकाओं के चरित्रों में एक अद्भुत सम्मोहकता है। लोक-जीवन का स्पर्श करने वाली होमर की उपमाएँ भी काव्य-सौन्दर्य के सर्वथा अनुरूप उतरी हैं। उसने अपनी वन्द आँखों से पार्थिव तथा अपार्थिव जगत का वास्तविक अनुभव किया है।

‘इलियड’ महाकाव्य का कथानक ग्रीक का ट्रोजन युद्ध इतिहास की अविस्मरणीय घटना है, जैसे ‘महाभारत’ का कुरुक्षेत्र। शक्तिशाली द्राय नरेश के राजकुमार ने स्पार्टा के स्वामी मेनीलास की परम सुन्दरी पत्नी हेलेन का उसी भांति अपहरण किया जैसे साध्वी सीता का हठधर्मी रावण ने और देवी द्रौपदी का चीरहरण कुत्सित दुःसाशन ने। ट्रोजन युद्ध में देवताओं ने अवतरित होकर वैसे ही मेनीलास की

विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ

सहायता की, जैसे राम पक्ष की वानर सेना ने और पाण्डव पक्ष की श्रीकृष्ण ने। सीता, द्रौपदी और हेलेन की करुणा का तीनों महाकवियों ने समान रूप से हृदयग्राही चित्रण किया है। राम, पाण्डव और मेनीलास का विराट् पौरुष चित्रित करना ही इस काव्यत्रयी का विषय है।

मिल्टन

सोलहवीं शताब्दी की क्रान्ति यूरोप के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इस शताब्दी में नवीन का प्राचीन से, तर्क का विश्वास से और विज्ञान का काव्य से जो देशव्यापी द्वन्द्व छिड़ा हुआ था, मिल्टन की कला पर समान रूप से उसका प्रभाव पड़ा। 'कोमस्ता' नामक नाटक में इसी द्वन्द्व की छाया सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। 'पैराडाइज लास्ट' मिल्टन की अमर कृति है। इसमें दिखाया गया है कि आदम और ईव की प्रणयकहानी मानवीय जीवन की आदि कहानी है। सर्पवेशी शैतान पाप का प्रतीक है, जो कि आदम और हौआ का प्रेममय दाम्पत्य विनष्ट करने पर जुला है। किन्तु अन्त में विजय प्रणय की ही दिखाई गयी है।

महाकवि मिल्टन ने अपने घृद्ध एवं निराश जीवन की नेत्रहीन दशा में हृदय की ज्योति को प्रज्वलित कर तीन महाकाव्यों की रचना की—पैराडाइज रीजेंड, सेमसन एगनिस्टीज और पैराडाइज लास्ट। 'पैराडाइज लास्ट' मिल्टन की सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसकी गणना विश्व-विश्रुत महाकाव्यों की कोटि में की गयी है। प्रणय और सौन्दर्य की ऐसी लोकोत्तर अवतारणा विश्व के इने-गिने काव्यों में ही हो सकी है। मिल्टन ने अपनी स्फुट रचनाओं में मुक्तक छन्दों का आश्रय लिया है। गीतिकाव्य के क्षेत्र में ऐसी रचनाएँ अनुपम बन पड़ी हैं। संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास ने जिस योग्यता से गीतिकाव्यों की

रचना की है, मिल्टन के छन्दों में भी वह अद्भुत शालीनता विद्यमान है ।

इस प्रकार वाल्मीकि, व्यास, होमर और मिल्टन ऐसे सुदृढ़ स्तम्भ हैं, जिन पर विश्व-वाङ्मय का विशाल भवन आधारित है । इन महाप्राण पुरुषों ने समय-समय पर अवतरित होकर जिन लोकोत्तर प्रवृत्तियों की अवतारणा की है, उनसे हमारी साहित्यिक चेतना युग-युगान्तर तक अनुप्राणित होती रहेगी एवं हमारी प्रतिगति में तथा हमारे अन्तर्द्वन्द्व में हमें समुचित मार्गप्रदर्शन करती रहेगी । अवश्य ही उनके काव्यों के श्रेयस और प्रेयस अनन्तकाल तक मानवता की हित-चिन्तना में अपना योग देते रहेंगे और उनकी शाश्वत वाणियाँ विश्व के अन्तराल में सतत गुंजायमान रहेंगी । युग अनन्त के अन्धकार में विलीन हो जायेंगे, किन्तु माँ भारती के इन सपूतों की यशोगाथा यावच्चन्द्रदिवाकर संसार में जीवित रहेगी ।



व्याकरणशास्त्र का प्रणयन

भारतीय वैज्ञानिकों का मत है कि आर्य-भाषा से प्रसूत पूर्वी शाखा की दो भाषायें—संस्कृत और जेन्द अवेस्ता ही यहाँ की मूल भाषायें हैं, जिनके बोलने वाले क्रमशः भारतीय और ईरानी हैं। यही कारण है कि जेन्द अवेस्ता और संस्कृत में बहुत कुछ मौलिक साम्य है। संस्कृत का प्राचीनतम रूप आसुरी भाषा के नाम से अभिहित है, जिसमें ऋग्वेद की रचना हुई। भाषा का जो रूप वैदिक काल (ई० पू० ४००० से २५०० तक) में था, ब्राह्मणकाल (ई० पू० २५०० से १४००) में आकर उसने अपना पुराना चोला घड़ला और तदनन्तर हम देखते हैं कि उसका परिमार्जित स्वरूप निरन्तर विकसित और

अग्रसर होता गया। ब्राह्मणकाल भाषा की दृष्टि-से संक्रान्तिकाल रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत की मध्यकालीन भाषा है। इसके बाद सूत्रकाल (ई० पू० १४०० से ५००) का आरम्भ होता है और इस काल में भाषा का एक व्यवस्थित सुथरा, निखरा रूप सामने आता है। पुराणकाल (ई० पू० ५०० से गुप्त काल तक) में तो भाषा का परम्परागत स्वरूप सर्वथा नये युग में समाहित होकर अपने सुदूर-भविष्य के नव-निर्माण में सुतरां अग्रसर होता गया। भाषा की इस युग-परम्परा का निर्माता उसका व्याकरण ही है।

व्याकरण की उपयोगिता

यह सत्य है कि भाषा का निर्माण और उसका विकास व्याकरण की अपेक्षा नहीं रखता; फिर भी किसी साहित्य को चेतना प्रदान करने वाला उसका व्याकरण ही होता है। जिस भाषा का अपना कोई नियम और निजी प्रणाली ही नहीं उसका साहित्य अपने व्यक्तित्व के विकास में समर्थ नहीं हो पाता। किसी भी साहित्य का प्रतिनिधित्व उसका व्याकरण ही करता है। जिस भाषा का व्याकरण जितना ही सर्वांगीण होगा उसका साहित्य भी उतना ही सम्पन्न एवं व्यापक होगा। विश्व की जितनी भी उन्नत कही जाने वाली भाषायें हैं उनमें संस्कृत का अपना एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि उसका व्याकरण इतना व्यापक और समृद्ध है कि संसार की बहुत कम भाषाओं के व्याकरण में उतनी सर्वांगीणता का समावेश हो पाया है। पाणिनि व्याकरण पर जब विख्यात वैयाकरण यूरोपीय विद्वान् सर मोनियर विलियम्स की दृष्टि पड़ी तो उन्होंने सहसा पाणिनि व्याकरण को दुनियाँ के नाम एक चुनौती स्वीकार करते हुए कहा पाणिनि व्याकरण से बढ़कर विश्व की

किसी भी भाषा में व्याकरण ने कभी ऐसे नियम बनाये ही नहीं।
इसके एक-एक सूत्र से भारी विस्मय होता है।

महर्षि यास्क

भारतीय वाङ्मय को सुसंपन्न करने में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे तपःपूत महर्षियों ने अपनी पारदर्शी प्रतिभा के यत्न पर अपनी संस्कृति के अर्जन-वर्जन में अपने एकान्त जीवन की जिन विनोदताओं का दर्शन कराया है वे विश्व-विश्रुत हैं। ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल चिन्तन-मनन आदि सभी क्षेत्रों में उनकी व्यापक दृष्टि समान रूप से पड़ी है। कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जो उनकी दृष्टि से ओझल रहा हो।

यह विषय विवादास्पद है कि भाषा-शास्त्र का अभ्युदय कब और किस तिथि से आरम्भ होता है, किन्तु इसना तो निश्चित ही है कि वैदिक युग के उत्तर भाग में ही व्याकरणशास्त्र पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो गया था। वेदों के छः अंगों—शिष्टा, कर्त्तर, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष में व्याकरण को भी एक स्थान दिया गया है। भाषाशास्त्र की दिशा में प्रथम प्रयोग महर्षि यास्क का 'निरुक्त' उल्लेखनीय है। विक्रमीय सम्वत् लगभग सात सौ वर्ष पूर्व महर्षि यास्क का समय सभी देशी-विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है। यास्क ने अपने 'निरुक्त' नामक ग्रन्थ की रचना में दो बातों को लक्ष्य माना—सर्व प्रथम तो उन्होंने भाषा को बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से कठिन वैदिक शब्दों को चुनकर उनकी ध्युरपत्ति की और तदनन्तर व्युत्पादित पारिभाषिक शब्दावली को भिन्न-भिन्न देशज रूपों में समन्वित कर उसको स्पष्टतर बना दिया।

'निरुक्त' में यद्यपि यास्क के अनेक पूर्ववर्ती वैयाकरणों एवं निरुक्तकारों का उल्लेख हुआ है, किन्तु उनकी सम्पूर्ण रचनाओं का अभाव

अभी तक उसी प्रकार जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही अनेक ग्रन्थकारों ने उद्घरण स्वरूप अनेक आचार्यों का उल्लेख भी किया है, किन्तु यास्क ने पूर्ववर्ती प्रायः तीन ही आचार्य-शाकटायन, गार्ग्य और औदुम्बरायण ही ऐसे हुए हैं जिन्होंने भाषाशास्त्र की दिशा में मौलिक प्रयोग किये।

मुनित्रय

संस्कृत-साहित्य में व्याकरण शास्त्र के प्राणभूत तीन आचार्य पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि-ही ऐसे हुये हैं जिन्होंने इस दिशा में महत्वपूर्ण अभावों की पूर्ति की। उक्त तीनों ही आचार्य मुनित्रय के नाम से अभिहित होते हैं। महर्षि पाणिनि अन्य दो आचार्यों से, रचना एवं कालक्रम की दृष्टि से, अग्रणी है। विक्रमी पॉच-सौ वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनि का समय आता है। पाणिनि के एक-सौ वर्ष बाद महर्षि कात्यायन और तदनन्तर दो-सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर महर्षि पतञ्जलि का स्थितिकाल है। इन तीनों वैयाकरणों की स्तुति में आचार्य दण्डी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में तो यहाँ तक कह डाला है कि 'संस्कृतं नाम दैवीवागन्वाक्याता महर्षिभिः' उक्त मुनित्रय के द्वारा आख्यात एवं दृष्ट होने से ही देववाणी संस्कृत नाम से अभिहित हुई।

पाणिनि ने सूत्र रूप में सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र को आठ अध्यायों में विभक्त कर 'अष्टाध्यायी' के नाम से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में भी उद्घरण रूप से कुछ आचार्यों, जैसे शाकटायन, भारद्वाज आदि का नाम आया है। पाणिनि ने अपने इस अपूर्व ग्रन्थ की सृष्टि कर व्याकरण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों को युग के सामने उद्घाटित किया। वस्तुतः पाणिनि का जन्म ऐसे समय हुआ था

जब कि एक ओर तो परम्परागत भाषा का अन्यवस्थित रूप लोगों की वाणी में अपना स्थायी अधिकार जमा रहा था ओर दूसरी ओर आगे के लिये साहित्य-सर्जना का मार्ग ही अपरिमार्जित भाषा के कारण अवस्त-सा हो गया था। पाणिनि का आविर्भाव होते ही साहित्याकाश की उठती हुई आँधी अन्धकार के गर्त में विलीन हो गई और भाषा का आँगन एक बार पुनः जगमगा उठा।

पाणिनि के सौ-वर्ष उपरान्त ही वेदों की प्रत्येक शाखा पर एक-एक 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें स्वर, छन्द के विधानों के अतिरिक्त व्याकरण-सम्बन्धी नियमों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया। इस कोटि के ग्रन्थों में महर्षि शौनक का 'श्रग्वेद प्रातिशाख्य' तथा महर्षि कात्यायन का 'यजुःप्रातिशाख्य' विशेष उल्लेखनीय है। कात्यायन ने उक्त प्रातिशाख्य ग्रन्थ के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर चार्तिक लिख कर शेष कार्य को सम्पन्न किया। महर्षि कात्यायन ने पाणिनि के बाद की एक शती में व्यवहारोपयोगी नये शब्दों की निष्पत्ति के लिए कुछ चार्तिकों की रचना कर शेष भाग की समाप्ति की।

कात्यायन के बाद महर्षि पतञ्जलि का उदय हुआ और उन्होंने अपना प्रसिद्ध एवं विशालकाय ग्रन्थ 'महाभाष्य' लिखकर 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों की विस्तृत सीमांसा की। इस ग्रन्थ की रचना से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि पाणिनि व्याकरण के अनेक रहस्यों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा और तदनन्तर ही पाणिनि व्याकरण विद्वानों का बोधगम्य विषय बना। महाभाष्यकार ने पाणिनि की अगाध-ज्ञान-गारिमा का मन्यन कर अपनी सुविस्तृत व्याख्या द्वारा 'अष्टाध्यायी' की श्रेष्ठता को लोक के सम्मुख स्पष्ट किया। इन्हीं आचार्यों को लक्ष्य मानकर आगे अनेक

व्याकरण-ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें वरदराजाचार्य कृत 'लघुकौमुदी', भट्टोजि दीक्षित कृत 'सिद्धान्त-कौमुदी' तथा 'प्रौढसनोरमा' आदि का नाम उल्लेखनीय है ।

मध्यकालीन आचार्य

तदनन्तर पाँच-सौ वर्ष तक व्याकरण-ग्रन्थों की उक्त शृङ्खला टूट गई और इस बीच लिखा गया कोई भी व्याकरण-ग्रन्थ देखने को नहीं मिलता । विद्याव्यसनी गुप्त-सम्राटों के प्रश्रय में कला-कौशल, काव्य, नाटकादि की खूब ख्याति हुई, किन्तु व्याकरण की दिशा में यह युग भी मौन रहा । कुछ समय बाद शर्वशर्मा ने 'कातन्त्रव्याकरण' लिखा । यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ । इसका कारण यह था कि अब तक व्याकरण की दिशा में जो कार्य हुए थे वे प्रायः विद्वानों की ही विचारणा के विषय रहे । सर्वसाधारण को लक्ष्य मानकर एवं प्रारम्भिक विद्यार्थी के उपयुक्त अभी तक कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं रचा गया था । यह कार्य 'कातन्त्रव्याकरण' द्वारा सम्पन्न हुआ । अनिवार्य रूप से प्रत्येक पण्डित परिवारों में इस ग्रन्थ का पठन-पाठन हुआ ।

इस ग्रन्थ पर लगभग आठ टीकायें लिखी गईं । ई० सन् ६०० के लगभग आचार्य चन्द्रगोमिन् ने 'चान्द्रायण' नामक ग्रन्थ लिखा । ख्याति एवं प्रचार की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कम आदर हुआ । इसी प्रकार सन् ६६० के आसपास जयादिस्थ और वामन ने पाणिनि व्याकरण पर सरल, सुबोध भाषा में भाष्य लिख कर 'काशिकावृत्ति' के नाम से उसका प्रकाशन किया । भर्तृहरि के ग्रन्थत्रय—वाक्य-प्रदीप, महाभाष्य-दीपिका तथा महाभाष्य-त्रिपदी—से व्याकरण के विद्यार्थियों का मार्ग ही प्रशस्त हो गया ।

व्याकरणशास्त्र का प्रणयन

६५

ई० सन् ९०० के पूर्वार्द्ध में जैन आचार्य द्वाकटायन ने एक महत्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ लिखा, जिसका कि अभी तक केवल उल्लेख ही मिलता है। इसी समय के आसपास एक दूसरे जैन आचार्य हेमचन्द्र ने राजा सिद्धराज की अमरता में एक विशालकाय ग्रन्थ 'सिद्धहेम' लिखा, जिसका उस समय बड़ा समादर हुआ। ई० सन् १२०० के उत्तरार्द्ध में पण्डित ज्वालादत्त शर्मा ने उणादि सूत्रों पर टीका लिखी इसके अतिरिक्त वामन ने 'लिंगानुशासन' हेमचन्द्र ने 'उणादिसूत्रवृत्ति', 'धातुपाठ' 'धातुपारायण' 'धातुमाला' तथा 'शब्दानुशासन' नामक ग्रंथ लिखे; वर्धमान ने 'गणरत्नमहोदधि' और भासविज्ञ ने 'गणकारिका' आदि ग्रन्थ लिखे।

समीक्षण

पाणिनि के समकालीन अनेक शब्द कात्यायन के समय में पहुँच कर अर्थभेद से व्यवहृत होने लगे। ऐसे ही कात्यायन ने जिन शब्दों को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है पतञ्जलि ने उन्हीं शब्दों को दूसरे अर्थ में प्रयोग किया। उदाहरणार्थ पाणिनि के समय में 'यवनानी' शब्द यवन की स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु एक-सौ-वर्ष बाद ही कात्यायन ने उक्त 'यवनानी' शब्द का प्रयोग 'यवनास्त्रिप्याम्' यवनों की लिपि के लिए व्यवहृत किया। ऐसे ही पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में भिन्न-भिन्न देशज शब्दों की व्याख्या करते बताया कि सौराष्ट्र प्रदेश में यमनार्थक 'हम्मति' क्रिया का प्रयोग पूर्वी प्रदेश में 'रंहति' क्रिया से किया जाता था तथा उसी अर्थ में आर्य लोग 'गच्छति' क्रिया का व्यवहार करते थे।

पाणिनि व्याकरण में लोकोक्तियों का जितना प्रयोग हम देखते हैं उससे कहीं बढ़कर वे 'महाभाष्य' में मिलते हैं। इससे यह भी ध्वनित

होता है कि उस समय जन-भाषा का सर्वसाधारण रूप संगृहीत भाषा ही थी, जिसको रय हॉकने वाला साधारण व्यक्ति भी अनायास ही सीखने लगता था और निम्न कोटि का जुझावा तक 'यद्वाच करोमि यदि चाक्षरं करोमि' यत्न करने पर उद्भूत काव्य ही रचना अनायास ही करने में अपने को समर्थ माना था ।



महर्षि पाणिनि

संस्कृत-वाङ्मय में भाषा-शास्त्र के प्राणभूत तीन आचार्यों—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि—में महर्षि पाणिनि का प्रमुख स्थान है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने इन महर्षियों को 'मुनित्रय' के नाम से स्मरण किया है। अन्य दो आचार्यों की अपेक्षा पाणिनि का व्यक्तित्व कुछ मौलिक विशेषताएँ लिये हैं। भाषा-शास्त्र के आदि गुरु के रूप में इन महर्षिवर की घाणी सहस्रों वर्षों से संस्कृत के वाङ्मयाकाश में चतुर्विध शब्दायमान है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं बहुमुखी व्यक्तित्व का विश्व के इतिहासकारों ने आदर किया। सहस्रों वर्ष पूर्व भाषा-व्यवस्था की जो रूपरेखा इन्होंने निर्धारित की थी, देश-काल के

उत्थान-पतनों को पारकर आज भी अपने उसी मूल में वह स्थित है। व्याकरण-शास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में पाणिनि का व्यक्तित्व युग-युगांतर तक अमर है एवं उनकी भारती का यशोगान शब्दातीत है।

पाणिनि भी उन्हीं भारतीय मनीषियों में हैं, जिन्होंने आत्म-प्रशंसा के भय से अपनी महत्तम कृतियों को किसी महापुरुष या देवता-विशेष के नाम लिख कर अपनी व्यक्तित्वजिज्ञासा का स्वयं ही निराकरण कर दिया है। इतना शुभ है कि पाणिनि ने अपनी कृतियों को किसी के नाम न लिखा; किन्तु अपनी जीवन-संघन्धी जानकारी के लिए उन्होंने अपने आसजनों की परम्परा को अविकल दुहराया है।

विद्वान् इतिहासकारों एवं समालोचकों ने आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य से पाणिनि के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाला है उसके अनुसार प्रतीत होता है कि पाणिनि का जन्म उस संक्राति-काल में हुआ जब कि भाषा के क्षेत्र में बड़ा वितण्डावाद मचा हुआ था। यह वैदिक युग और लौकिक युग का संधिकाल था।^१ सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री निरुक्तकार यास्क (७०० वि० पू०) ने इस क्षेत्र में जितने भी सुधार किए, किन्तु एक सुनिश्चित भाषा-व्यवस्था निर्धारित करने में वे भी सक्षम न हो सके। इस महान्तम कार्य की पूर्ति पाणिनि ने की।

पाणिनि का वास्तविक नाम अज्ञात है। 'त्रिकाण्डशेषकोश' के रचयिता पुरुषोत्तमदेव ने पाणिनि के पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालंकि, शालातुरीय और आहिक ये छः पर्यायवाची नाम दिये हैं। म० म० शिवदत्तशर्मा ने 'शालंकि' शब्द के आधार पर पाणिनि के पिता का नाम 'शलंक' लिखा है। पंडित हरिदत्त के अनुसार 'पाणिन-स्यापत्यं पणिनो युवा पाणिनिः' पाणिनि के पिता का नाम 'पाणिन' सिद्ध होता है। पतंजलि ने पाणिनि को 'सर्वासर्वपदादेशा दाक्षी-

पुत्रस्य पाणिने.' दार्ढ्यापुत्र नाम से स्मरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि की माता दक्ष-कुल से सम्बन्धित थी। महाभाष्यकार ने उन्हें ढालातुरीय कह कर अभिहित किया है। विद्वानों की रोज के अनुसार यह ढालातुर ग्राम पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में है। संग्रहकार व्याडि को दाक्षायण कहा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संभवतः ये पाणिनि के मामा थे। छंदःशास्त्र के रचयिता आचार्य पिंगल पाणिनि के छोटे भाई थे। स्मृतिकार देवल ऋषि इनके पितामह थे।

पाणिनि के गुरु का नाम महेश्वर बताया गया है; किन्तु यह भ्रम है। पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष था, जैसा कि सोमदेव (११वीं शताब्दी) ने 'कथामरिस्तागर' में स्पष्ट किया है—

अथ कालेन वर्षस्य शिष्यघर्षो महानभूत् ।

तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत् ॥

इसी प्रकार पाणिनि के भी अनेक शिष्य बताये गये हैं, जिनमें कौरस का नाम प्रामाणिकता से उपलब्ध होता है। आचार्य उद्भट का कहना है कि 'सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरप्रणान्निग्रथान्पाणिने.' पाणिनि का शरीरान्त सिंह द्वारा हुआ। इससे पूर्व 'पंचतन्त्र' की कथा में भी सिंह द्वारा पाणिनि का शरीरान्त होना वर्णित है।

पाणिनि के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों का यदा मतभेद है। विविध विद्वानों की सम्मति इस प्रकार है। महापंडित मैक्समूलर पाणिनि का स्थितिकाल ३५० ई० पू० मानते हैं तो वेबर ४०० ई० पू०, गोल्डस्टकर, भांडारकर तथा उपाध्याय ५०० ई० पू०। इसी प्रकार घेलवेलकर एवं कीथ ६००, ७०० ई० पू०, रजवाड़े और वैद्य ८००, ९००, ई० पू०, पंडित सत्यव्रत सानध्रमी २४००० ई० पू०, श्री युधिष्ठिर मीमांसक २८०० वि० पू० और श्री वासुदेवशरण अग्रवाल 'अष्टाध्यायी' के सम्यक् मंथन के अनन्तर पाणिनि को युधिष्ठिर एवं परीक्षित का

समकालीन सिद्ध करते हैं और साथ ही यह भी स्पष्ट करते हैं कि युधिष्ठिर और परीक्षित का समय आज से लगभग ४३६९ वर्ष पूर्व था ।

अष्टाध्यायी और अन्य रचनायें

‘अष्टाध्यायी’ पाणिनि का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य का अमर स्मारक है । इस विश्व-विश्रुत रचना की समकक्षता अनुलनीय है । यही कारण है कि विख्यात वैयाकरण सर मोनियर विलियम्स ने ‘अष्टाध्यायी’ की स्तुति में कहा है—‘विश्व में आज तक व्याकरण के क्षेत्र में इतने बढ़कर नियम कभी नहीं बने । ‘अष्टाध्यायी’ का एक-एक सूत्र गागर में सागर की भाँति विस्मयोत्पादक है ।’

‘अष्टाध्यायी’ में कुल मिलाकर ३९६३ सूत्र हैं, जो क्रमानुसार आठ अध्यायों में विभक्त हैं एवं प्रत्येक अध्याय चार-चार पादों में वर्गीकृत है । यह ग्रन्थ जहाँ व्याकरण के क्षेत्र में अद्वितीय है वहाँ सहस्रों वर्ष पूर्व का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक और सामाजिक ज्ञान भी इसमें समाविष्ट है ।

लगभग ३० पूर्ववर्ती धुरन्धर भाषा-शास्त्रियों के ग्रन्थों का अनुशीलन-परिशीलन करने के पश्चात् ‘अष्टाध्यायी’ की रचना की गई है । इसी प्रकार पाणिनि के उत्तरवर्त्ती सभी व्याकरण-ग्रन्थ ‘अष्टाध्यायी’ के आधार पर रचे गये हैं । ‘अष्टाध्यायी’ में भाषाशास्त्र का आदि और अन्त समाहित है । इस दृष्टि से महर्षि पाणिनि व्याकरणशास्त्र के सर्व-प्रथम और सर्वान्तिम यशस्वी भाषाविद् सिद्ध होते हैं ।

इसके अतिरिक्त पाणिनीय तन्त्र, ग्रन्थाहार सूत्र, अष्टाध्यायी-वृत्ति, शिक्षा और गणपाठ आदि ग्रन्थ पाणिनिकृत और बताये जाते हैं । सुभाषित-ग्रन्थों में भी पाणिनि के नाम से अनेक ललित पद पाये जाते हैं, जो समीक्षकों की दृष्टि से गीतिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं ।



महर्षि कात्यायन

संस्कृत-साहित्य में भाषाशास्त्र के प्राणभूत तीन आचार्य—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ही 'मुनित्रय' के नाम से अभिहित होते हैं। व्याकरणशास्त्र के इन आदि निर्माताओं का बहुश्रुत व्यक्तित्व भारतीय इतिहास की पुनीत धरोहर है। सहस्रों वर्षों की सुदीर्घ दूरी के बावजूद हमारे उक्त महर्षिवरों की अमर वाणियां आज भी हमारे चिन्तनशील मस्तिष्कों को नित नवीन प्रेरणाएं प्रदान कर रही हैं। महर्षि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों में भाषा की अनन्त शक्ति को जैसे एकीभूत कर दिया है। इसी प्रकार सूक्ष्म-मति महर्षि कात्यायन ने व्याकरण की उन वारीकियों को समेट कर अपने 'वार्तिकों' में समन्वित

किया, जिन तक पाणिनि का भी ध्यान न जा सका था। तदनन्तर विशालबुद्धि पतंजलि ने पाणिनि और कात्यायन की प्रतिभा को अपने 'महाभाष्य' द्वारा उद्घाटित किया।

महामुनि कात्यायन व्याकरणशास्त्र के द्वितीय आचार्य हैं जिनके महाव्यक्तित्व से भाषाशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी सुपरिचित है। पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' के ख्यातनामा सात वार्तिककारों का इतिहासकारों ने उल्लेख किया है जिनके नाम हैं क्रमशः कात्य या कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाढव, व्याघ्रभूति और वैयाघ्रपद्य। कात्यायन को काल-क्रम और रचना-नैपुण्य की दृष्टि से अपने क्षेत्र में प्रमुख स्थान प्राप्त है। 'त्रिकाण्डशेषकोश' के उल्लेखानुसार कात्यायन के कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, मेधाजित् और वररुचि ये पर्यायवाची नाम उपलब्ध होते हैं। 'क्या-सरित्सागर' के रचयिता ने जिस श्रुतधर नाम से कात्यायन का उल्लेख किया है, श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' में सिद्ध किया है कि वह नाम वार्तिककार कात्यायन का न होकर किसी भिन्न व्यक्ति का है।

'स्कंदपुराण' में कात्यायन के पिता का नाम याज्ञवल्क्य, पुत्र का नाम वररुचि और इन्हें कात्यायनशाखा का प्रवर्तक माना गया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने सात वार्तिककारों में केवल कात्यायन कृत 'वार्तिक-पाठ' को ही प्रामाणिक माना है और उनको दाक्षिणात्य कह कर अभिहित किया है। इधर श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने इतिहास ग्रंथ में अनेक पुष्ट प्रमाणों को आधार मान कर सिद्ध किया है कि 'अष्टाध्यायी' के सुप्रसिद्ध वार्तिककार का नाम वररुचि कात्यायन तथा उनके पिता का नाम कात्यायन और पितामह का नाम याज्ञवल्क्य था। सायणाचार्य भी 'ऋग्भाष्य' के उपोद्घात में इसी मंतव्य की ओर

संकेत करते हैं कि 'तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिकैर्दशितः।' 'महाभाष्य' की कतिपय पंक्तियों से यह भी विदित होता है कि वररुचि कात्यायन दाक्षिणात्य थे।

काल-निर्धारण की दृष्टि से अन्य महापुरुषों की भांति इनके संबंध में भी विद्वानों का मतभेद है। सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' और छेमेन्द्र कृत 'बृहत्कथामंजरी' के अनुसार कात्यायन के उपाध्याय का नाम वर्ष था; साथ ही यह भी विदित होता है कि पाणिनि, व्याडि, इंद्रदत्त आदि उनके सहपाठी थे। आज हमें निश्चित रूप से इतना तो विदित हो ही गया है कि पाणिनि और कात्यायन न तो सहाध्यायी थे और न समकालीन; किन्तु यह बात अलग है कि कात्यायन का स्थितिकाल ठीक-ठीक क्या था।

पाणिनि और कात्यायन का विवेचन करते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल सिद्ध करते हैं कि कात्यायन मनु से ३००, ४०० वर्ष पूर्व हुए हैं और डा० अग्रवाल के ही अनुसार मनु का समय ईसा के आठ-सौ वर्ष पूर्व ठहरता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार कात्यायन का स्थितिकाल ई० पू० ११००, १२०० वर्ष प्राचीन बैठता है। दूसरी ओर श्री मीमांसक जी के मतानुसार कात्यायन विक्रमी के लगभग २७०० वर्ष पूर्व वर्तमान थे। इस संबंध में उन्होंने इतिहासकारों की भूलों का स्पष्टीकरण करते हुए स्पष्ट किया है कि वार्तिककार कात्यायन उदयन-पुत्र वहीनर से प्राचीन थे। इसके अतिरिक्त जायसवाल, कीथ, उपाध्याय और पांडेय आदि कतिपय इतिहासकार कात्यायन का स्थितिकाल ४००, ५०० ई० पू० निर्धारित करते हैं।

जो भी हो, इतना तो सुविदित ही है कि कात्यायन एक असामान्य प्रतिभा के भाषा-शास्त्री हुए हैं। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के प्रति

अविश्वास करने का हमारे पास कोई कारण विद्यमान नहीं है। व्याकरण-शास्त्र के निर्माण में जिन त्रिकालजीवी मौलिक तथ्यों को उन्होंने उद्भावित किया है उनकी सत्यता आज भी प्रमाणित है।

कात्यायन कृत रचनाओं का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है। भाषा-शास्त्र के निर्माण में इन महर्षिवर के वार्तिक एक महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करते हैं। महाभाष्यकार ने कात्यायन के वार्तिक को 'अष्टाध्यायी' जितना सम्मान प्रदान कर उनके महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है। इन वार्तिकों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है, इसका भी संतोषजनक निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है। वार्तिक पाठ के अतिरिक्त 'स्कंद पुराण' में श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्लयजुः पार्षद आदि सूत्रग्रंथों का प्रणेता भी कात्यायन को ही माना गया है। महर्षि शौनक कृत 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' के अनंतर स्वर, छंद और व्याकरण सम्यन्धी विधानों पर यथेष्ट प्रकाश डालने वाला ग्रंथ 'कात्यायन प्रातिशाख्य' बताया जाता है।

इन कृतियों के अतिरिक्त महाराज समुद्रगुप्त ने एक श्लोक 'कृष्ण-चरित' में इस प्रकार लिखा है :

न केवलं व्याकरणं पुपोप दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः ।
काव्योऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥

अर्थात् कात्यायन पाणिनि की साँति कविकर्मदक्ष भी थे और इस संबंध में उनके नाम से 'स्वर्गारोहण' काव्य का उल्लेख किया जाता है। मुक्तक काव्य के क्षेत्र में कात्यायन कृत 'भ्राजसंज्ञक श्लोक' सुभाषित ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। मद्रास से प्रकाशित 'चतुर्माणी' में 'उभय-

सारिका भाण' कात्यायन कृत ही बताया जाता है। संप्रति जो 'कात्यायन स्मृति' प्राप्त है, वह विद्वानों की दृष्टि में कात्यायन की मूल रचना नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कात्यायन का प्रामाणिक आत्मपरिचय प्राप्त करने के लिए अभी पर्याप्त अनुशीलन की आवश्यकता है।



भाष्यकार पतञ्जलि

व्याकरणशास्त्र के तीन ख्यातिमान् निर्माताओं में पाणिनि और कात्यायन के अनन्तर पतञ्जलि का नाम आता है। महासुनि पतञ्जलि का युग सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग है। इस युग में कला और साहित्य की चतुर्मुखी उन्नति हुई है। धर्म, दर्शन, स्मृति, कोश, काव्य, महाकाव्य, नाटक प्रभृति विविध विषयों पर असंख्य कृतियाँ इसी युग में निर्मित हुई हैं। पतञ्जलि जैसे महामनस्वियों का जन्म किसी भी राष्ट्र के लिये महान् गौरव की बात है। भारतीय साहित्य के ये मूल्यवान् रत्न उसकी अमर संपत्ति हैं। विश्व के विद्वान् समालोचकों एवं प्राच्यविद्या-विशारदों ने सिद्ध कर दिया कि पतञ्जलि की अवतारणा भारतीय साहित्य के लिये एक उल्लेखनीय घटना है।

कोशकारों एवं प्राचीन ग्रन्थकारों ने पतञ्जलि को गोनर्दीय, गोणिका-पुत्र, नागनाय, अहिपति, फणिभृत्, चूर्णिकार और पदकार आदि विविध नामों से अभिहित किया है। निर्विवाद नहीं कहा जा सकता है कि ये सभी नाम पतञ्जलि के हैं; फिर भी इतना तो सुविदित ही है कि आदि के दो नामों को छोड़कर शेष पाँच नामों को ग्रन्थकारों ने पतञ्जलि के पर्याय में ही प्रयुक्त किया है।

पतञ्जलि का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने में सत्यसे थड़ी कठिनाई उसके नाम की अनेकरूपता के कारण होती है। 'योगसूत्र' का रचयिता पतञ्जलि, 'महाभाष्य' का रचयिता पतञ्जलि, 'लौहशास्त्र' का निर्माता पतञ्जलि और 'चरक' का प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलिविषयक नाम-रूप की एकात्मकता इतनी जटिल है कि उसको सुलझाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। कुछ समालोचकों का अभिमत है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि, महाभाष्यकार पतञ्जलि से सर्वथा पृथक् एवं स्थितिकाल की दृष्टि से भी योगसूत्रकार, महाभाष्यकार से कई शताब्दी पूर्व ठहरते हैं। उधर 'पतञ्जलिचरित' के उल्लेखानुसार 'सूत्राणि योगशास्त्रे' 'योगशास्त्र' के सूत्रों का रचयिता महाभाष्यकार ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार लौहशास्त्रकार एवं महाभाष्यकार के संबंध में भी कतिपय विवाद प्रचलित हैं; किन्तु सामान्य मत दोनों को अभिन्न मानने के पक्ष में है। 'पतञ्जलि-सूत्रवृत्ति' के रचयिता भोज, नागेश भट्ट एवं भावप्रकाशकार का मत है कि महाभाष्यकार और चरक का प्रतिसंस्कर्ता एक ही व्यक्ति है। चक्रपाणि के 'पतञ्जलि-महाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः' इस कथन से, कि महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा चरक का प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलि दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं, उक्त मत की और भी पुष्टि हो जाती है।

पतञ्जलि का स्थितिकाल

महामुनि पतञ्जलि के स्थितिकाल के सम्यन्ध में भी विद्वानों के अनेक मत हैं। 'महाभाष्य' में 'आख्यायिका वासवदत्तिका'—'वासव-दत्ता' की आख्यायिका—का उल्लेख ही नहीं हुआ है, अपितु 'तत्र लालायित फगो' पतञ्जलि का उस पर विमुग्ध होना भी वर्णित है। इस दृष्टि से पतञ्जलि वासवदत्ताकार सुयंशु (छठी शताब्दि) के उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। इस संबंध में विचारणीय यह है कि ख्यातनामा महाकाव्यकारों—कालिदास, भारवि—की रचनाओं का 'महाभाष्य' में कहीं उल्लेख तक नहीं हुआ है जैसा कि 'सिद्धांतकौमुदी' के रचयिता भट्टोजि दीक्षित ने किया है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी सुयंशु के अभिभावक ने उक्त प्रसंग को पीछे से जोड़ दिया है।

एक दूसरा पक्ष 'भगवता पिंगलेन पाणिन्युजेन' के आधार पर 'पिंगल' शब्द से पतञ्जलि का अनुमान लगाकर उनको पाणिनि का पूर्ववर्ती सिद्ध करता है; किन्तु नामसादृश्य मात्र से इस मत को यिना निराकरण हुए मान्यता नहीं दी जा सकती है, क्योंकि 'पिंगल' शब्द वेदों से लेकर परवर्ती काव्य महाकाव्य आदि ग्रन्थों में विविधार्थवाची प्रयुक्त हुआ है।

महाभाष्य के अन्तर्साक्ष्यों से विद्वानों को यह मत सर्वमान्य है कि पतञ्जलि पुण्यमित्र शुंग के समकालीन और संभवतः उनके सभा-पंडित भी थे। कविराज अत्रिगुप्त के अतिरिक्त यही मत प्रचलित है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी पूर्व ये महापुरुष वर्तमान थे। इस दृष्टि से इतिहास-प्रसिद्ध पुण्यमित्र के पाटलिपुत्र वाले अश्वमेध यज्ञ में पतञ्जलि की उपस्थिति भी स्वीकार्य हो सकती है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक पतञ्जलि को लगभग १२०० वि० पू० मानते हैं।

पतञ्जलि की जन्मभूमि और उनके जीवनचरित की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये अभी पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। 'महाभाष्य' की पंक्तियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने उन्हें काश्मीर-देशीय बताया है, तो कुछ ने पाटलीपुत्रनिवासी।

'महाभाष्य' महामुनि पतञ्जलि की अमर रचना है। आचार्य शंकर कृत वेदांतसूत्रों के भाष्यानन्तर भाष्यकार्य के रूप में पतञ्जलि का 'महाभाष्य' संस्कृत-साहित्य का ही नहीं, अपितु संसार का महान् आश्चर्य है। यह भाष्य-ग्रंथ महर्षि पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' के चार हजार सूत्रों में से केवल १०१३ गंभीरतम सूत्रों को छाँटकर उन पर लिखा गया है। व्याकरणशास्त्र के जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों की समीक्षा इस विशालकाय भाष्य-ग्रन्थ में की गई है, गंभीर विचारक ही उस महत्त्व को जान सकते हैं। 'शब्द' की व्यापकता पर प्रकाश डालकर 'स्फोटवाद' के एक नए दार्शनिक सिद्धांत का भी यह आदि ग्रन्थ है, जिसके अनुसार अनादि, अनन्त, अणुण्ड, अज्ञेय और स्वयं-प्रकाश्य आदि नाना विशेषणों से युक्त शब्दप्रत्यय ही सृष्टि का आदि कारण माना गया है।

'महाभाष्य' के अतिरिक्त चरक का प्रतिसंस्कर्ता, किसी अज्ञातनामा कोशग्रन्थकार, सांख्यशास्त्रकार, रसशास्त्रकार और लौहशास्त्रकार के रूप में भी पतञ्जलि का उल्लेख हुआ है। इतिहासकार श्री भीमांसक जो पतञ्जलि कृत तीन रचनाओं—सामवेदीय निदानसूत्र, योगसूत्र और महाभाष्य—को ही विशेष महत्त्व देते हैं। मैक्समूलर भी योग-दर्शन और निदानसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानते हैं। समुद्रगुप्त कृत 'कृष्णचरित' के अनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्वरचित योगसूत्रों के निदर्शनार्थ एक 'महानन्द काव्य' की भी रचना की थी।

इस प्रकार भाष्यकार पतञ्जलि के व्यक्तित्व का अध्ययन करने के उपरान्त प्रतीत होता है कि संस्कृत-साहित्य को समृद्ध बनाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । उनकी अमर कृतियों ने उनके व्यक्तित्व को चिरस्थायी बना दिया है ।



कालिदास का मेघदूत

महापण्डित मखिलनाथ सूरि ने मेघदूत की व्याख्या करते हुए संजीवनी टीका में लिखा है—‘सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देश कविः कृतवान्’ अर्थात् भगवती सीता के समीप हनुमान् द्वारा भेजा गया भगवान् रामचन्द्र का संदेश ही प्रकारान्तर से महाकवि ने मेघदूत का विषय चुना है। वाल्मीकि रामायण में वर्णित अनेक स्थल उक्त दृष्टिकोण का समर्थन भी करते हैं। कुछ भी हो, चाहे कथानक भागवत से लिया गया हो; अथवा वह रामायण या किसी इतर काव्य से अनुप्राणित हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भावुक कवि की दिव्य प्रतिभा मेघदूत की रचना कर दिग्-दिगन्तर में अवश्य स्फुरित

हुई है। संसार के साहित्याकाश में विरले ही ऐसे दिनमणि उदित हुए हैं, जिनके प्रकाश से एकबारगी ही विश्व का कोना-कोना जगमगा उठा। महाकवि कालिदास की भारती ने जिस क्षेत्र को चुना उसी में चार चाँद लगा दिए।

कथानक

मेघदूत का सम्पूर्ण कथानक दो भागों में विभक्त है—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। दोनों भागों में कुल मिलाकर १३० श्लोक हैं। पूर्वमेघ में अलकापुरी से लेकर रामगिरि तक पहुँचने का मार्ग-वर्णन है। उत्तरमेघ में अलकापुरी का सौन्दर्य, हिमाच्छादित हिमालय का धिम्बग्राही चित्रण, विरह-विधुरा अपनी प्रियतमा की आतुरवशा और अन्त में अपने भावी-मिलन का सन्देश वर्णित है। अलकापुरी के स्वामी कुवेर ने अधिकारप्रमत्तता के कारण अपने सेवक यक्ष को एक वर्ष के लिए देश-निर्वासन का कठिन दण्ड दिया। अपनी नव-विवाहिता नवोदिता पत्नी को छोड़कर असहाय यक्ष सुदूर मर्त्यलोक में आकर एक वर्ष तक अपने पापों का प्रायश्चित्त करता है। नागपुर के उत्तरकोण में स्थित रामगिरि की पहाड़ी को सर्वथा योग्य समझकर यक्ष ने वहाँ रहकर अपने वियोग के दुखदायी दिनों को बिताने की सोची; किन्तु आठ मास के बाद घलाव दवाई हुई उसकी विरह-व्यग्रता को आषाढ़-श्रावण के जलदों ने द्विगुणित बल से उभाड़ दिया।

ढोलते हुये कदम्बनिकुञ्ज, हरे घास की विस्तृत भूमि-शय्या, इन्द्र वधुओं के मोद भरे अभियान, जलदों की सघन पंक्तियाँ, मन्द पवन के मादक झोंके, मेघों का गर्जन-तर्जन, अथक धाराप्रपात और धीव-धीव में विद्युत् के कौंधियाँ देने वाले प्रकाश ने विरही यक्ष के प्राणों को आकुल कर दिया। फलस्वरूप उन आकुलित प्राणों से फूट पड़े दर्द-भरे

प्रणय-मस्तक, जिनका आरोह-भवरोह मेघदूत की पंक्तियों में रंजित है।

विरही यक्ष की मनोव्यथा के उक्त मस्तक महाशक्ति की प्रतिभा के अनुपमेय विशेषण हैं। कभी-कभी तो मन्देह होने लगता है कि कालिदास ने मेघदूत का रूप रचकर प्रकारान्तर से अपना ही विरह तो निषेदित नहीं किया है ! युद्ध भी हो, मेघदूत का आमूल बल्लेश्वर जिस पटुता से निर्मित किया गया है वह समादरणीय अवश्य है। मेघ की परोपकारिता को छप्पयर यक्ष कहता है—‘हे मेघ, इस संसार में भट्टे गुहरीं तो एक पेसे हो जो संसार के तपे हुए प्राणियों को छंदक पहुँचाते हो। ऐसी रमणियों, जिनके पति परदेश में हों, नला तुम्हारी प्रतीक्षा में क्यों न उतावली होंगी ? मैया मेघ, मेरे छोटने के दिनों को गिनती हुई तुम्हारी पतिव्रता भामी अनायास ही तुम्हें मिल जायगी। और देखो, विरहजर्जरित यह या तो दैवार्चन करती तुम्हें दिगाई देगी या मेरा कारुणिक चित्र अंकित करने में व्यस्त होगी; अथवा पिंजरस्थ सारिका से पूछती होगी कि हे मधुरिके, तुम्हें भी अपने प्रियतम की कभी याद आती है ?’

अपने एक-एक हृदयोद्गारों को मेघ से निषेदित करते हुए अमागे यक्ष के प्रति कृष्ण उमड़ आती है। उसके सन्देशों में, उसके विरह में, उसकी एकान्त दशा में अन्तर भर आता है। अपनी प्रियतमा की प्रत्येक प्रिय वस्तु उसको अपने प्राणों से भी प्रिय लगती है। वह मेघ से कहता है—‘हे सौम्य, मेरे घर के निकट ही कल्पवृक्ष के दक्षिण कोण में एक वावड़ी है। उस वावड़ी के तीर पर बनावटी एक पहाड़ है। मित्र, वह पहाड़ मेरी घर वाली की अति प्रिय है; इसलिये जब मैं तुम्हें बिजली के साथ कभी देखता हूँ तब मेरा धकेला एवं उदास मन उस पहाड़ को सामने सजा-सा देखता है।’

गीतिमाधुर्य

गीति-काव्य के चित्रण में महाकवि कालिदास विशेषरूप से सचेष्ट हुये हैं। ऋतुसंहार पदच्छतुओं का संघात है। उसमें गीतों का ऐसा प्रांजल सामंजस्य हुआ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। मेघदूत में भी गीतों की ऐसी स्वच्छन्द शैवालिनी प्रवाहित हुई है जिसके अवगाहन से पाठक रस-विभोर हो जाते हैं। विप्रलम्भ शृंगार का सहारा लेकर मेघदूत में गीतों की अनन्य सृष्टि हुई है। वियोग की एकान्त विह्वलता में यक्ष के आन्तरिक उद्गार गीति-काव्य के क्षेत्र में अनुपमेय बन पड़े हैं। उनमें गीतों की तन्मयता तो है ही, साथ में भावों का अन्तःसौन्दर्य और व्यथाजनित प्रलाप भी उसका अपरिहार्य विशेषण बन गया है। यक्ष की विरह-दशा को इस काव्य में बड़ी मार्मिकता से व्यंजित किया है। यक्ष कहता है—‘हे मेघ, अलकापुरी में पहुँचकर तुम देखोगे कि मेरी विरह-विधुरा यक्षणी मेरे वियोग में मलिन वसन पहिने, अंक में वीणा धारण किये मेरे नामाश्रयों को गुणगुनाती मूर्छित दशा में आँसू बहाती होगी।’

जीवन की एकदेशीय तन्मयता में अन्तरात्मा का एक पक्षीय उद्घाटन मेघदूत की पंक्ति-पंक्ति में यत्र-तत्र अलसाया हुआ है। आचण-भादों के मेघों का गर्जन-तर्जन सुनकर प्रियतमा की याद हृदय को आन्दोलित कर देती है और तब अनायास ही यक्ष गुणगुना उठता है—सुदूर देश में अरक्षित अपनी प्रेयसी का असह्य वियोग।

मधुरकण्ठकूजित कामिनी की भाँति मेघदूत की कोमल कान्त पदावली पाठक को झकझोर देती है। विप्रलम्भ शृंगार का सहारा लेकर करुण भावों की ऐसी समान्त व्यंजना बहुत कम काव्यों में देखने को मिली है। मेघदूत के मन्दाक्रान्ता छन्द संगीत के स्वर-माधुर्य में अनुपम बन पड़े हैं। पद्यों का माधुर्य और परिमित पदावली में भावों की विशुद्ध व्यंजना मेघदूत की विशेषता है।

प्रकृति-चित्रण

मेघदूत में मानवीय प्रलय के साथ प्रकृति के साथ सौन्दर्य का वाता संयोग हुआ है। रत्नगिरि की पहाड़ियों का प्रकृति-सौन्दर्य, गर्ग की विविध दृश्यावलिषों पर्यटन की भौतिक शक्तों के सामने नाचने लगती हैं। उत्तम और धर्मगुरु की अनुभव जोभा हृदय की आकृष्ट कर देती हैं। वर्षाप्रसू में भीम दाम्पत्यमत्ता यत्नधरा का धर्मगत मन्त्र-मन्त्र विरहीजनों की दूता की शोचनीय बना देता है। प्रकृति की हृदयधनुषी रेखाओं में मेघदूत का आकृष्ट स्नेह संज्ञित है। अतिशय परम्य जीवन बिताने वाला यह प्रकृति के विविध स्तों की देखकर बार-बार मेघों में अपना पिरह निवेदन करता है। हिमालय की तराईयों में स्थित देवदाय के विनाष्ट हृदय अपने सुगन्धित एवं शीतल पवन से वाता यक्ष के मन्त्राव की दूर करने में सहायक होते हैं। प्रकृति का सादर्य विपत्ति के जिनों में तथे मान्यता देता है। प्रकृति का हर पहाड़, महातु-भूति में भौतिक सहायक उमरा साथ देता है। भावना के संस्तरों में उमके निवेदन की उमकी साक्षी यक्षी के पास पहाड़ों में सहायक होते हैं।

मेघदूत में वर्णित प्रकृति-सादर्य यक्ष की स्थितिगत प्रेम-परिधि में निष्कटकर विनय-प्रेम में परिणत हो जाता है। हर पाठक प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता दिखाई देता है। दूताग्रा प्रदेव की लुभावनी प्रकृति, नीच नामक पहाड़ी के रमणीय हृदय, उम्रयिनी का भरपूर सौन्दर्य, धनधान्य अयन्ती का प्रकृति-वैभव, देवगिरि के पहाड़ों की नैसर्गिक चितवन, पद्मावती की रमणीय दृश्यावलिषों, निर्विन्ध्या, गम्भीरा तथा चर्मण्यती आदि नदियों का हृदयप्राप्ती वर्णन आकृष्ट कर देता है।

मेघ को सजीव प्राणी समझ कर यक्ष ने उससे अपने सुख-दुःख निवेदित किये । उसके साथ अपना विनोद और मनोरंजन कर आत्मीयता का नाता जोड़ा । अपने विपत्ति के क्षणों में मेघ को ही एकमात्र साथी समझकर यक्ष ने खुलकर अपने दुःखड़े उसको सुनाये । निष्कर्ष यह है कि इस काव्य में पेड़-पल्लव, नदी-नद, खोह-पहाड़, पशु-पक्षी, जड़-चेतन, सभी के साथ प्रेम का अपरिहार्य नाता जोड़कर प्रकृति-साहचर्य का सुन्दर निर्वाह हुआ है ।

आदर्श प्रेम

मेघदूत की प्रेम-परम्परा आदर्श प्रेम की परम्परा है । उसमें क्षणिक आवेश एवं अस्थायी नशा नहीं । किसी अभिसारिका नायिका की सृष्टिकर छुद्र प्रेम का रोना नहीं रोया गया । इस काव्य में पावन दाम्पत्य-प्रणय का सहारा लिया गया है । यक्ष-दम्पति के प्रणय-निवेदन में मानवीय प्रणय का क्रांत संयोग हुआ है । पतिव्रता गृहिणी और एकनिष्ठ पत्नी-परायण पति लोक-जीवन के धरातल पर अपने विशुद्ध दाम्पत्य-प्रणय के लिए पूजनीय हैं । यही कारण है कि मेघदूत का विरह पाठक और श्रोता दोनों के लिए सहानुभूति का विषय बन जाता है । इसी आदर्श प्रेम-प्रणाली को लक्ष्य कर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—

‘मेघदूत में कालिदास ने आदर्श प्रेम का चित्र खींचा है । उसको विशेष हृदयग्राही और यथार्थता-व्यंजक बनाने के लिए यक्ष की नायक-कल्पना करके कालिदास ने अपने कवित्व-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है । निःस्वार्थ और निर्व्याज प्रेम का जैसा चित्र मेघदूत में देखने को मिलता है वैसा और किसी काव्य में नहीं । मेघदूत के यक्ष का प्रेम निर्दोष है । मनुष्य-प्रेम से ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम की भी उत्पत्ति हो

सकती है। अतएव कालिदास का मेघदूत शृङ्गार और करुण रस से परिप्लुत है तो क्या हुआ, वह उत्तम प्रेम का सजीव उदाहरण है।'

अत्यन्त शृङ्गारी रचना होते हुए भी मेघदूत की प्रेम-प्रणाली वासना-जनित उद्दाम प्रेम से शून्य है। आदर्श दाम्पत्य-प्रेम का चित्रांकन, जिसकी प्रेरणा राम-सीता के दिव्य प्रेम से प्राप्त हुई है, मेघदूत में बड़ी सफलता से चित्रित किया गया है। यह कहता है—'मैया मेघ, तुम देखोगे कि मेरे विरह के दिन से ही मेरी गृहिणी देहली पर जो फूल नित्य रखती चलती है उन्हें धरती पर फैलाकर गिन रही होगी कि अब विरह के कितने दिन बाकी हैं, और जाली से छुनकर आती हुई चन्द्र-रश्मियाँ शीतलता के कारण जब उसके विरह को ठकसाने लगेंगी तब वह अपनी आँसू भरी पलकों को ढक लेगी। मैया मेघ, उस समय मेरी प्यारी ऐसी दिखाई देगी जैसे बदली के दिन धरती पर खिलने वाली कोई अधखिली कमलिनी हो।'

लोकप्रियता

महाकवि कालिदास की सरस्वती ने ही विश्व को सर्वप्रथम दूत-काव्य का सन्देश दिया है। १२ वीं शताब्दी के यशस्वी कलाकार धोयी ने मेघदूत की ही शैली पर 'पवनदूत' की रचना की। इसके अनन्तर दूत-काव्य का मार्ग ही प्रशस्त हो गया। नोमीदूत, हंसदूत, कोकिलदूत और उद्धवदूत आदि सन्देशकाव्यों का ताँता ही लग गया। मेघदूत पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। विदेशों में भी अंग्रेजी, जर्मनी, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं में उसके सरस अनुवाद हुए। महापण्डित मैक्समूलर ने सन् १८४७ में जर्मन भाषा में मेघदूत का सरस पद्यानुवाद किया। महाशय मोनफ्रेच ने तो यहाँ तक कह डाला कि योरप में तो क्या, विश्व में अभी तक ऐसे साहित्य का सर्वथा अभाव है। महाशय एच०

कालिदास का ऋतुसंहार

कालिदास की उपलब्ध सभी कृतियों में विषय की दृष्टि से, भाव-चिन्तन की दृष्टि से, आकार-प्रकार की दृष्टि से 'ऋतु-संहार' का अपना स्थान सबसे अन्त में है। ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त क्रमशः षड्ऋतुओं को छः सगों में निबद्ध कर १५८ श्लोकों में सम्पूर्ण काव्य की समाप्ति कर दी गई है। आरम्भिक रचना होने से 'ऋतुसंहार' यद्यपि कालिदास का बालप्रयास है, फिर भी उनकी भारती को प्रोत्साहित करने का श्रेय भी इसी दुधमुँहें खण्डकाव्य को है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की अन्तर्दृष्टि आरंभ से ही सौंदर्य-निरीक्षण में ही अधिक रमी हुई थी। इस काव्य-खण्ड में नर-प्रकृति के साथ बाह्य

प्रकृति का जो एकांत संयोग व्यञ्जित हुआ है वह इतर काव्यों में, यहाँ तक कि कालिदास की श्रेष्ठतम रचनाओं में भी, नहीं। प्रकृति की नाना मनोरम सुन्दरताओं का हृदयग्राही चित्रण पदश्रुतियों का आश्रय लेकर अनुपम बन पड़ा है। उद्दीपन विभाव के रूप में शृङ्गार के उन्मय-परा-संयोग और विप्रलम्भ—का शास्त्रीय परम्पराओं के साथ-साथ जो निर्वाह किया गया है वह अलंकार-शास्त्रियों की विचारणा का विषय है। कौन जानता था कि कृता-कलेवर 'श्रुतसंहार' की क्षीण पंक्तियों में कालिदास की भारती एक बार मुखरित होकर भविष्य में विश्व-वाङ्मय को अनुप्राणित करने में समर्थ होगी ?

गीतों की सरसता

संस्कृत-साहित्य में गीतिकाव्य का श्रीगणेश कालिदास की दो कृतियों—'मेघदूत' और 'श्रुतसंहार' से ही होता है। 'मेघदूत' गीति के क्षेत्र में यदि अपना कोई जोड़ रखता है तो वह 'श्रुतसंहार' ही है। 'मेघदूत' में जहाँ शृङ्गार का एक देशीय रूप विप्रलम्भ ही लिया गया है, 'श्रुतसंहार' में वहाँ अवसरोचित शृङ्गार के दोनों पक्षों को उपयोग में लाया गया है। 'श्रुतसंहार' पदश्रुतियों का संचात है। उसकी पंक्ति-पंक्ति में कवि ने जीवन का उहाम बेग प्रवाहित किया है, जो युवकों को, प्रेम-विद्वत् घनिताओं को रमयिभोर कर देता है। उसका कारण यह है कि तरुण कवि की तरुणाई से 'श्रुतसंहार' का सारा कलेवर सिक्त है। एक दिन, जब कि कवि की जीवन-यगिया में चसन्तोःसव की धूम मची रही होगी, उसने नव वषू के केनापाश में गुँथा हुआ अशोक पुष्प देखा होगा, आश्रमज्वरी तोर का काम करती रही होगी, अटिक्क ने प्रायश्चा का रूप धारण किया होगा और कोकिल बन्दीजन के रूप में हमका मंदेश हाट-भाट और उत्सव में पहुँचा देता रहा होगा,

जिसको सुनकर सहस्र कोकिलवंटी घनिताओं की स्वर-माधुरी गुंजरित हुए बिना न रही होगी, प्रणय के ऐसे प्रगाढ़ प्रहरों में कवि का युवक हृदय आन्दोलित हुआ होगा और तब उसने दुःखदाई प्रीप्स को छद्म करके कहा होगा:—

प्रजतु तय निदाघः कामिनीभिः समेतो
निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुरेन ।

प्रीप्स-वर्णन

‘ऋतुसंहार’ में पद्मऋतुओं का आरम्भ प्रीप्स-वर्णन से होता है । कोई विरहीजन अपने एकाकी जीवन की वियोग-दशा को सुदूर देश में स्थित अपने एकमात्र अवलम्ब, अपनी प्रियतमा, से निवेदित करता है । उसका आंदोलित हृदय एकएक कल्पना करता है कि गर्मों की तपन मिटाने के लिये ऊँची-ऊँची अट्टालिकायें, जिनके धवल कर्पा गुलाबमाल, केचदा और सुगन्धित चन्दन से सिक्त हों और जहाँ चञ्चल उँगलियों से संकृत घीणा के स्वर-सप्तक निनादित हों । निदाघकाठीन प्रचण्ड सूर्य की रश्मियाँ कामुक हृदय की आकुलता को व्यथित कर देती हैं और तब नीरव चाँदनी रातों में अपनी साध्वी को सम्बोधित कर कोई दूर देशी कहता है—“हे प्रिय, इस ऋतु में रमणियों के उज्ज्वल हारों से सुसज्जित चन्दन पुते उभरे स्तन और महीन वस्त्रों से आवृत सुनहरी करधनी से बँधे नितम्ब भाग, भला मुझीं यताभो, क्यों न मन को चञ्चल कर दें ? मनचली सुकुमारियों की मन्द मुस्कानें किस परदेशी के एकान्त विरह को न उभार देती होंगी ?”

प्रचण्ड प्रीप्स की यातना से वन्य जन्तुओं की दशा शोचनीय हो गई है । गर्म धूप से झुलसा हुआ सर्प फन फैला कर जब फुफ्फुारों लेता है तो फन की छाया के लोभ से मोर उसके निकट घ्राण पाने को

इतराना है। गिर का मादम इन्मा निमित्त यह गया है कि पाग में
 गले हाथी की देवता हुआ भी यह भोगें कर रहा है। उदास
 यन्दों के छद्मदाने हुए गुलाबों की ओर भाग रहे हैं। प्रसन्न भोगों
 के योग में गोगले सेमर के गृहों की राह में गले जंगल में भाग की
 छपटों का घर बना दिया है और प्रसन्न छत्र प्रसन्न भवियों के रंगीने
 मैदानों में भाकर दौक रहे हैं।

वर्षा-वर्णन

“मिथे, देवों, गैदराने में घों के हुए और वरुणा विजलियों की
 चकार्वाच से देवा प्रमित होना है हि कामिनिघों का स्वारा पावस
 समीप ही था गया है। वर्षाओं की पिउ-पिउ गावना से द्रविज जलधों
 के समूह धीरे-धीरे प्यासी धरती की ओर हुए रहे हैं। मोर जपनी
 प्यारी मोरनियों को गले लगा-लगा कर वर्षागमन पर पूरे सदी प्रमा
 रहे हैं। प्रीम से हुलसे मन विमानित की आह में गिरा है।”

“और देवों, साधन, भादों की निमित्त निजामें हुए-धिप कर अपने
 प्रेमियों के समीप जाने वाली कामिनिघों का मार्ग समकती हुई विजलियों
 प्रदर्शित कर रही हैं। अपने प्रियतम की याद में अभीर कोई कमजोरमनी
 बिम्बफल जैसे भारक और कौपल जैसे कोमल ज्वालों से हुए गुनगुनाती
 और गालों को बाँधे हाथ के चल टेके, टकटकी लगाये किसी की प्रतीक्षा
 कर रही हैं। एक ओर तो कलकल करती हुई नदियाँ बह रही हैं,
 हाथियों के छुण्ट मस्तकी में इधर-उधर घूम रहे हैं, हरी-भरी वनस्पती
 में घनजन्तुओं के मोद भरे नृत्य हो रहे हैं जो दूसरी ओर वर्षा के इस
 ठासव को देखकर परदेशी पतियों की चिरद-विह्वल प्रेमावियों हृदय की
 वेदना को दयाये प्रियोग के दिनों को पिता रही हैं। कहीं महीन
 और उजली सादियों से परिवेष्टित रमणियों के नितम्बमाग वर्षा की

‘फुहारों से सिक्त होने के कारण मनचले युवकों की वासनावृत्ति को उभार रहे हैं।’

शरद्-वर्णन

वर्षा के घीत जाने पर शरद् सुन्दरी नवागता रूपवती वधू की भौंति सस्यश्यामला धरती पर अवतीर्ण हो रही है। धवल चन्द्रिका के प्रकाश से निर्मल शरद् की निशाओं में तृपित मन अनेकांत वातावरण की चाह से किसी की तलाश में चञ्चल हो जाता है। ऐसे समय में कामातुर रमणियाँ अपने संगीत सुख को भी हेय समझकर अपने प्रेमियों के एकान्त सहवास के लिये लोक-लज्जा की भी परवाह नहीं कर रही हैं। शरद् के संयोग का आनन्द सखियों का प्रिय विषय बना हुआ है।

दुपहरिया के फूलों से आरक्त तथा पके हुए धानों से लदी धरती की अपूर्व शोभा और ऊपर निरञ्ज आकाश का मनोमुग्धकारी दृश्य वरचस मन को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। प्रातःकालीन बिखरे मुक्ता-घिन्दु, कमल और कुसुद से अभिषिक्त मन्द पवन के स्पर्श मात्र से ही कसक पैदा हो रही है। एक ओर यदि धान की लहलहाती विस्तृत भूमि दृष्टि को बाँध लेती है तो दूसरी ओर हरी घास को चरती हुई गायें तथा स्वच्छन्द विचरते सारस और हंसों के जोड़े मन को मोह लेते हैं।

हेमन्त-वर्णन

शरद् घीता और हेमन्त का उदय होते ही सचेतन-अचेतन, सारी प्रकृति में परिवर्तन हो गया। अब न तो कामिनियों की महीन रेशमी सादियाँ ही दृष्टिगत होती हैं, न रत्नजटित करधनी की शोभा ही नितम्ब प्रदेश धारण किये हुए हैं, न भुजभाग में कंकन ही चमकते नजर आते

हैं और न देरों की पापजनियों की कलह ही अथवा मृत्यु में योग में रही है। अब तो गरम ऊनी पर्वों के आचरण में वेद की सुकुमारता ही ओझस हो गई है।

ईश्वर संकृति में ही जी की हरिमायी के ऊपर भोमविन्दु बाधारण की अकगाई में ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मुक्तियों की सुविश्रुत दायवा बिछाकर धरती ने हेमन्त का स्वागत किया हो। हेमन्तोत्सव नताने हरिणशावरी के समूह और मारमों की पंक्तियों के गनेवाले को एक बार ही आकर्षित किये जा रहे हैं। निरन्तर हिम-प्रपात के कारण पर्वतीय प्रदेशों की परिस्थिति भयलता भयपूर्ण शोभा धारण किये है।

शिशिर-वर्णन

शिशिर अथवा शिशिर के कारण लोग अपने घरों के द्वार बन्द किये घर को धाग की तपन से गरमा रहे हैं। इन दिनों न चन्द्रमा की किरणें ही अर्द्धा लगती हैं, न चन्द्रन का दीप्त छ स्पर्श ही महाप्रकाश होता है, न ऊपर छतों का दायमानन्द ही दृष्टिकर लगता है और नहीं पीले तारों की रात में कोई याद दिलाई देता है।

नवागता पत्नियों के पदान्त आनन्द में निरत युवक लोग अपने-अपने घरों से कई दिन तक यादर नहीं निकलते हैं। इन दिनों विशालापी कामिमियों के कंधों पर फैले केनपाज और स्वर्ण-शोभा जैसी मुखों की सुन्दरता लक्ष्मी का स्वरूप याद दिला रहे हैं।

वसन्त-वर्णन

अनुराज वसन्त के आगमन पर प्रकृति के अणु-अणु में नई रसूति, नई जागृति और नवोत्साह छा गया है। लुभावने दिनों की सुहावनी सर्शों में रसिकजनों के चित्त फसमसाने लगे। सारे वातावरण में

मादकता महकने लगी। झूमती हुई आत्र-मञ्जरियों में कुह-कुह करती कोयल की पुकारें घिरहिणियों की अन्तर्वेदना को उभारने लगीं। एक ओर रमणियों के सुभाषित शृङ्गार की महक से रसलोलुप भ्रमरावली उनके आस-पास मँदरा रही है। कसमसाती चोलियों के ऊपर वासन्ती वर्ण की साक्षियों की फहरन तथा घुंवराले घालों से बँधी वेणी में गुंये गये अशोक के फूल अपूर्व शोभा का द्योतन कर रहे हैं। दुर्बल और पीले अङ्गों से युक्त अलसाई कलिका की भाँति जंमाई लेती खियाँ परदेश गये अपने पति की प्रतीक्षा में दिन गिन रही हैं।

परदेश में जीवन बिताने वाला कोई दूरदेशी ज्यों ही मन बहलाने की चाह से किसी उपचार-विशेष का आश्रय लेता है त्यों ही कोयल के प्यासे ससक और वसन्त सुन्दरियों की घायल कर देने वाली मीठी चितवन उसकी दबी हुई वेदना को द्विगुणित घल से उभार देती हैं। मलयगिरि में दस मास की एकान्त तपस्या में लीन वासन्ती पवन का ईषद् स्पर्श जब वनवासी जीवन में ही उथल-पुथल मचा देता है तब उन चेहरों की क्या दशा होगी जो सांसारिक प्रणय के ऐसे उत्सवों पर अपनी प्रेयसी से अलग, दूर देश में जीवन बिता रहे होंगे ?

‘श्रुतुसंहार’ की विशेषताओं में उसमें वर्णित विषय का कालिदास की लेखनी ने जिस सरलता तथा स्वाभाविकता के साथ चित्रण किया है वह पूरे भावनाओं से प्रेरित होकर किया है। कालिदास के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने पदश्रुतुओं के वर्णन में अपनी कला का श्रेष्ठ प्रदर्शन किया, किन्तु कालिदास का ‘श्रुतुसंहार’ अपनी मौलिकता एवं सरसता में आज तक अपना जोड़ नहीं रखता। अति उच्च भावों के प्रदर्शन में, शैली की श्रेष्ठता में ‘श्रुतुसंहार’ विश्वसाहित्य का अमूल्य रत्न है।



संस्कृत के महाकाव्य

वेद भारतीय घाटमय के सर्वोच्च हैं। उनमें भारतीय जीवन की निम्न शतमुखी विज्ञानशास्त्रों और पदमुखी विचारों का सम्यक् प्रतिपादन हुआ, उसको देखकर अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वेद-विधायक ये महर्षिपरम केषल मंत्रदत्ता ही थे, अपितु काव्यदत्ता भी थे। प्रकृति की अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर जिन वैदिक श्रद्धाओं का उद्गायन उन्होंने किया है, काश्य के क्षेत्र में उनका विशिष्ट स्थान है। महाकाव्य का जो वैभवशाली स्वरूप आज हमारे सामने विद्यमान है, कदाचित् उसकी आधारभित्ति वैदिक काल ही में पड़ चुकी थी। आगे चलकर ब्राह्मण-ग्रन्थों (२५००-१४०० वि. पू.) में वर्णित आख्यानों

संस्कृत के महाकाव्य

१२७

में काव्य के वे वेदकालीन धीज अंकुरित होते दिखाई पड़ते हैं और सूत्रकाल (१४००-५०० वि. पू.) की भाव-घट्टल शैली में वही काव्यांकुर ईष्यपल्लवित होते प्रतीत होते हैं ।

रामायण और महाभारत संस्कृत-साहित्य के दो अमर स्मारक हैं । पश्चिमीय पण्डितों ने 'एपिक' कहकर इन्हीं दो बृहत्-ग्रन्थों की चर्चा की है । भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने 'महाभारत' को तो इतिहास, पूर्वाख्यान के अन्तर्गत माना है और 'रामायण' का आदि महाकाव्य के रूप में उल्लेख किया है । 'महाभारत' भले ही स्वयं एक महाकाव्य न हो; किन्तु संस्कृत के महाकाव्यों का जनक अवश्य है । इसी दृष्टि से विदेशी विद्वानों ने 'महाभारत' को 'एपिक विदिन एपिक' अर्थात् महाकाव्य के भीतर महाकाव्य कहा है ।

संस्कृत के महाकाव्यकारों ने 'महाभारत' के उपाख्यानों की 'रामायण' की शैली में रचना करके दोनों ग्रन्थों की वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर दिया है । इस दृष्टि से 'रामायण' संस्कृत-साहित्य का आदि महाकाव्य और महर्षि वाल्मीकि आदि महाकवि ठहरते हैं । 'रामायण' का रचनाकाल ६०० ई. पू. और 'महाभारत' का अंत्येष्टिकाल ५०० ई. पू. है 'रामायण' एक ही व्यक्ति की कृति है, पर, 'महाभारत' समय-समय पर विरचित अनेक प्रतिभागों का पुञ्जीभूत स्वरूप है ।

'महाभारत' की अंत्येष्टि ही के आसपास सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि (५०० ई. पू.) के नाम राजशेखर (९वीं श.) ने 'पाताळ विजय' या 'जांबवती विजय' नामक महाकाव्य का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह ।

आदौ तु व्याकरणं कान्यमनु जांबवतीविजयम् ॥

पाणिनि की यह महाकाव्यकृति अठारह सर्गों की बताई जाती है,

कृतियाँ—१. कुमारसम्भव और २. रघुवंश—अपने क्षेत्र की अद्वितीय एवं अतुलनीय कृतियाँ हैं। 'कुमारसम्भव' के १७ सर्गों में शिव-पार्वती के परिणय-प्रसंग को लेकर कालिदास ने जिस कवित्वमयी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह वर्णनातीत है। इसी प्रकार १९ सर्गों में समाप्त होनेवाली दूसरी कृति 'रघुवंश' महाकवि की दूरदर्शी दृष्टि एवं सुपरिपक्व प्रज्ञा-कौशल का अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित करती है। 'रघुवंश' में कालिदास की कविता का पूर्ण वैभव व्यंजित हुआ है।

कालिदास के बाद अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ईस्वी) में 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' नामक महाकाव्यों की रचना करके महाकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ाया। २८ सर्गों की महाकाव्य-कृति 'बुद्धचरित' के एक त्रिव्यती अनुवाद (८०० ई०) के रूप में संप्रति १४ सर्ग ही उपलब्ध होने हैं। बौद्ध महाकवि की विशेषता प्रसाद-गुणपरक भाषा, भाव और शैली में विद्यमान है। बुद्धधर्म के सिद्धान्तों का लोक-भ्यापी प्रचार करनेवाला दूसरा १८ सर्गों का महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' अश्वघोष के कविकर्म को बहुत ऊँचा उठा देता है।

तदुपरान्त महाकवि भर्तृहंस (पञ्चम शताब्दी) की उपलब्ध महाकाव्य कृति 'हयग्रीव-वध' के अनन्तर भारवि (षष्ठ शताब्दी) कृत 'किराताशुनीय' का नाम महाकाव्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। प्रस्तुत महाकाव्य की गणना संस्कृत-साहित्य की 'बृहत्त्रयी'—किरात, माघ, नैषध—में की गई है। भारवि की कवित्व-कीर्ति को अनुष्ण बनाए रखनेवाला उनका यह एकमात्र महाकाव्य संस्कृत-साहित्य में अपना अलग स्थान रखता है। इसमें १८ सर्ग हैं। 'महाभारत' के वन-पर्व से इसका कथानक लिया गया है। इस ग्रन्थ में अलङ्कारशास्त्रोक्त नियमों का समुचित निर्वाह किया गया है। व्याकरण-नियमों के साथ-साथ

काव्य-नियमों का ऐसा सुन्दर निर्वाह कम काव्यों में दिखाई देता है। कालिदास और अश्वघोष की अपेक्षा भारवि का व्यक्तित्व सर्वथा स्वतंत्र प्रतीत होता है। इसका बड़ा भारी कारण यह है कि भारवि ने वीर-रस का बड़ा हृदयग्राही चित्रण और अलंकृत काव्य-शैली का सफल वर्णन किया है। 'अर्थ-गौरव' भारवि की सबसे बड़ी विशेषता है।

महाकवि भट्टि (सप्तम शताब्दी का आरम्भ) का 'रावणवध' जिसे 'भट्टिकाव्य' ही के नाम से अमिहित किया जाता है, अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों से कुछ पृथक् विशेषताएँ लिए हुए है। अपने इस महाकाव्य के सम्बन्ध में भट्टि ने स्वयं लिखा है:—

दीपतुल्यः प्रबोधोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।

अर्थात् मेरा यह प्रबन्ध वैयाकरणों के लिए तो दीपक के समान है; किन्तु, दूसरों के लिए अंधे के हाथ की आरसी की तरह है। इसका कारण यह है कि काव्य-रसिकों की अपेक्षा व्याकरण-प्रेमियों के लिए 'भट्टिकाव्य' अधिक उपयोगी है। काव्य की सुकोमल प्रकृति को व्याकरण के निर्मम हाथों द्वारा इस काव्य में ऐसा मसल दिया गया है कि महाकाव्य की जगह वह व्याकरण-ग्रन्थ ही बन गया है।

भट्टि के बाद कुमारदास (सप्तम शताब्दी का मध्यभाग) कृत २५ सर्गों की महाकाव्यकृति 'जानकी-हरण' का स्थान आता है। इसमें राम-कथा को बड़ी ही सुन्दर शैली में वर्णित किया गया है। राजशेखर (नवम शताब्दी) की तो इस महाकाव्य के सम्बन्ध में श्लेषोक्ति है कि 'रघुवंश' की विद्यमानता में भी 'जानकीहरण' करने की कुशलता या तो रावण ही में थी या कुमारदास ही में देखी गई है।

कुमारदास के अनन्तर माघ (सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध) नाम आता है। महाकवि माघ की असामान्य प्रतिभा से कौन संस्कृतज्ञ संस्कृत के महाकाव्य

अपरिचित होगा ? माघ के व्यक्तित्व को अमर बना देनेवाला उनका महाकाव्य 'शिशुपालवध' (माघ-काव्य) विद्वन्मंडली का विनोद-साधन रहता आया है । यही एकमात्र कृति माघ के नाम से आज उपलब्ध है । इस महाकाव्य की गणना 'बृहत्त्रयी' में की गई है । 'किरातार्जुनीय' की भाँति इसका कथानक भी 'महाभारत' से लिया गया है । इसमें २० सर्ग हैं । विश्व समालोचकों का कथन है कि 'माघ-काव्य' में कालिदास जैसी उपमा, भारवि जैसा अर्थगौरव और दण्डि जैसा पद-लालित्य समाविष्ट है—माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।

संस्कृत के महाकाव्यों में सर्वाधिक बृहत्काय ग्रन्थ के रचयिता रत्नाकर (अष्टम शताब्दी) कवि-प्रसविनी काश्मीर-भूमि की देन हैं । इनकी महाकाव्य-कृति 'हरविजय' के ५० सर्गों में भगवान् शंकर द्वारा अंधासुर-संहार की कथा वर्णित है । इसमें ४,३२० श्लोक हैं । माघ के महाकाव्य-व्यक्तित्व को चुनौती देनेवाले इस महाकाव्य में अनेक विशेषताएँ समन्वित हैं । काश्मीर ही के दूसरे महाकवि शिवस्वामी (नवम शताब्दी) कृत 'कप्फिणाभ्युदय' नामक महाकाव्य में शब्दालङ्कारों पर मर्मस्पर्शी प्रकाश डाला गया है । इसके २० सर्गों में लीलावती (दक्षिण) के राजा कप्फिण और श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् का युद्ध वर्णित है । कथानक बौद्ध-आख्यानो से उद्धृत है ।

महाकाव्यों के क्षेत्र में शिवस्वामी के बाद जेमेंद्र (एकादश शताब्दी) कृत 'दशावतारचरित' महाकाव्य का नाम उल्लेखनीय है । यह स्वयं को 'व्यास-दास' लिखते हैं । इसके कारण कदाचित् दो हैं—प्रथम तो इन्होंने भगवान् व्यास की भाँति बहुत रचनाएँ हैं और दूसरे इनकी कृतियों की विशेषता यह रही है कि उनमें नीति एवं शिक्षापरक लोकव्यवहारोपयोगी विचारों की ही 'अधिकता' है । यह भी

काश्मीरी थे। इन्हीं के समकालीन और एकदेशीय महाकवि मंखक की 'श्रीकण्ठचरित' २५ सर्गों की कृति है। इस महाकाव्य की विशेषता यह है कि इसके वर्णन यद्ये ही सजीव एवं रोचक हैं। सुन्दर पद-विन्यास और भावों की कोमलता देखते ही पनती है।

मंखक के बाद महाकवि श्रीहर्ष (द्वादश शताब्दी) कृत 'नैषधीय चरित' का उल्लेखनीय स्थान है। इसकी शब्द-रचना, भाव-विन्यास, कल्पना-चातुर्य और प्रकृति-पर्यवेक्षण काव्य-जगत् की उपादेय विशेषताएँ हैं। इस महाकाव्य के २२ सर्गों में नल-दमयन्ती की कथा वर्णित है। प्रणय-व्यापार का ऐसा सरस और हृदयग्राही चित्रण योड़े ही काव्यों में अभिर्यजित हुआ है। श्रीहर्ष की कविता पर मोहित होनेवाले काव्य-रसिकों का कथन है कि नैषध-काव्य के समस्त माघ और भारवि तक की प्रतिभा निस्तेज हो जाती है—'उदिते नैषधे काव्ये क माघः कच भारविः?' यह महाकाव्य 'बृहन्नयी' की पूर्ति करता है।

महाकाव्यों का अभ्युत्थान-युग महाकवि कालिदास से प्रारम्भ होकर श्रीहर्ष में पर्यवसित हो जाता है। श्रीहर्ष के बाद भी अनेक महाकाव्यों का प्रणयन हुआ; किंतु, उनमें आरम्भल का अभाव है। जैन कवि हरिश्चंद्र (द्वादश शतक) कृत 'धर्मदाम्भ्युदय', कविराज (द्वादश शतक) का 'राघवपांडवीय', घेंकटनाथ (त्रयोदश शतक) का 'यादवाभ्युदय', वस्तुपाल (त्रयोदश शतक) का 'नरनारायणानंद', बालचंद्र सूरि (त्रयोदश शतक) कृत 'वसंतविलास' और देव विमलगणि (सप्तदश शतक) कृत 'हीर-सौभाग्य' महाकाव्य की परंपरा के अस्तोन्मुख चिह्न हैं।

इस प्रकार विदित होता है कि संस्कृत-साहित्य महाकाव्यों के क्षेत्र में कितना संपन्न और उसकी परिधि कितनी व्यापक रही है। संसार की किसी भी शिष्ट और संपन्न भाषा के साहित्य से उसकी तुलना की जा सकती है।



संस्कृत के नाटक

संस्कृत-साहित्य में नाटक-ग्रन्थों की यहलता को देखते हुए अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय मनोपियों ने यदी सन्मयता एवं अधिक प्रयास के साथ इस क्षेत्र में कार्य किया है। संस्कृत-नाटकों के संयन्ध में इतना निर्विवाद कहा जा सकता है कि प्राचीनता और संपन्नता की दृष्टि से विश्व की किसी भी समृद्ध भाषा के नाटक-साहित्य से संस्कृत के नाटकों का कम महत्व नहीं है। संस्कृत-नाटकों में जीवन के जिन द्रव्यमुखी व्यापारों एवं क्रियाकलापों का चित्रण देखने को मिलता है उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। साहित्य-निर्माण के साथ-साथ मन की जिन सूक्ष्मानुभूतियों को भारतीय नाटककारों ने स्पर्श किया है, संस्कृत-नाटकों की वह निजी 'टेक्निक' है।

नानाभावोपसंपत्तं नानापद्धान्तरात्मकम् ।

छोपट्टसानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥

‘नाट्यशास्त्र’ के प्रणेता आप्तार्थ भारत का यहना है कि सार्वजनिक मनोरंजन एवं नानाविध भावनाओं का चोतन नाटक से हो होता है, साथ ही उसमें अपने युग के ऐतिहासिक ज्ञान का भी समावेश रहता है। यही कारण है कि :

नाट्यं भित्तरचेर्जनस्य पटुधाप्येकं समाराधनम् ।

महाकवि कालिदास ने भी नाटक को उस पुनीत संगम की भांति माना है, जिसमें बिना जात-पांत और भेद-भाव के मानवमात्र को एक जैसा अचगाहन सुख प्राप्त होता है।

संप्रति संस्कृत-साहित्य पर प्रकाश डालने वाले इतिहास-ग्रन्थों का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए। इस दिशा में अंग्रेजी अथवा हिन्दी में जो कुछ भी लिखा गया है वह पूर्ण सन्तोषप्रदायक नहीं है; फिर भी जो कुछ प्रयास हुआ है वह स्तुत्य है। इस सन्त्यन्ध में सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर आंग्ल-विद्वानों ने कहीं-कहीं इतनी धमपूरा यातें लिख दी हैं जिन पर किसी भी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता। इधर भारतीय इतिहासकारों अथवा समालोचकों ने आंग्ल-विद्वानों की उन भूलों पर तो अवश्य प्रकाश डाला है; किन्तु उन स्थलों पर अपनी जो धारणाएँ उन्होंने प्रकट की हैं वे भी प्रक्षुब्धपूर्ण एवं अतिरजित-सी हो गई हैं।

इसलिए संस्कृत-साहित्य में नाटकों की प्रामाणिक जन्म-तिथि खोज निकालने की अपेक्षा और बलात् इस मन्तव्य को थोप देने की अपेक्षा कि विदेशों का नाटक-साहित्य भारतीय नाटकों का अनुकरण है, कहीं श्रेष्ठ है कि उसके उपलब्ध स्वरूप से ही लाभान्वित हुआ जाए।

उत्पत्ति-युग

आचार्य भरत की उपलब्ध कृति को सम्मुख रख कर उन्हें ही भारतीय नाट्यशास्त्र का आदि प्रणेता माना जाना चाहिए। नाटकोत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत का कहना है कि सृष्टिकर्ता स्वयं ब्रह्मा ने देवों के आग्रह पर भूलोक के मनोविनोदार्थ पंचम वेद के रूप में नाट्य-वेद की सृष्टि की। इस पंचम वेद के लिए ब्रह्मा को चारों वेदों का सख निकालना पड़ा। ऋग्वेद से उन्होंने संवाद, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का दोहन कर नाटक रूपी नवनीत को निकाल कर देवों को भेंट किया। देव-श्रेष्ठ इन्द्र ने देखा कि देवलोक में इस कला में कोई कुशल नहीं है। अतः उन्होंने यह कार्य मुनिजनों को सौंपा। महर्षि भरत ने अपने सौ पुत्रों को नाट्यकला की शिक्षा दी। स्त्री-पात्रों के लिए अप्सराओं को आमन्त्रित किया गया। कुशल शिल्पी विश्वकर्मा से नाट्यशाला का निर्माण करवाया गया। वही धूमधाम के साथ 'त्रिपुरदाह' और 'समुद्रमन्थन' नाटक अभिनीत किए गए।

नाट्यवेद के निर्माण में आचार्य भरत ने ब्रह्मा द्वारा लिए गए ऋग्वेदीय-संवादों का उल्लेख किया है। ऐसे सूक्तों का सोम-विक्रय के अवसर पर अथवा महाव्रत स्तोम के अवसर पर उपयोग किया जाता था। यम-यमी, उर्वशी-पुरूरवा और सरमा-पणि आदि संवाद-सूक्त इसी कोटि के हैं। बहुत संभव है कि यही सूक्त कालान्तर में नाटकों के रूप में परिणत हो गए हों। वैदिक कर्मकाण्ड में वर्णित अनुष्ठानों से विदित होता है कि धार्मिक कृत्यों के अवसर पर भूक आंगिक अभिनय होते थे। सामवेद तो संगीतपरक है ही। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वेदों में नाटक के तत्त्व विद्यमान थे। नाटक-साहित्य की उत्पत्ति

संस्कृत के नाटक

वैदिक काल में अवश्य स्वीकार्य है, किन्तु उसका परियद्धित एवं विकसित स्वरूप बहुत बाद का लक्षित होता है।

आगे चल कर रामायण (६०० ई० पू०) महाभारत (५०० ई० पू०) और हरिवंश पुराण (५०० ई० पू० लगभग) में नाटक की व्यापकता स्पष्टतर लक्षित होती दिखाई देती है। महर्षि चाण्मीकि ने तो यहाँ तक उल्लेख किया है कि जिस जनपद में राजा नहीं वहाँ नट-नर्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते। रामायण में रंगमंच और नाटक के प्रदर्शन का भी कतिपय स्थलों में उल्लेख हुआ है। महाभारत के वन पर्व में रंगशाला का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। महाभारतकार ने नट, नर्तक और गायक की विविध श्रेणियाँ गिनाई हैं। इसी प्रकार हरिवंशपुराण में भी रामायण की कथा पर आधारित एक नाटक खेले जाने का वर्णन हुआ है।

सुप्रसिद्ध वैयाकरण महर्षि पाणिनि (५०० ई० पूर्व) ने तो नटों की शिक्षा के लिए रचे गए सूत्र-ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पतञ्जलि (२०० वि० पू०) ने 'कंसवध' और 'यलियन्ध' नामक दो नाटकों के अभिनीत होने के प्रमाण उपस्थित किए हैं। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम पूर्व द्वितीय शतक में नाटक मनोरंजन का स्थायी महत्व प्राप्त कर चुके थे। छोटा नागपुर की पहाड़ियों में जिस नाट्यशाला का हाल में ही पता चला है वह ई० पू० द्वितीय शताब्दी की प्रमाणित हो चुकी है।

अभ्युत्थान-युग

संस्कृत-साहित्य में नाटकों का अभ्युत्थान-युग भास से आरम्भ होता है। भास सम्बन्धी विवाद अब अन्तिम रूप से हल हो चुका है और इतिहासकारों की अन्तिम राय इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि भास

का स्थिति-काल ई० पू० चौथी या पाँचवीं शताब्दी है। भास के नाटकों में अनूठी कल्पनाशक्ति एवं रचना-रोचकता सर्वत्र विद्यमान है। उनमें निरर्थक वाग्विस्तार का अभाव और मर्मस्पर्शी उद्भावनाओं का समावेश है। भास कृत १३ नाटकों का क्रम इस प्रकार है : दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच, उरुभङ्ग, मध्यम व्यायोग, पञ्चरात्र, अभिषेक नाटक, बालचरित, अविमारक, प्रतिमा नाटक, प्रतिज्ञायौगंधरायण, स्वप्नवासवदत्त और चारुदत्त। इनके अतिरिक्त 'वीणा वासवदत्ता' और 'यज्ञफलम्' इन दो नाटक कृतियों को भी भास के नाम के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, वस्तुतः जो भास के बहुत बाद में रची गई हैं।

नाटककार के रूप में भास के बाद महाकवि कालिदास का स्थान आता है। विश्व के इतिहास में हलचल मचा देनेवाली महाकवि कालिदास की कृतियों का अपना विशिष्ट स्थान है। विश्व के साहित्याकाश में कालिदास की भारती आज भी उर्वर मस्तिष्क भारतीयों का व्यक्तित्व देदीप्यमान कर रही है। नाटक के क्षेत्र में कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' इन तीन कृतियों का प्रणयन किया है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' कालिदास का ही नहीं अपितु संपूर्ण संस्कृत-साहित्य का उदीयमान रत्न है। प्रेम और सौन्दर्य का जैसा सरस, हृदयग्राही एवं मर्मान्तक चित्रण 'शाकुन्तल' की पंक्तियों में चित्रित किया गया है उसकी तुलना नहीं की जा सकती। जर्मन के महाकवि गेटे की प्रशंसा का यह संस्कृत रूप—

‘स्वर्लोकमूलोकयो—

रैश्वर्यं यदि वाङ्मसि प्रियसखे, शाकुन्तलं सेव्यताम् ।’

कि स्वर्ग और पृथ्वी के ऐश्वर्य का एक साथ उपभोग करना है तो संस्कृत के नाटक

शाकुन्तल का अनुशीलन करो, बहुत ही उपयुक्त है। ई० पू० प्रथम शतक कालिदास का स्थितिकाल निश्चित हुआ है।

तीसरे नाटककार शूद्रक हैं। कुछ इतिहासकारों ने इनको महाकवि कालिदास का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है और कुछ इन्हें ईस्वी की पाँचवीं शताब्दी में निर्धारित करते हैं। इन्होंने 'पद्मप्रामृतक' नामक एक भाण रचना के अतिरिक्त 'मृच्छकटिक' नाटक की रचना की है। 'मृच्छकटिक' की अपनी विशेषता यह है कि उसमें तत्कालीन समाज का वड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। बौद्ध विद्वान् अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) का व्यक्तिव जहाँ एक महाकाव्यकार के रूप में चित्रित है वहाँ नाटक के क्षेत्र में भी उनका 'शारिपुत्र प्रकरण' उल्लेखनीय है। सम्राट् हर्षवर्धन (सप्तम शताब्दी) श्री और सरस्वती के समान रूप से प्रिय थे। इनकी नाटक कृतियाँ 'प्रियदर्शिका', 'रक्षावली' और 'नागानन्द' प्रथम कोटि की कृतियाँ हैं।

संस्कृत-साहित्य की अमर विभूतियों में भवभूति (सप्तम शताब्दी) की असामान्य प्रतिभा से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। भवभूति का क्षेत्र नाटक-रचना तक ही सीमित रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य को वे एक स्थायी वस्तु दे गए हैं। भवभूति ने तीन नाटकों की रचना की है—'महावीर-चरित', 'मालती-माधव' और 'उत्तर-रामचरित'। अन्तिम कृति इनकी सर्वोत्कृष्ट है। 'उत्तर-रामचरित' में करुण रस की ऐसी शैवलिनी प्रवाहित हुई है जिसके कण-कण में प्राणों को स्पर्श करने वाला एक विचित्र अनुभूति है।

भवभूति के पूर्ववर्ती नाटककार विशाखदत्त (पष्ठ शताब्दी) कृत 'मुद्राराक्षस' अपना पृथक् स्थान रखता है। इस घटनाप्रधान नाटक में राजनीति और कूटनीति की कुटिल चालों का जिस निपुणता से

चित्रण किया गया है उससे नाटककार की उलझी हुई बुद्धि का स्पष्ट पता लगता है। इनके नाम से एक 'देवीचन्द्र गुप्त' नाटक कृति का भी उल्लेख होता है जो संप्रति अनुपलब्ध है।

'वेणी-संहार' के रचयिता भट्टनारायण (अष्टम शताब्दी) एक नाटककार के रूप में विद्वत्समाज के सुपरिचित व्यक्ति हैं। इसी प्रकार 'अनर्घराघव' नाटक के प्रणेता मुरारी (अष्टम शताब्दी उत्तरार्ध) की विद्वत्ता भी उल्लेखनीय है। रामकथा की जो प्राञ्जलता 'उत्तर-राम-चरित' में प्रदर्शित हुई है उसकी अपेक्षा 'अनर्घराघव' का कथानक फीका प्रतीत होता है। शक्तिभद्र (नवम शताब्दी) कृत 'आश्चर्य चूडामणि' में 'अनर्घराघव' की अपेक्षा रामकथा को सुन्दर ढङ्ग से सँजोया गया है। शक्तिभद्र के ही समकालीन दामोदर मिश्र के 'हनुमञ्जाटक' की बृहत्काया में कोई उल्लेखनीय विशेषता प्रतीत नहीं होती।

कविराज राजशेखर (नवम शताब्दी उत्त०) का परिचय जहाँ एक काव्यशास्त्री, कोशकार और महाकाव्यकार के रूप में उपलब्ध होता है वहाँ नाटक के क्षेत्र में भी उनकी विशेष ख्याति है। राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की है—'कर्पूरमंजरी,' 'विद्वत्शालभंजिका,' 'बाल-रामायण' और 'बाल-भारत' (प्रचण्ड-ताण्डव)। इन कृतियों का भाषा-पाटव, छन्द-कौशल और शब्द-विन्यास अवलोकनीय है। इन्हीं के सम-कालीन एवं सहयोगी नाटककार चेमीश्वरविरचित नाटकद्वय—'नैषधानन्द' और 'चण्डकौशिक'—में वह आकर्षण कहाँ जो राजशेखर की कृतियों में लक्षित होता है।

हास-युग

राजशेखर के बाद संस्कृत-साहित्य में नाटक-ग्रन्थों का क्षेत्र कुछ प्रभावविहीन लक्षित होता है। दिङ्नाग (दशम शतक) की 'कुन्दमाला के अनन्तर कृष्णमिश्र (एकादश शताब्दी) का 'प्रबोध-संस्कृत के नाटक

चन्द्रोदय' भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से समादरणीय नाटक कृति है। तदनन्तर रामचन्द्र (द्वादश शतक) कृत 'नलविलास,' 'सत्यहरिचन्द्र' और 'कौमुदी मित्रानन्द' का नाम उल्लेखनीय है। 'प्रसन्न-राघव' नाटक के रचियता जयदेव (द्वादश शतक) की सुन्दर पदशय्या और ललित पद-विन्यास भवभूति की याद दिलाते हैं।

बारहवीं शताब्दी के अमर नाटककार महामात्य वरसराज ही ऐसे नाटककार हुए हैं जिन्होंने भास की भाँति अनेक नाटक लिखे। उन्होंने 'किरातार्जुनीय' व्यायोग, 'कर्पूर-चरित' भाण, 'हास्य-चूडामणि' प्रहसन, 'रुक्मिणीहरण' ईहामृग, 'त्रिपुरदाह' द्विम और 'समुद्रमन्थन' समवकार नामक छः रूपकों की रचना की। तेरहवीं शताब्दी में अयसिंह सूरि कृत 'हम्मीर-मद-मर्दन', कविवर्मा कृत 'प्रद्युम्नाभ्युदय' और यशपाल कृत 'मोहपराजय' का नाम उल्लेखनीय है। चौदहवीं शताब्दी में वेंकटनाथ कृत 'संकल्पसूर्योदय' एवं वामन भट्ट धाण का 'पार्वती-परिणय' ये दो कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। सोलहवीं शताब्दी में विचित्र कर्णपूर का 'धैतन्य चन्द्रोदय', महादेव का 'अद्भुत दर्पण' और जगदीश कृत 'हास्यार्णव' नाटकों की गणना की जा सकती है।

इस प्रकार संस्कृत के नाटक-साहित्य का आधोपांत अनुशीलन करने के उपरान्त प्रतीत होता है कि उसका बृहद् मांडागार अमूल्य निधियों से भरपूर है। ईस्वी पूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक संस्कृत नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा के ये बीस शतक इस सत्य के द्योतक हैं कि भारत का अतीत व्यक्तित्व कितना प्रभावमय और प्रतिभासम्पन्न रहा है। संस्कृत का एक-एक नाटक-रत्न भारतीय साहित्य की अमर धरोहर है। कुछ संस्कृत नाटक तो इतने प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए कि विश्व की समस्त समुन्नत भाषाओं में उनका

अनुवाद तक हो चुका है और किसी-किसी भाषा में उनके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकल चुके हैं। जन-सामान्य की अन्तर्वृत्तियों को स्पर्श करने में संस्कृत के नाटककारों की अपनी मौलिक विशेषता रही है। यही कारण है कि संस्कृत में जहाँ बहुत सस्ती नाटक कृतियाँ देखने को मिलती हैं वहाँ साथ ही बुद्धि को मन्थित कर देने वाली एवं मस्तिष्क को गूढ़ ग्रन्थियों में जकड़ देने वाली कृतियों की भी कमी नहीं है।



संस्कृत के गीतिकाव्य

संस्कृत-वाङ्मय में गीतों की परम्परा ऋग्वेद में सुरक्षित उपासंबंधी गीतों से उद्भूत की जा सकती है। एकान्त भावधारा में तन्मय होकर हमारे महाप्राण महर्षि-वरों ने इन गीतों का उद्गायन आत्मिक सुखोपलब्धि के लिए किया था। समस्त साम-गान जीवन की तन्मयता से आप्यायित है। हृदय को निनादित कर देने वाले ये सुकोमल सप्तक संगीतजिज्ञासुओं के लिए अनन्त पाथेय हैं। लौकिक जीवन में इन गीतों का समारम्भ 'सुभाषित-संग्रहों' की सरस-शब्दावलियों से होता है और महर्षि पाणिनि (५०० ई० पू०) के नाम से पाई जाने वाली सुकृक रचनायें गीतिकाव्य की दिशा में सर्वप्रथम हमें आकृष्ट करती

हैं। जीवन की एकदेशीय तन्मयता इन गीतों की प्रमुख विशेषता है। आश्चर्य होता है कि पाणिनि जैसे खूबसूरत वैयाकरण ने किस भाव-धारा में प्रवाहित होकर ऐसे वचनामृतों को जन्म दिया होगा।

गीति-काव्य के प्रणेताओं में सहर्षि पाणिनि के उपरान्त महाकवि कालिदास (प्रथम शतक ई० पू०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महाकवि की दो कृतियाँ—‘ऋतुसंहार’ और ‘मेघदूत’ गीति-उपवन के वे पुष्प-द्वय हैं जिनकी भीनी-भीनी महक से काव्याकाश का चतुर्दिक् सुवासित है। ‘ऋतुसंहार’ पङ्क्तुओं का-संघात है, जिसमें क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त का मर्मस्पर्शी सौन्दर्य तिरोभूत है। प्रकृति के वाङ्मय सौन्दर्य के साथ मानवीय प्रणय का ऐसा कान्त संयोग कम काव्य में लक्षित होगा। इसमें यौवन-जीवन का ऐसा उद्दाम प्रवाह प्रवाहित हुआ है जिसमें कामातुर युवक एवं प्रेम-विह्वल तरुणियाँ अवगाहित हुए बिना नहीं रहतीं। इसका कारण यह है कि महाकवि ने अपने तारुण्य के क्षणों में इस काव्य की रचना की थी। एक दिन, जब कि कवि की जीवन-प्रगियों में वसन्तोत्सव की भूम मची होगी, अन्तर में एक अनजानी सी सिहरन पैदा हुई होगी, जब कि कवि ने नववधू के केशपाश में गुँथा अशोकपुष्प देखा होगा, जब उसको आभ्रमंजरी तीर के समान प्राणवेधक प्रतीत हुई होगी और चावरी कोयल बन्दीजन के रूप में इस उत्सव का सन्देश हाट, वाट, पनघट सभी जगह पहुँचा देती रही होगी, जिसको सुनकर सहस्र कोकिलकंठी सुन्दरियों की स्वरमाधुरी गुंजरित हुए बिना न रही होगी, प्रणय के ऐसे मर्मन्तिक क्षणों में कवि का युवक-हृदय आन्दोलित हुआ होगा और तब उसने दुःखदायी ग्रीष्म को लक्ष्य करके कहा होगा—

ब्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो ।

निशि सुललितगीते हर्म्यप्रष्टे सुखेन ॥

प्रणय की एकान्त आराधना, जो कि गीति-काव्य की आत्मा का निजस्व है, 'मेघदूत' की पंक्ति-पंक्ति में आप्यायित है। विरही यक्ष की मनोव्यथा से उद्भूत एक मर्मस्पर्शी कंपन इस काव्य में समाहित है। यक्ष की वन्दी आत्मा 'मेघदूत' के गीतों में फूट पड़ी है। मन्दाक्रान्ता छन्द में माधुर्य की ऐसी रस-शैवलिनी प्रवाहित हुई है जिसके प्रत्येक कल-कल में अनिर्वचनीय स्वर-संधान हृदय को उद्वेलित एवं मन को खोदूल्यमान कर देते हैं। विवासित विरही-जीवन की प्रणय-पिपासा, जिसका सन्देशवाहक मेघ है, प्राणों को आकुल कर देने वाली पिपासा है। मेघ को सम्बोधित करते हुए यक्ष अपनी साध्वी पत्नी की जिस विरह-विधुर दशा का शब्दचित्र अंकित करता है, वह देखने योग्य है। यक्ष कहता है—'भय्या मेघ, विरह-व्यथित मेरी प्रियतमा के पास पहुँच कर तुम देखोगे कि, मलिनवस्त्रावृत, वीणा को गोद में लिए वह कुछ ऐसे गीत गाने की उत्कण्ठा में होगी जिसमें केवल मेरे नामाक्षरों की आवृत्ति तुम सुनोगे। उस समय आँसुओं से भीनी वीणा को बड़े फट से अपसारित कर वह हतनी बिह्वल हो जायगी की अपनी मूर्च्छना तक मूल घैटेगी।'।

आतुर अवस्था में गाये हुए निर्वासित यक्ष के वे विरह-गीत आह-जनित पीड़ा के आन्तरिक उद्घास है। उन गीतों में स्पन्दन है, क्रन्दन है और है वास्तविक दांपत्य-जीवन का चित्रांकन, जिनमें अन्तः सौन्दर्य का पूर्ण रूपांकन हुआ है। 'मेघदूत' विश्व-साहित्य में विप्रलम्भ शृङ्गार का, विरही मानव के विदग्ध हृदय का असुलनीय गीति-काव्य है।

'मेघदूत' के बाद हाल कवि (ईसा की प्रथम शताब्दी) कृत 'गाथा-सप्तशती' में गीतिकाव्य की सरसता स्फुरित हुई है। सात सौ आर्या छन्दों का यह सुभाषित-संग्रह शृङ्गार रस की चुनो हुई उक्तियों

का संग्रह है। इन गाथाओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये लोक-जीवन को लक्ष्य कर लिखी गई है। इनमें ग्राम्य-जीवन का सजीव सौन्दर्य व्यञ्जित हुआ है। निसर्ग सुन्दर ग्राम्य-सुन्दरियों की रासक्रीडायें एवं उनके भोले भाव बड़ी स्वाभाविकता से व्यञ्जित किये गये हैं।

गीतिकाव्य के क्षेत्र में अमरुक (सम्भवतः सप्तम शतक) का 'अमरुक शतक' विशेषतः उल्लेखनीय है। अमरुक का व्यक्तित्व एवं उसका स्थितिकाल ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही विवाद का विषय हो, किन्तु 'अमरुक शतक' अवश्य एक युगान्तकारी रचना है, इसकी पारदर्शिता में सन्देह करने का कोई कारण हमारे पास नहीं। इस काव्य में गीति-काव्योपयोगी उन सभी विशेषताओं का सन्निवेश है, जिनमें हृदय की नैसर्गिक भावविह्वलता एवं अन्तःकरण की दोदूल्यमान आतुरता के सजीव दर्शन होते हैं। परिमित शब्दावली में सरस भावों का आरोह-अवरोह बड़ी निपुणता से अभिव्यञ्जित हुआ है।

तदनन्तर गीतिकाव्य की धुँधली किरणें महर्षि भर्तृहरि (लगभग सप्तम शतक) कृत शतकत्रय : 'नीतिशतक', 'शृंगारशतक' और 'वैराग्य-शतक' के बाद गोवर्धनाचार्य (द्वादश शतक) कृत 'आर्यासप्तशती' में स्पष्टतर होती हुई जयदेव (द्वादश शतक के उत्तरार्ध) कृत 'गीत-गोविन्द' में पहुँच कर पूर्णलोक की प्राप्ति हुई। 'गीत-गोविन्द' गीतों का वह निकुञ्ज है, जिसकी सधन छाया में राधा-कृष्ण के प्रणय-परिहास, आशा-निराशायें एवं वियोग-मिलन की विविध क्रीडायें पोषित हुई हैं। कृष्ण के साथ ग्राम्य-गोपिकाओं का ऐसा पुकान्त संयोग केवल इसी काव्य का विषय है। राधा-कृष्ण की प्रेम-परम्परा का ऐसा रसमयपूर्ण रूप किसी भी इतर काव्य में नहीं पाया जाता। 'गीत-गोविन्द' के सभी पद गेय हैं। इस गीत-ग्रन्थ की रचना

बङ्गाल के उन उत्सवों को लक्ष्य कर की गई है, जिनमें गीतों का उपयोग नृत्य एवं संगीत के लिए किया जाता था। इसके पथ कथासूत्र में बँधे होते हुए भी अपने-आप में स्वतन्त्र हैं।

कुछ समालोचकों ने जयदेव को घोर शृंगारी की संज्ञा देकर 'गीत-गोविन्द' को झलील गीतों का—राधा-कृष्ण के प्रति घृणित प्रेम का—संकलन माना है, किन्तु उन लोगों की स्थूल दृष्टि दाम्पत्य-प्रणय की उस सूक्ष्मता पर नहीं जाती, हमारे प्राचीन आचार्यों एवं महाकवियों ने जिसकी आधारभूमि भक्तिक्षेत्र में माधुर्य भाव की मानी है। 'गीत-गोविन्द' में स्वरो का आरोह-भवरोह, भावों की गहराई, आलाप का माधुर्य एवं आह्लाद की अतिशयता सर्वत्र विद्यमान है। लय एवं अनुप्रासों का प्रयोग विशेष रूप से सचेष्ट होकर किया गया है।

प्रणय की उक्त सौन्दर्य-भावना बाह्य सौन्दर्य से कहीं ऊपर उठकर अन्तः सौन्दर्य की ओर उन्मुख है—स्थूल से सूक्ष्म की ओर। उसमें आत्मसमर्पण है और है प्राणों का दर्द समाहित। 'गीत-गोविन्द' में सुख-दुःख, एवं संयोग-वियोग का अनैक्य नहीं है, अपितु गीतकार के लिए जितना प्रिय सुख होता है, उससे कहीं अधिक प्रिय दुःख। यही कारण है कि संयोग शृङ्गार की अपेक्षा वियोग शृङ्गार में प्राणों का अधिक स्पन्दन देखा गया है, क्योंकि सुख की अपेक्षा दुःख और संयोग की अपेक्षा वियोग प्राणों के अधिक निवृत्त होता है।

जयदेव के बाद पण्डितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शताब्दी) कृत 'भामिनीविलास' का नाम गीति-काव्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। यह काव्य चार विलासों : प्रास्ताधिक-विलास, शृङ्गार-विलास, करुणा-विलास एवं शान्त-विलास—में विभक्त है। प्रत्येक-विलास प्राञ्जल-पदलालित्य में, भाव-सौष्ट्य में तथा शैली की श्रेष्ठता में, अनुपम है। इसके सभी

पद्य सुलभ हैं। 'भामिनी-विलास' के अतिरिक्त पंचलहरियाँ : गंगालहरी, सुधालहरी, अमृतलहरी, कृष्णालहरी तथा लक्ष्मीलहरी सरस-स्रोत की तरंगायित लहरें हैं। माधुर्य रस का जैसा अजस्र स्रोत इन पंचलहरियों में फूट पड़ा है वह अन्यत्र अतुलनीय है। फिर भी गीतात्मक शैली में 'भामिनी-विलास' ही प्रमुख स्थान रखता है।

पण्डितराज की सबसे बड़ी विशेषता देखने को यह मिलती है कि उनके पद चित्रवत् आँखों के सम्मुख नाचते हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट कर देना वाञ्छनीय है। किसी सुंदरी के सरिमत मुखमण्डल का शब्दचित्र देखने योग्य हैं :

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम् ।

आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला ॥

अर्थात् 'मरन्द के लोभी अमरकमल और किसी तरुणी की सरिमत मुखाकृति दोनों को एक समान जानकर यह निश्चित ही नहीं कर पा रहे हैं कि कौन कमल है और कौन मुख ? इस भ्रम में पड़े वे कभी कमल की ओर और कमल से मुख की ओर चकर काट रहे हैं'।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गीति-काव्य का जैसा सुन्दर और पूर्णतः पेशलरूप संस्कृत-साहित्य में अभिव्यंजित हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं। यद्यपि कम ही कवि इस विषय पर लिखे हैं, किन्तु उनकी निपुणता में सन्देह करने की गुंजायश नहीं। क्या छन्दबन्ध, क्या संगीत-माधुर्य, क्या अलंकारों का सुचारु प्रयोग और क्या भावों की तरलता, सभी में एक गति है और है प्राणों को स्पर्श कर देने वाला लय-संतरण। केवल आवश्यकता जिज्ञासु घनने की है।



संस्कृत के कथाकाव्य

संस्कृत-साहित्य में कथा-काव्यों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व-व्यापकता की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि संसार के साहित्य को इन भारतीय भाषयानों ने बहुत प्रभावित किया। इन कथाओं के लोकप्रिय होने का कारण यह है कि हास्य और कुतूहल से संयुक्त इनके विनोदात्मक उपदेश बड़ी ही सरस, सरल और समाकर्षक शैली में लिखे गए हैं। संस्कृत भाषा की इन औपदेशिक जंतु-कथाओं और लोक-कथाओं का अपना विशिष्ट स्थान है।

संस्कृत-साहित्य में ये कथाएँ दो प्रकार से लिखी गई हैं। पहली प्रकार की कथाएँ वे हैं जो नीति-प्रधान हैं। इनमें पंचतंत्र और हितोपदेश की कथाओं का निर्देश किया जा सकता है। दूसरी प्रकार की कथाएँ लोक-कथाओं के नाम से अभिहित की जाती हैं। लोक-कथाओं में 'बृहत्कथा' का उल्लेख प्रमुख है।

ये मनोरंजक कथाएँ लोक-जीवन को लक्ष्य करके ही लिखी गई हैं। इनमें मोक्षातिरिक्त त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम का ही प्रतिपादन है। पशु-पक्षी और धूर्त-लंपटों की इन कथाओं में रोचकता के साथ-साथ नीतिपरक विचारों का भी सुष्ठु समावेश दर्शनीय है। शिशु-जीवन की कुतूहलमयी प्रकृतियों को स्पर्श करने और उनकी जिज्ञासाओं को उत्तरोत्तर चलवत्तर घनाने की असाधारण क्षमता इन कथाओं में विद्यमान है। सरल और रोचक भाषा में लिखी होने के कारण संस्कृत के आरम्भिक विद्यार्थियों के लिए इन कथाओं का बड़ा महत्व है। वेदों से लेकर उपनिषद्, पुराण और बौद्ध-जातकों तक में इस प्रकार की आख्यायिकाओं का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है, फिर भी लौकिक साहित्य में 'महाभारत' (६०० ई० पू०) से इन कथाओं की परम्परा को उद्घृत किया जा सकता है। 'महाभारत' में वर्णित पुण्यात्मा ब्रह्मी और नीति-पटु सियार की कथाएँ इसके उदाहरण हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश और बृहत्कथा में इसी प्रकार की कथाओं का समावेश है।

पंचतंत्र

'पंचतंत्र' आज मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। इसके चार विविध संस्करण उपलब्ध होते हैं। पहला पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में अनूदित (५३३ ई०) संस्करण, दूसरा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का, संस्कृत के कथाकाव्य

जो सोमदेव (१००० ई०) कृत 'कथासरित्सागर' में सुरक्षित है, तीसरा 'तन्त्राख्यायिका' वाला संस्करण (३०० ई०) और चौथा दक्षिण भारतीय (६०० ई०) संस्करण । प्रो० हर्टल और डा० एजर्टन ने इन्हीं उक्त संस्करणों के आधार पर 'पंचतंत्र' पर प्रामाणिक प्रकाश डाला है ।

विद्वानों की अन्तिम राय है कि 'पंचतंत्र' की रचना ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व हो चुकी थी । इसकी लोकप्रियता और विश्व-व्यापकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि प्रचार की दृष्टि से 'वाइयिल' के बाद 'पंचतंत्र' का ही स्थान है । आज तक इसके पचास से अधिक भारत की बाहरी भाषाओं में लगभग २५० संस्करण निकल चुके हैं और आज भी इस पर कार्य हो रहा है ।

'पंचतंत्र' की उपलब्ध प्रति में पाँच तंत्र (अध्याय) हैं—मित्रमेद, मित्रलाम, संधि-विग्रह, लब्ध-प्रणाम और अपरीक्षितकारक । महिलारोप्य के राजा अनुरशक्ति के तीन मूर्ख पुत्रों को नीतिशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मणने छह मास तक उन्हें 'पंचतंत्र' की शिक्षा दी थी ।

हितोपदेश

औपदेशिक जन्तु-कथाओं में 'पंचतंत्र' के बाद 'हितोपदेश' की गणना आती है । 'पंचतंत्रात्तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते' वाक्य से स्पष्ट है कि 'हितोपदेश' का रचयिता 'पंचतंत्र' से ही प्रभावित हुआ था । यही कारण है कि 'हितोपदेश' की ४३ कथाओं में २५ कथाएँ 'पंचतंत्र' से ही ली गई हैं । 'हितोपदेश' में—मित्रलाम, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि—ये चार परिच्छेद हैं ।

संस्कृत के आरम्भिक अध्ययन के लिए 'पंचतंत्र' की अपेक्षा 'हितोपदेश' का अधिक प्रचलन है । इसका कारण यह है कि

‘हितोपदेश’ में भाषा-शैली की सुगमता, सरलता और सरसता अधिक है। इसके श्लोक बड़े उपदेशात्मक और नीतिपरक हैं। जहाँ पद्य-भाग की अधिकता है, वहाँ कथा की रोचकता अवश्य कम हो गई है। ‘हितोपदेश’ का रचयिता नारायण बंगाल के राजा धवलचन्द्र का सभा-पण्डित था। ‘हितोपदेश’ का रचनाकाल १४ वीं शताब्दी है।

बृहत्कथा

संस्कृत के कथा-साहित्य में जिस प्रकार औपदेशिक जन्तु-कथाओं में ‘पंचतंत्र’ का प्रधान स्थान है उसी प्रकार मनोरंजनात्मक लोक-कथाओं में ‘बृहत्कथा’ की प्रमुखता है। ‘पंचतंत्र’ और ‘बृहत्कथा’ की कथाओं में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि ‘पंचतंत्र’ की कथाएँ जहाँ पशु-पक्षी-प्रधान हैं, ‘बृहत्कथा’ के पात्र वहाँ मनुष्य-प्रधान हैं। इसीलिए ‘पंचतंत्र’ आदि की कथाएँ औपदेशिक जन्तु-कथाओं के रूप में प्रचलित हैं और ‘बृहत्कथा’ की कथाएँ लोक-कथाओं के रूप में परिचित हैं।

‘बृहत्कथा’ ‘पंचतंत्र’ से प्राचीन थी। मूल ‘बृहत्कथा’ पैसाची प्राकृत में लिखी गई थी और उसमें एक लाख पद्य थे। ‘काव्यादर्श’ का रचयिता दण्डी (सप्तम शताब्दी) ‘बृहत्कथा’ को गद्य-बद्ध होना लिखता है। मूल ‘बृहत्कथा’ उपलब्ध नहीं है। इस कथा-ग्रंथ का रचयिता महाराज हाल का सभा-पण्डित गुणाध्व था। गुणाध्व ने अपने समय की प्रचलित लोक-कथाओं को एकत्र कर इस बृहत्काय कथाग्रन्थ का प्रणयन किया था। उसका रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी था।

पश्चिमीय पण्डितों ने ‘महाभारत’ को ‘एपिक विदिन एपिक’ (महाकाव्य के भीतर महाकाव्य) कहकर अभिहित किया है। ‘महाभारत’ की भाँति ही ‘बृहत्कथा’ भी अनेक काव्यों-महाकाव्यों की जन्मदात्री है। ‘महाभारत’ के उपाख्यानों पर रचे गए अनेक काव्य,

महाकाव्य और नाटकों के द्वारा जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य की प्रशंसीनीय अभिवृद्धि हुई है, ठीक उसी प्रकार 'बृहत्कथा' के कथानकों के आधार पर भी संस्कृत-साहित्य में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। भास, श्रीहर्ष, शूद्रक, दण्डी और घाण प्रभृति नाटककारों एवं महाकाव्यकारों ने 'बृहत्कथा' के कथा-सूत्रों पर बृहत्काव्यग्रन्थों की रचना की है। 'बृहत्कथा' के नीचे लिखे तीन संस्कृत रूपान्तर आज उपलब्ध होते हैं :

१. बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह—'बृहत्कथा' का यह प्राचीनतम रूपान्तर है। इसके रचयिता बुद्ध स्वामी हैं, जो कि नेपाल के रहनेवाले थे। इनका स्थितिकाल आठवीं-नवीं शताब्दी के बीच है। इस संग्रह के २८ सर्गों में केवल ४, ५२४ श्लोक ही उपलब्ध हैं।

२. बृहत्कथा-मंजरी—इसके रचयिता जेमैन्द्र कश्मीर के राजा अनन्त (१०२९-१०६४ ई०) के समा-पण्डित थे। इस संग्रह में ७,५०० श्लोक हैं। इसकी भाषा और कथानक दोनों में प्रभावोत्पादकता की कमी है।

३. कथासरित्सागर—तीसरा अनूदित रूप है। इसके कर्ता सोमदेव, जेमैन्द्र के ही समकालीन और समदेशीय थे। इसकी रचना लगभग १०३७ ई० में हुई थी। इस रूपान्तर में २४,००० श्लोक हैं। प्राचीनता और बृहत्काव्य की दृष्टि से विश्व भर का कोई भी कथा-संग्रह 'कथा-सरित्सागर' की समकक्षता नहीं रखता है।

इसके पश्चात् संस्कृत-साहित्य में कथा-काव्यों की परम्परा शिथिल दिखाई देती है। 'बृहत्कथा-मंजरी' और 'कथासरित्सागर' के अनुकरण पर रचे गए, शिवदास (१२०० ई०) और जंमलदत्त (१३०० ई०) कृत 'वैताल-पंचविंशतिका' (वैताल-पचीसी) की २५ कथाओं के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। ये कहानियाँ बड़ी रोचक, व्यावहारिक और

कुतूहलपूर्ण शैली में लिखी गई हैं। बौद्ध और जैन विद्वानों ने भी कथाओं के क्षेत्र में बड़ा काम किया है। किसी अज्ञातनामा बौद्ध कथाकार का भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म-सम्बन्धी कथाओं पर लिखा हुआ 'अवदान-जातक' सबसे प्राचीन संग्रह है। आर्यशूर (चौथी शताब्दी)-कृत 'जातकमाला' में जातकों की पद्यबद्ध कथाएँ वर्णित हैं। इसी प्रकार जैनाचार्य हेमचन्द्र (एकादश शताब्दी)-कृत 'परिशिष्टपर्वन्' का नाम भी उल्लेखनीय है।

कुछ अज्ञातनामा कथाकारों के, ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच लिखे हुए, कथा-संग्रह मिलते हैं। इनमें 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' (सिंहासन-वत्तीसी) और 'शुक-सप्तशती' के अनेकविध संस्करण उपलब्ध होते हैं। 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' में धारा-नरेश भोज (१०१८-६३ ई०) का उल्लेख मिलता है। 'शुक-सप्तशती' १४ वीं शताब्दी में फारसी भाषा में अनूदित हो चुकी थी। १५ वीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध मैथिल-कोकिल विद्यापति-कृत 'पुरुष-परीक्षा' और १६ वीं शताब्दी में ब्रह्मालसेन-कृत 'भोज-प्रबन्ध' की कथाओं में संस्कृत-साहित्य का यह रुचिकर अध्याय समाप्त-सा हो जाता है।

इन भारतीय कथाओं का उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर इनके महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक समान रूप में इनका आदर हुआ है। विश्व-साहित्य में एक युगान्तर उपस्थित करनेवाली इन भारतीय कथाओं की सुरुचिपूर्ण आढम्बर-रहित सीधे-सादे ढंग की वर्णन-शैली ने ही इन्हें विश्व-व्यापक सम्मान प्रदान किया है। भारतीय मनीषियों की यह देन उनकी असामान्य प्रतिभा को युग-युगों तक अमर बनाए रखेगी।



संस्कृत के गद्यकाव्य

विश्व की किसी भी जाति के साहित्यिक अभ्युदय में गद्य का महत्वपूर्ण योग रहा है । संसार की प्राचीनतम तीन मूल भाषाएँ : ग्रीक, लैटिन और संस्कृत गद्य के सहयोग से ही पनपीं और विकसित हुई हैं । यह निर्विवाद सत्य है कि आज की प्रगुद्विशाली एवं सन्पन्न भाषाओं के गद्य की समकक्षता में संस्कृत का गद्य-साहित्य किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं है । संस्कृत-चाड्य में गद्य-ग्रन्थों की प्रणयन-परम्परा बहुत प्राचीन है । कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी (सं० पू० २५००) आदि मंत्र-संहितायें गद्य-प्रधान हैं । मंत्र-संहिताओं की व्याख्या करने वाले समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों (२५००-१४०० वि० पू०) की रचना

गद्य में ही हुई है। उपनिषदों (५०० ई० पू०) में भी गद्य-भाग की कमी नहीं।

यास्क (७०० ई० पू०) का 'निरुक्त' भी गद्य-प्रधान है। भाष्यकार पतंजलि (२०० ई० पू०) ने 'महाभाष्य' की रचना जहाँ गद्य में की है वहाँ अपनी पूर्ववर्ती वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक तीन आख्यायिकाओं का भी निर्देश (महाभाष्य ४।३।८७) किया है। इसके अतिरिक्त रुद्रदामन् (१५० ई०) का गिरनार पर्वत वाला शिलालेख और हरिपेण (३५० ई०) कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति गद्य में ही उत्कीर्णित है।

दर्शन-ग्रंथों का गद्य

दर्शन-शास्त्र में शास्त्रीय गद्य की अवतारणा करने वाले तीन दार्शनिकों—शबर स्वामी (४०० ई०), शंकराचार्य (७०० ई०) और जयन्तभट्ट (९०० ई०) का नाम उल्लेखनीय है। प्रौढ़ मीमांसक शबर स्वामी का 'कर्ममीमांसा-भाष्य', भाष्यकार शंकर कृत 'ब्रह्मसूत्र' 'गीता' तथा 'उपनिषदों' का भाष्य और न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध पंडित जयन्तभट्ट कृत 'न्याय-मंजरी' गद्य का परिष्कृत एवं सुसंस्कृत रूप उपस्थित करते हैं।

दर्शन-शास्त्र के अति सूक्ष्म एवं रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले उक्त तीनों भाष्यकारों का गद्य असाधारण एवं पारिभाषिक शैली में लिखा गया था। उसमें दुरुहता और पाण्डित्य की अधिकता थी, जिसका प्रयोग किए बिना दार्शनिक जैसे कठिन मतवादों की मीमांसा करना सम्भव नहीं था। अतः भाष्य-शैली का यह दार्शनिक गद्य आगे व्यापक न हो सका। लौकिक साहित्य में इस प्रकार के

प्रवृद्धिशील, लोकप्रिय और अनुकरणीय गद्य का प्रादुर्भाव दण्डी, सुबंधु और घाणमंद की कृतियों से लक्षित होता है।

संस्कृत के गद्य-निर्माता

संस्कृत के गद्य-निर्माताओं में दण्डी का स्थान प्रमुख है। दण्डी के जन्म काल के सम्बन्ध में विविध विद्वानों की अलग-अलग धारणा है। डा० चार्नेट, पीटर्सन, याकोबी तथा डा० वेल्वेल्कर प्रभृति इतिहासकारों एवं समालोचकों ने पाँचवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक दण्डी का काल विभिन्न तिथियों में निर्धारित किया है। इतिहासकारों की प्रामाणिक एवं अन्तिम राय इस सम्बन्ध में यह है कि दण्डी विदर्भदेशीय दाक्षिणात्य थे और उनका स्थितिकाल पष्ठम शताब्दी था।

दण्डी के स्थितिकाल की ही भाँति उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी अनेक मत रहे हैं। राजशेखर (नवम शताब्दी) द्वारा निर्दिष्ट— 'त्रयो दण्डि-प्रवन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विद्युताः' श्लोक के अनुसार दण्डी की तीन रचनाओं का उल्लेख पाया जाता है; किन्तु कवियों का नाम-निर्देश अनेक मत से किया गया है। 'कान्यादर्श', 'दशकुमार चरित' और 'भवन्ति-सुन्दरीकथा' ये तीन कृतियाँ अन्तिम रूप से दण्डी कृत मानी गयी हैं। पहिला ग्रन्थ अलंकार-शास्त्र पर लिखा गया है और वाद की दोनों कृतियाँ गद्य-काव्य हैं। इन दोनों रचनाओं को देखने से पता चलता है कि दण्डी एक सिद्धहस्त गद्य-लेखक थे। दण्डी के गद्य की विशेषता यह है कि वह शिष्ट, संयत और सजीव है। वह सुबन्धु और घाण के गद्य की अपेक्षा 'पंचतन्त्र' तथा 'कथासरित्सागर' के गद्य से अधिक प्रभावित सिद्ध होता है। विशेष रूप से 'दशकुमार-चरित' में दण्डी की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है।

सुवन्धु (६०० ई०) के नाम से 'वासवदत्ता' ही एकमात्र ऐसी रचना उपलब्ध होती है जिसने उनकी कीर्ति को अमर बना दिया। गद्य के क्षेत्र में इस कृति का अपना एक विशिष्ट स्थान है। सुवन्धु की गद्य-शैली का अध्ययन करते समय उसमें केवल एक दोष यह दिखाई देता है कि उन्होंने नये-नये रंगों के मोह में अपनी कृति को इतना बोझिल बना दिया है कि रंगों की इस अतिशय सज्जा में उसकी वास्तविकता ही ढरक गई है। अलंकार-कौशल के प्रदर्शन में वे इतने रम गये कि लगभग १२५ पंक्तियों में कहीं-कहीं उनका एक ही वाक्य समाप्त हुआ है। 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिः' वाली अपनी गर्वोक्ति का अवश्य उन्होंने सम्यक् निर्वाह किया है।

सुवन्धु के बाद गद्य-ग्रन्थों के प्रणयन में घाणभट्ट (७०० ई०) का स्थान आता है। संस्कृत-साहित्य में कालिदास, भवभूति और माघ की भाँति घाण की भारती का भी बड़े आदर के साथ यशोगान किया जाता है। घाण की उपलब्ध कृतियों में 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' का उल्लेख किया गया है। 'हर्षचरित' में आठ उच्छ्वास हैं। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'हर्षचरित' की श्रेष्ठता सर्वविदित है, साथ ही संस्कृत-साहित्य में ऐतिहासिक-दृष्टि से काव्य लिखने का यह पहिला प्रयास है। 'कादम्बरी' की महनीयता केवल गद्य के ही क्षेत्र में नहीं, अपितु समस्त संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में अतुलनीय है। भाषा, भाव और शैली का आरम-विमोर कर देने वाला स्वरूप 'कादम्बरी' में ही मिल सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि शृङ्गार-रस का ऐसा रसपेशल एवं समाकर्षक चित्रण केवल कादम्बरीकार ही कर सका है।

गद्य-साहित्य के अभ्युत्थान की ये दो शताब्दियाँ बड़े महत्त्व की हैं। इन दो शतकों में संस्कृत-साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति संस्कृत के गद्यकाव्य

बौद्ध न्याय का उद्भव और विकास

बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पीछे हम एक लम्बी ऐतिहासिक परम्परा का अनुवर्तन पाते हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उसके पूर्ववर्ती उपनिषद् एवं गीता अपने-अपने पदचिह्न छोड़ गये थे, तथापि ई० पू० छठी शताब्दी के अन्त में एक महान् सामाजिक क्रान्ति को जन्म लेते हम पाते हैं, जिसका सफल नेतृत्व तथागत बुद्ध ने किया। महामनस्वी बुद्धदेव का अद्भुत व्यक्तित्व भारतीय इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों में आलिखित है। बौद्ध-युग भारत के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक अभ्युदय का अभूतपूर्व युग रहा है।

बौद्ध न्याय का उद्भव और विकास

१६१

जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों का आविर्भाव वेदों के विरुद्ध हुआ। महावीर स्वामी और बुद्धदेव के पूर्व सम्पूर्ण धार्मिक व्यवस्था पुरोहितों के हाथ में थी; किन्तु उसके बाद धार्मिक नेतृत्व एवं धर्म-प्रचार का कार्य उक्त दोनों क्षत्रियवंशीय महापुरुषों के हाथ में आया। वस्तुतः वामन और परशुराम के अतिरिक्त जितने भी अवतार आज तक हुए, सब क्षत्रियकुलोत्पन्न थे। धार्मिक प्रतिस्पर्धा के कारण इस युग में ब्राह्मण-धर्म और जैन-बौद्ध धर्मों में काफी होड़ रही। वैदिक काल से जिस धार्मिक नेता का कार्य ब्राह्मण करते आ रहे थे, इस युग में वह क्षत्रियों के अधीनस्थ हुआ। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुयायी पुरोहितों और उपनिषद् एवं गीता धर्म के अनुयायी जैन-बौद्धाचार्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और ऊहापोह का सुपरिणाम यह हुआ कि भारत का सामाजिक जीवन उन्नतावस्था को प्राप्त हुआ।

बौद्धधर्म का सामाजिक पक्ष जितना ही समन्वयवादी है, उसका दार्शनिक पक्ष उतना ही सूक्ष्म एवं तर्कप्रधान है। न्यायदर्शन के सम्पूर्ण इतिहास को डाक्टर विद्याभूषण ने तीन विभिन्न युगों में विभाजित किया है। ६५० ई० पू० से १०० ई० तक प्राचीन न्याय, १०० ई० से १२०० ई० तक मध्ययुगीन न्याय और १२००वीं शताब्दी से नव्य न्याय। प्राचीन न्याय के प्रवर्तक अक्षपाद महर्षि गौतम, मध्ययुगीन न्याय के निर्माता आचार्य नागार्जुन और नव्य न्याय के उद्गावक गंगेश उपाध्याय हुए हैं। गौतम के 'न्यायसूत्र' पर पहला भाष्य वात्स्यायन (३०० ई०) ने लिखा। इस परम्परा का प्रवर्तन क्रमशः उद्योतकर (५५० ई०), वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) और उदयन (९८४ ई०) ने किया। अक्षपाद गौतम से लेकर उदयन तक की न्याय परम्परा उन आचार्यों का समाधान है, जिन्हें बौद्धाचार्यों ने उस पर किया था। इस

खण्डन-मण्डन की परम्परा में जिन घौदाचार्यों ने भाग लिया उनमें नागार्जुन (१७५ ई०), वसुधन्वु (४०० ई०), दिङ्नाग (४२५ ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) प्रमुख हैं । इस आलोचना-प्रत्यालोचना की दृष्टि से कनिष्क से लेकर हर्ष तक बौद्धदर्शन का 'शास्त्रीय युग' और गुप्तकाल से लेकर पालयुग तक 'नैयायिक युग' रहा है ।

तथागत का लोकहितवादी उदार मार्ग समान रूप से सब के लिए प्रशस्त था । उनका उद्देश्य सामाजिक कल्याण की भावनाओं से अनुप्राणित था । उनके बहुत पहले से समाज में दो परस्पर विरोधी दल अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते आ रहे थे । छान्दर भगवतशरण उपाध्याय ने इस पूर्ववर्ती अचार्य-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है—'ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रान्ति कर क्षत्रियों ने उपनिषद् विद्या की प्रतिष्ठा की । ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव ढाली । इस संवर्ष का काल-प्रसार बहुत लम्बा रहा, जो अन्ततः, द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ । इसमें एक ओर तो यशिष्ठ, परशुराम, दुरकाशपेय, काश्यायन, राक्षस, पतञ्जलि और पुण्यमित्र शुंग की परम्परा रही और दूसरी ओर विश्वमित्र देवापि, अश्वपति, कैकेय, प्रवहण जैवाल्लि, अजातशत्रु, काशेय, जनक विदेह, पार्श्व महावीर, बुद्ध और घृहद्रथ की ।'

तथागत ने जिस महान् धर्मको जन्म दिया, उसके मूलमें सामाजिक समझौते की भावना विद्यमान थी । दलबन्दी की विचारधाराओं का यावज्जीवन उन्होंने बहिष्कार किया । यही कारण था कि ज्ञानोपलब्धि के बाद सारनाथ में उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं के लिए जो सबसे पहला प्रवचन (५२७ ई० पू०) किया उसमें उन्होंने यही कहा कि 'बहुजन-हित के लिए और बहुजन-सुख के लिए विचरण करो ।' किन्तु

बौद्ध न्याय का उद्भव और विकास

बुद्ध-निर्वाण (३८३ ई० पू०) के लगभग दो सौ वर्ष के ही भीतर बौद्ध-धर्म अष्टादश उप सम्प्रदायों में विभाजित हो गया । इस सम्प्रदाय-विभाजन का सुपरिणाम आरम्भ में तो सन्तोषजनक रहा; किन्तु आगे चलकर भारत से बौद्धधर्म की समाप्ति के कारण भी ये ही सम्प्रदाय हुए।

ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक के तेरह शतक बौद्धधर्म और उससे भी आगे बढ़कर भारतीय इतिहास के उज्ज्वल शतक हैं। यह युग बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक विकास का युग था। बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक विकास का ऐतिहासिक अध्ययन करते समय विभिन्न युगों में आयोजित उसके गृह्य सांस्कृतिक अधिवेशनों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। ये सांस्कृतिक अधिवेशन बौद्ध-साहित्य में 'बौद्ध-संगीति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बौद्धसंगीति का पहला अधिवेशन महाकप्यप के राजगृह में आयोजित किया गया था, दूसरा अधिवेशन वैशाली में, तीसरा पाटलिपुत्र में और चौथा अधिवेशन कश्मीर में सम्पन्न हुआ। इन संगीतियों में देश के दिग्गज विद्वानों को आमन्त्रित कर तत्कालीन शासकप्रेमी नरेशों ने बौद्धधर्म की सम्प्रदाय-संघन्धी अभ्युन्नति और उसके पारस्परिक विवादों के समाधानार्थ योजनाएँ स्थिर कीं। इन्हीं अधिवेशनों में बौद्धमिक्षुओं की विभिन्न मिशनरियों भी कायम करके उनको सुदूर विदेशों में प्रचारार्थ भेजा गया।

वैशाली के सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की बौद्ध-संगीति में भारतीय बौद्धसंघ थेरवाद (स्थविरवाद), सन्धेरियवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक) इन तीन सम्प्रदायों में विभाजित हुआ। महासांघिकों ने ही आगे चलकर महायान सम्प्रदाय को जन्म दिया। बौद्धधर्म के साम्प्रदायिक विकास की दो प्रमुख धाराएँ हैं : हीनयान और महायान। हीनयान सम्प्रदाय का आविर्भाव ५०० ई० पू० तथा उसकी अन्तिम सीमा २०० ई० है। आगे चलकर इस सम्प्रदाय का-

विकास स्थविरवाद और वैभाषिक दो शाखाओं में विभाजित हुआ। महायान सम्प्रदाय की सीमा २००-८०० ई० तक है। इसकी सैद्धान्तिक परम्परा भी माध्यमिक और योगाचार, इन दो शाखाओं में विभाजित हुई।

स्थविरवादी सम्प्रदाय हीनयान शाखा का और बौद्धधर्म का सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। स्वयमेव तथागत इस सम्प्रदाय के प्रवचनकार थे। इस सम्प्रदाय का सम्पूर्ण साहित्य पालि भाषा में है। आचार्य कुमारलात (२०० ई०), बुद्धघोष, बुद्धदन्त और धर्मपाल (५वीं शताब्दी) ने इस सम्प्रदाय की परम्परा को आगे बढ़ाया।

आर्य कात्यायनीपुत्र विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर आचार्य चसुमित्र की अध्यक्षता में जो 'विभाषा' नामक टीका लिखी गयी थी उसी के आधार पर एक दूसरे सम्प्रदाय का नामकरण हुआ, जिसे वैभाषिक सम्प्रदाय कहा जाता है। आर्य कात्यायनीपुत्र तथागत के षट्-शिष्यों में से थे। चौथी शताब्दी में विद्यमान मनोरथ और संघभद्र इस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य हुए। इस सम्प्रदाय का सारा साहित्य अपने मूल रूप संस्कृत में न होकर चीनी एवं तिब्बती अनुवादों के रूप में मिलता है।

महायान सम्प्रदाय की ऐतिहासिक परम्परा यद्यपि आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) से भी प्राचीन है; किन्तु इन्हीं आचार्यपाद-कृत 'प्रज्ञा-पारमितासूत्र' से ही माध्यमिक सम्प्रदाय का उद्भव माना जाता है। नागार्जुन अपने समय के अद्विष्ट पण्डित थे। सुप्रसिद्ध रूसी दार्शनिक प्रो० शेरवास्की ने आचार्य नागार्जुन की गणना संसार के प्रमुख तार्किकों में की है। स्थविर बुद्धपालित, भावविवेक और चन्द्रकीर्ति प्रभृति गुप्त-कालीन आचार्यों ने नागार्जुन की परम्परा का समर्थ अनुवर्तन किया।

बौद्ध दर्शन के सर्वाधिक विख्यात एवं सर्वश्रेष्ठ योगाचार सम्प्रदाय का आविर्भाव गुप्त-काल से हुआ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य मैत्रेय हैं और सहोदर भाई असंग तथा वसुबन्धु ने मैत्रेय के सिद्धांतों का विकास अपने युग-विधायक ग्रन्थों में किया। तदनन्तर इस परम्परा के आचार्यों में स्थिरमति, दिह्नाग, चन्द्रगोमिन्, शंकरस्वामी और धर्मपालन का नाम प्रमुख है। इन चारों सम्प्रदायों का सैद्धांतिक दृष्टिकोण सत्त्व में इस प्रकार समझा जा सकता है :

सौत्रांतिक	वाद्यार्थानुमेयवादी	संसार सत्य, निर्वाण असत्य
वैभाषिक	प्रत्यक्षवादी	संसार सत्य, निर्वाण सत्य
माध्यमिक	शून्यवादी	संसार असत्य, निर्वाण असत्य
योगाचार	विज्ञानवादी	संसार असत्य, निर्वाण सत्य

बौद्ध-न्याय की शून्यवादी परम्परा अति सूक्ष्म, तर्कपूर्ण और मौलिक है, जिसके प्रमुख आचार्य नागार्जुन हैं। 'शून्य' नागार्जुन के दार्शनिक दृष्टिकोण का मौलिक आधार है। उनके अनुसार सत्य के दो पक्ष हैं : संवृत और परमार्थ। संवृत सत्य प्रत्यक्ष सत्य है, किन्तु जो वास्तविक सत्य न होकर सत्य का मिथ्याभास है। सौत्रांतिक और वैभाषिक संवृत सत्य से आगे न बढ़ सके। परमार्थ सत्य परोक्ष सत्य है और यही सत्य का सनातन रूप है। अस्ति और नास्ति दोनों की पकड़ से दूर परमार्थ सत्य ही आचार्य नागार्जुन का 'शून्य' है जो कि बुद्धिगम्य है। आचार्य नागार्जुन ने एक बहुत बड़ा कार्य यह किया कि उन्होंने उपनिषद्, गीता के सिद्धान्तों को अपने शून्यवाद के माध्यम से बौद्ध-न्याय के साँचे में ढाल दिया जिसका पूर्ण विकास हम आगे चलकर शांकर-दर्शन में पाते हैं।

बौद्ध धर्म की साम्प्रदायिक परम्परा यहाँ तक अपनी उन्नतावस्था में रही; किन्तु आगे चलकर उसकी दशा उत्तरोत्तर विकृत होती गयी।

भारतीय पद्धतियों के विकास में लगभग छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का समय जहाँ एक ओर दार्शनिक चिन्तन का समय रहा है वहाँ दूसरी ओर बौद्ध न्याय को हम उसकी उच्चावस्था से पतन की ओर उन्मुख होते देखते हैं। महायान सम्प्रदाय ने अपनी ओर से समाज को ब्राह्मणत्व के विरोध में खड़ा करने के लिए कुछ ऐसे अवान्वित साधन अपनाये जिनका कुपरिणाम यह हुआ कि समाज बौद्ध धर्म से विमुख होने लगा। बौद्धों का मन्त्रयान और वज्रयान महासुखवाद के प्रतीक थे। यह महासुखवाद, पुरोहितवाद, हिन्दुत्व और स्वयं बौद्ध धर्म के लिए एक महान् खतरा था। पाँचवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक से इस समय को विद्वानों ने उत्तर भारत के आध्यात्मिक पतन का समय कहा है। एक तीसरे सहजयान सम्प्रदाय का उद्देश्य अब केवल ऐन्द्रिय सुख में ही रह गया और उसकी सम्पूर्ण अस्त्राह्याँ अब व्यभिचार में बदल गयी थी।

भिक्षु-भिक्षुणी, श्रावक-श्रावकी और कापालिक-कापालिकी के खुले-आम व्यभिचार ने समाज को बौद्ध धर्म से विमुख होने के लिए विवश कर दिया। मण-मैथुन की एकदम झूट हो गयी। सहजिया और वज्रयानियों ने शून्यता और करुणा को प्रज्ञा और उपाय की संज्ञा देकर दोनों के बीच नर-नारी के सम्बन्ध को कायम किया। उपाय का प्रतीक साधक स्वयं होगया और प्रज्ञाका प्रतीक साधिका बन गयी।

फिर भी यह उस पवित्र धर्म का नगण्य पक्ष है। बौद्ध-धर्म का यह विकृत पक्ष अपने ही विनाश का कारण हुआ और समाज उससे सर्वथा अलूना रहा। बौद्ध-धर्म की वास्तविकता तो उसके उच्चादशों में सन्निहित है, जिनके कारण भारत-भूमि गौरवान्वित हुई और जिनका प्रभाव आज ढाई हजार वर्ष बाद भी इस धरती पर ज्यों का त्यों अलुण्ण है।



बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

भगवान् बुद्ध द्वारा समाधिष्ट बौद्ध-धर्म के चतुर्मुखी विकास और व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए गुप्त साम्राज्य को स्वर्णिम युग कहा गया है। गुप्त-साम्राज्य की सीमा इतिहासकारों ने श्रीगुप्त (२७५ ई०) से लेकर विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य (६०० ई०) तक निश्चित की है। भारतीय साहित्य की गौरवामिवृद्धि के लिए बौद्ध-धर्म का अम्युदय अपनी एक उज्ज्वल ऐतिहासिक परम्परा रखता है, जिसका सम्पूर्ण श्रेय गुप्त-युग को है।

गुप्त-युग में जहाँ एक ओर हरिषेण, वीरसेन, वसुभट्टि, वासुल, कालिदास, माण्डगुप्त, भर्तृहरि, शूद्रक, विशाखदत्त, सुबन्धु, भामह और

अमरसिंह जैसे गद्यकार, महाकाव्यकार, नाटककार, काव्यशास्त्री और कोशकार प्रभृति सुप्रसिद्ध विद्वानों के सहयोग से संस्कृत-साहित्य की चरमोन्नति हुई, आचार्य विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण, दिङ्नाग, उद्योतकर, प्रशस्तपाद और शबरस्वामी जैसे सांख्यकार, नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसाकारों के उद्भट व्यक्तित्व ने भारतीय दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अद्भुत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और जिस युग में आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर जैसे विश्वविख्यात ज्योतिषशास्त्री तथा आचार्य वात्स्यायन जैसे कामशास्त्री हुए, वहाँ दूसरी ओर हिन्दू धर्म के मूलस्रोत पुराणों का संस्करण एवं हिन्दू-धर्म के प्राणसर्वस्व याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति, नारदस्मृति, बृहस्पतिस्मृति और कात्यायनस्मृति जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थ तथा उन पर बृहद् भाष्यों का निर्माण भी इसी वैभवशाली गुप्त-युग में हुआ ।

धार्मिक साहित्य के अभ्युदय के लिए एकमात्र युग यही रहा है । ब्राह्मण-साहित्य के अतिरिक्त जैन धर्म के आधारभूत आगम-ग्रन्थ इसी युग में सर्व प्रथम लिपिवद्ध हुए और जैन-न्याय क्रमवद्ध रूप में संकलित किया गया । आचार्य सिद्धसेन, दिवाकर, जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि, सामन्तभद्र, देवनन्दि जैसे सुविख्यात जैनाचार्यों के उद्भव का यही युग था ।

इसी कारण गुप्त-साम्राज्य भारतीय इतिहास के लिए चरदान स्वरूप समझा जाता है । उदारमना गुप्त-नरेशों की सद्ब्यवस्था, न्यायपरायणता, प्रजाप्रेम और विद्या-व्यसन अपनी उज्ज्वल ऐतिहासिक परम्परा रखते हैं । गुप्त-सम्राट् बौद्ध-धर्मानुयायी थे । उन्होंने इस धर्म को इसलिए अपनाया था कि उसमें 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' की उदार भावना विद्यमान थी । उनके राजधर्म का उद्देश्य प्राणिमात्र

बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

की महामाग-समना था। यौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपने विद्वानों को उन्होंने बाहरी देशों में भेजा। इन यौद्ध प्रचारकों ने चीन, जापान, तुर्किस्तान, आया, सुमात्रा तथा बांग्लादेशी मूल के विदेशों में यौद्ध-धर्म एवं यौद्ध-साहित्य का प्रचार किया। इस भाँति वे पश्चिम और मध्य-पूर्व के कारण बाहरी विद्वान् भी भारत आए। अठारहवीं शताब्दी के एक मुसलमान-महान् यौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया। मुसलमान भारतीय विद्वान् प्रचारकों में सुमरजीव, सुदमद, सुदयन, धर्मरत्न, सुगर्भम्, सुगन्ध, योगिधर्म, संघराज, पद्मार्थ, उपशून्य, योगिन्धि और सुदर्शन प्रभृति पर्यटकों का नाम उल्लेखनीय है। सुमरजीव (चौधरी शम्भूदास) और परमार्थ (दही दासदास) जैसे विद्वानों ने साधुजीवन चीन में रहकर यौद्ध-साहित्य के प्रमुख भाषाओं की अनेक कृतियों का अनुवाद चीनी भाषा में किया, जिनमें अधिकांश ऐसी कृतियाँ आज भी वहीं सुरक्षित हैं जो अपने मूलरूप में नहीं मिलती हैं।

यौद्ध-साहित्य की महान् कृतियों के साथ सुसमाचार्य भी अमर हैं। सुसमाल के इन यौद्धाचार्यों ने भारतीय साहित्य को गौरवान्वित तो किया ही, साथ ही चीन, जापान और तिब्बत प्रभृति देशों की साहित्यिक-समृद्धि में भी उनका कम सहयोग नहीं रहा है। सुसमाल साहित्य-निर्माण का महान् संघर्ष-काल रहा है। इस युग में ब्राह्मण-धर्म और यौद्ध-धर्म की घोर प्रतिस्पर्धा के कारण जिन क्रांतिकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन उभय-पक्षों आचार्यों द्वारा संसार हुआ, वैसा इतिहास में अन्यत्र नहीं दिखाई देता है। ब्राह्मण-आचार्यों ने यौद्धों के वेद-निन्दक तर्कों का जोरदार विरोध किया और इसी प्रकार यौद्धाचार्यों ने अपने सिद्धान्तों के मण्डनार्थ प्रभावशाली तर्क उपस्थित किए। इस

उभयविध धार्मिक होड़ एवं तर्क-वितर्क का सुपरिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन दोनों की चरमोन्नति हुई और ऐसी विचारपूर्ण कृतियों की उद्गावना हुई जिनके कारण भारतीय साहित्य का प्रांगण प्रकाशमान हो उठा ।

बौद्ध-साहित्य का अनुशीलन करते हुए विदित होता है कि सैद्धांतिक दृष्टि से उसमें मौलिक अन्तर है । हीनयान और महायान उसके दो प्रधान सैद्धांतिक संप्रदाय हैं । ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर हीनयान का उद्भव ५०० वि० पूर्व और महायान का जन्म २०० वि० में हुआ । हीनयान दो उप-संप्रदायों में विभाजित है—स्थविरवाद और वैभाषिक । इसी प्रकार महायान भी माध्यमिक और योगाचार इन दो उप-संप्रदायों में विभक्त है । इन चारों संप्रदायों की सैद्धान्तिक परम्परा को प्रतिष्ठित करने में गुप्तकालीन बौद्धाचार्यों का उल्लेखनीय योग रहा है ।

स्थविरवाद संप्रदाय

वैशाली की सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की चौथी बौद्ध-संगीति ऐतिहासिक दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है । यह संगीति सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल में ३२६ वि० पू० हुई थी । इसी संगीति के बाद भारतीय बौद्ध-संघ थेरवाद (स्थविरवाद), सव्यात्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक) इन तीन शाखाओं में विभाजित हुआ । इन महासांघिकों ने ही कालान्तर में महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा की । स्थविरवाद संप्रदाय बौद्ध-धर्म का सबसे प्राचीन संप्रदाय है । इस संप्रदाय के प्रवचनकार स्वयं भगवान् बुद्ध थे । इस संप्रदाय का संपूर्ण साहित्य पालि-भाषा में है, जिसकी रचना गुप्त-काल के पूर्व हो चुकी थी । स्थविरवाद-संप्रदाय के पालि-ग्रन्थों के

ग्रामाणिक टीकाकार गुप्त-युग में ही हुए। ये टीका-ग्रन्थ धार्मिक दृष्टि से जितने उपयोगी हैं, साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य कहीं अधिक समझा जाता है। पालि भाषा की सर्वांग समृद्धि के लिए इन ग्रन्थों का बड़ा महत्त्व है।

स्थविरवादी विचारधारा भी मौलिक रूप से दो फूलों में विभाजित है : सौत्रांतिक और वैभाषिक। इन दोनों के दार्शनिक सिद्धान्त 'सर्वास्तिवादी' हैं। सौत्रांतिक संप्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य कुमारल्लात ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए। इस संप्रदाय का कोई प्रतिनिधि ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

स्थविरवाद संप्रदाय के आचार्य बुद्धघोष, आचार्य बुद्धदत्त और आचार्य धम्मपाल गुप्त-काल के सुप्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। इस आचार्य-त्रयी की टीका-कृतियाँ अपना मौलिक जैसा महत्त्व रखती हैं। बुद्धघोष का स्थान बौद्ध-साहित्य के शीर्षस्थानीय ग्रन्थनिर्माता आचार्यों की कोटि में आता है। पालि और संस्कृत दोनों भाषाओं पर इनका असाधारण अधिकार था। धर्म, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र और इतिहास सभी विषयों के ये प्रकांड पंडित थे। ये मगधदेशीय ब्राह्मण थे और इनके गुरु का नाम रैघत था। भगवान् बुद्ध जैसे वर्चस्वी व्यक्तित्व और असामान्य प्रतिभासंपन्न होने के कारण उनका यह नाम पड़ा। इनका इतिहास-सम्मत स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी का आरम्भ है।

आचार्य बुद्धघोष बड़े जिज्ञासु थे। भारत में अप्राप्य होने के कारण ये सिंहली भाषा में लिखी गई 'अट्ठकथाओं' के अध्ययन के लिए लंका गए। इनके पांडित्य एवं प्रतिभा को देख कर वहाँ के तत्कालीन राजा महानाम ने तथा वहाँ के सुप्रसिद्ध अनुराधापुर महाविहार के विद्वान् भिक्षुओं ने इनका यथोचित सम्मान ही नहीं किया, इन्हें 'अट्ठकथाओं'

का पालि भाषा में अनुवाद करने की सहर्ष स्वीकृति भी दे दी। चीन और तिब्बत के इतिहासकारों ने इनके नाम से अनेक कृतियों का उल्लेख किया है, जिनमें लगभग ११ ग्रन्थों का प्रामाणिक निर्माता इन्हें ही माना जाता है। इनके ग्रन्थों के नाम हैं : १. विशुद्धिमग (अष्टकथा की दो कथाओं का अनुवाद), २. सामंतपासादिका, ३. कंखा-वित्तरणी, ४. सुसंगल विलासिनी, ५. पपंचसूदनी, ६. सारथ्य पकासिनी, ७. मनोरथ पूरणी, ८. परमथ कथा, ९. खुदकपाठ, १०. सुत्तिनिपात और ११. अपादान।

आचार्य बुद्धदत्त स्थविरवाद संप्रदाय के दूसरे टीकाकार उरियापुर निवासी थे। बुद्धवोष की भांति ये भी पालि ग्रंथों के अध्ययनार्थ लंका गए। ये कुमारगुप्त प्रथम के समकालीन पांचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए। लंका से वापिस आते हुए मार्ग में बुद्धवोष से इनका पहिला परिचय हुआ और तदुपरांत यावज्जीवन दोनों विद्वानों का विचार विमर्श होता रहा। आपकी रचनायें इस प्रकार हैं : १. अभिधम्मावतार, २. रूपारूप विभाग, ३. विनयविनिश्चय, ४. उत्तर विनिश्चय और ५. मधुरथ विलासिनी।

आचार्य धम्मपाल इस संप्रदाय के अंतिम टीकाकार हुए। ये रौंची निवासी थे। इनका स्थितिकाल बुद्धदत्त के कुछ बाद में है। आचार्य धम्मपाल के व्याख्या-ग्रन्थों की शैली और पारिभाषिक शब्दों की प्रतिपत्ति का ढंग विद्वत्तापूर्ण है। इनके ग्रन्थ हैं : १. परमथ दीपिनी, २. विमानवत्थु-टीका, ३. पेतवत्थु-टीका, ४. थेरीगाथा-टीका, ५. थेरगाथा-टीका, ६. इविबुत्तक, ७. उदान-टीका और ८. चरियापिटक-टीका।

वैभाषिक सम्प्रदाय

हीनयान शाखा का वैभाषिक संप्रदाय सर्वास्तिवादी संप्रदाय है।

सम्राट् अशोक के संरक्षण में और आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में पांच सौ मिष्ठुओं की दौदसह्यीति ने आर्य कात्यायनीपुत्र विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम 'विभाषा' रखा गया। इसी टीका के आधार पर इस संप्रदाय का नाम 'वैभाषिक' पड़ा। कनिष्क इस सम्प्रदाय का प्रबल प्रचारक था। आर्य कात्यायनीपुत्र स्वयं बुद्ध भगवान् के शिष्य माने जाते हैं। वैभाषिक अभिधर्म की प्रायः सारी ग्रन्थ-संपत्ति अपने मूल रूप संस्कृत में न होकर चीनी अनुवाद के रूप में उपलब्ध होती है। इन्हीं अनूदित ग्रन्थों के आधार पर इस संप्रदाय के केवल दो आचार्यों का पता लगता है, जिनका आविर्भाव गुप्त-साम्राज्य में हुआ। पहिले आचार्य का नाम मनोरथ था। इनकी जीवन-सम्बन्धी जानकारी और कृतिष्व-विषयक निराकरण प्रामाणिक रूप से अभी तक उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में इतिहासकार केवल इतना पता भर लगा सके हैं कि आचार्य वसुबंधु के मित्र होने के कारण ये ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

संघभद्र इस संप्रदाय के दूसरे आचार्य अयोध्या-निवासी थे। ये भी आचार्य मनोरथ के समकालीन थे। महायान के योगाचार संप्रदायवादी धुरंधर आचार्य वसुबंधु के घोर प्रतिस्पर्धी होने के कारण आचार्य संघभद्र का व्यक्तित्व बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में सर्वत्र प्रतिष्ठायित है। वसुबंधु कृत 'अभिधर्मकोश' का खंडन करने के लिए चारह वर्ष के घोर परिश्रम के बाद इन्होंने 'कोश-करका' नामक एक अद्भुत ग्रन्थ का निर्माण किया था, जिसको इन्होंने मृत्युकाल के कुछ समय पूर्व रुणावस्था में वसुबंधु के पास भेज दिया था। वसुबंधु ने उक्त ग्रन्थ का नाम बदल कर 'न्यायानुसार शास्त्र' करवा दिया, जिस नाम से आज

भी वह प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त संघभद्र ने 'समय-प्रदीपिका' नामक एक दूसरी कृति का भी निर्माण किया।

माध्यमिक सम्प्रदाय

हीनयान-शाखा के उक्त दोनों संप्रदायों की भांति माध्यमिक संप्रदाय का आविर्भाव भी यद्यपि गुप्त-काल से पूर्व ही हो चुका था, तथापि उसके सर्वमान्य सिद्धान्तों एवं महती विशेषताओं का प्रतिपादन इसी काल में हुआ। माध्यमिक संप्रदाय का 'शून्यवादी' मत बौद्ध-दर्शन का सर्वाधिक सूक्ष्म और तर्कपूर्ण मत है। इस संप्रदाय की स्थापना यद्यपि नागार्जुन के पहिले ही हो गई थी; किन्तु इन आचार्यपाद ने इस मत के मूलग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' पर 'माध्यामिक-कारिका' की रचना कर शून्यवाद के सिद्धान्तों को अजेय बना दिया। आचार्य स्थविर बुद्धपालित, आचार्य भावविवेक और आचार्य चन्द्रकीर्ति गुप्त-काल के ऐसे प्रकांड विद्वान् हुए, जिन्होंने अद्भुत व्याख्या-ग्रन्थों तथा भाष्य-ग्रन्थों का निर्माण कर माध्यमिक मत को चिरस्थायी बना दिया।

आचार्य नागार्जुन कृत 'माध्यमिककारिका-व्याख्या' का जो तिब्बती भाषा का अनूदित संस्करण उपलब्ध होता है, उसके अंतिम भाग में माध्यमिक दर्शन के जिस शीर्षस्थ आचार्य-अष्टक का उल्लेख किया गया है, उनमें स्थविर बुद्धपालित का भी एक नाम है। इन आचार्यपाद ने एक नये दार्शनिक मत का भी प्रवर्तन किया, जिसका नाम 'प्रासंगिक मत' है। तिब्बती अनुवाद के रूप में इनके एक 'वृत्ति' ग्रन्थ का अन्वेषण मैक्स वालेजर नामक एक जर्मन विद्वान् ने किया। इसको उन्होंने 'विब्लोयिका बुद्धिका' नामक ग्रन्थ-माला की १६ वीं संख्या में प्रकाशित भी किया है।

माध्यमिक संप्रदाय के दूसरे गुप्त-कालीन आचार्य भावविषेक हुए । उन्होंने भी बौद्ध-ध्याय के चेश में एक नये दार्शनिक मत को जन्म दिया । इनके मत का नाम 'स्यातंत्र्य मत' है, जिसके कारण इनको पर्याप्त भ्याधि मिली । इनकी कृतियाँ बेशुद्ध लिप्यन्तरीय और चीनी अनुयायों के रूप में उपलब्ध होती हैं । इनके उपलब्ध ग्रन्थ हैं : १ माध्यमिककारिका-व्याख्या, २ माध्यमद्वयकारिका, ३ माध्यमाधं संप्रदा और ४ हस्तारस ।

इस संप्रदाय के निर्माणकों में आचार्य चन्द्रकीर्ति का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है । जीवरस्यानीय आचार्यों में आपकी भी गणना है । इनके गुप्तरूप का नाम कमलपुद्गि और धर्मपाठ था । ये दाक्षिणात्य थे और इनका जन्मकाल पुरी बतायी है । नाएन्दा महाविहार में भी कुछ दिनों तक आप आचार्य पद पर संनानित रहे । यहीं योगाचारसंप्रदाय के प्रकाष्ठ विद्वान् और सुप्रसिद्ध पैपाकरण आचार्य चन्द्रगोमिन् के साथ आपका गहरा साधार्य भी हुआ था । आचार्य पुद्गलिता द्वारा उद्गाथित 'प्रामांगिक मत' के आधार निष्ठात विद्वान् थे । इनकी ये तीन कृतियाँ अभी तक उपलब्ध हुई हैं : १ माध्यमिकावतार, २ प्रसन्नपदा और ३ चतुःशतकटीका ।

योगाचार संप्रदाय

योगाचार संप्रदाय का जन्मदाता गुप्त-साम्राज्य है । एक सर्वथा स्वतंत्र संप्रदाय का और ऐसे संप्रदाय का, जिसने बौद्ध दर्शन के साहित्य को अप्रसर होने के लिए नया मोड़ दिया, गुप्त-साम्राज्य में निर्माण हुआ, जिसके महाप्राण निर्माताओं का नाम भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर लिखा गया । गुप्त-युग की भौति योगाचार संप्रदाय का नाम भी अमर है ।

आधुनिक स्त्रोत्रों के प्रामाणिक निर्देश हैं कि आचार्य मैत्रेय योगाचार संप्रदाय के संस्थापक थे। योगाभ्यास द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का साधन होने के कारण इस संप्रदाय का 'योगाचार' ऐसा नामकरण हुआ। इसका दूसरा दार्शनिक सिद्धान्त 'विज्ञानवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य मैत्रेय का इतिहास-संमत स्थितिकाल गुप्तकाल का आरंभिक भाग है। तिब्बतीय इतिहासकार बुस्तोन ने मैत्रेय के पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है : १ सूत्रालङ्कार, २ महायान उत्तरतंत्र, ३ मध्यान्त विभाग, ४ धर्मधर्मता विभाग और ५ अभिसमयालङ्कारिका।

आचार्य मैत्रेय के बाद योगाचार संप्रदाय के उद्भूत विद्वानों में आर्य असङ्ग का नाम बौद्ध-दर्शन के इतिहास में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। कुछ दिन पूर्व इन्हें ही इस संप्रदाय का संस्थापक माना जाता था। इनका जन्म गांधारदेश के पुरुषपुर अर्थात् पेशावर में हुआ। ये कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके दो छोटे भाइयों के नाम क्रमशः वसुबंधु और वसुबंधु-धिरिचिवरस था। सम्राट् समुद्रगुप्त के समय चौथी शताब्दी में इनका स्थितिकाल था। आचार्य मैत्रेय इनके गुरु थे। वसुबंधु को योगाचार संप्रदाय में इन्होंने ही दीक्षित किया। आर्य असंग को दार्शनिक पटुंघ वड़ी प्रचण्ड और उनके सिद्धान्त बड़े ठोस एवं मौलिक थे। इनकी प्रायः सभी उपलब्ध कृतियाँ मूल संस्कृत में न होकर चीनी अनुवाद के रूप में मिली हैं। इनके उपलब्ध ग्रन्थ हैं : १ महायान संपरिग्रह, २ प्रकरण आर्यवाचा, ३ महायानाभिधर्म-संगीतिशास्त्र और ४ योगाचार भूमिशस्त्र।

उपरि निर्दिष्ट आर्य असंग के कनिष्ठ भ्राता आचार्य वसुबन्धु को इतिहासकारों ने योगाचार संप्रदाय के अन्तर्गत ही माना है। जीवन के आरंभ से मृत्यु के दस वर्ष पूर्व वसुबन्धु हीनयान के वैभाषिक संप्रदाय

के आचार्य रहे हैं; किन्तु जीवन के अन्तिम दस वर्ष आर्य असंग द्वारा योगाचार सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण उनकी गणना इसी सम्प्रदाय में की गई ।

आचार्य वसुबन्धु की जीवन सम्यन्धी जानकारी के लिये हमारे पास पर्याप्त सामग्री विद्यमान है । सातवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्वेनसाँग और इत्सिंग के भ्रमण-वृत्तान्तों में इन आचार्यपाद की पर्याप्त चर्चा की गई है । इसके अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से इनके दो जीवनी-ग्रन्थ भी लिखे गये । वसुबन्धु का पहिला जीवनीकार कुमारजीव था । इन्होंने ४०१—४०९ ई० के बीच इनका जीवन चरित्र लिखा । दूसरे जीवनीकार परमार्थ ने ४९९—५६० ई० के बीच अपनी पुस्तक लिखी । कुमारजीव की पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है । परमार्थ की चीनी भाषा में अनूदित पुस्तक आज भी विद्यमान है । जापानी विद्वान् सकाकसु ने अंग्रेजी में उसका अविकल अनुवाद किया है ।

इस जीवनी-ग्रन्थ से विदित होता है कि आचार्य वसुबन्धु युवावस्था में अपनी जन्मभूमि छोड़कर अयोध्या गए और वहाँ उन्होंने स्यविर बुद्धमित्र से हीनयान सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की । इतिहासकारों और पुरातत्व-वेत्ताओं की अन्तिम राय है कि वसुबन्धु का स्थितिकाल सम्राट् समुद्रगुप्त के राज्यकाल में अर्थात् चौथी शताब्दी में था । इनके जीवनकाल की सीमा २८०-३६० ई० के बीच है । ८० वर्ष तक ये जीवित रहे ।

आचार्य वसुबन्धु का व्यक्तित्व और उनकी विद्वत्ता के परिचायक सूत्र उनकी समस्त कृतियों में विद्यमान हैं । इतिहास इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी अद्भुत तर्कनाशक्ति और वाग्मिता के सम्मुख बड़े-बड़े विद्वान् निरुत्तर हो गए । आचार्य विन्ध्यवासी और आचार्य सद्धर्मद्र से इनका गहरा शास्त्रार्थ हुआ था । इनके वर्चस्वी व्यक्तित्व एवं गम्भीर

ज्ञान का मुकाबला करने वाला विद्वान् इनके समय में नहीं हुआ । बौद्ध-दर्शन के तो ये जैसे विश्वकोश थे । इन्होंने हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों पर प्रामाणिक कृतियाँ लिखीं । इनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं :

हीनयान सम्प्रदाय : १ परमार्थ ससति, २ तर्कशास्त्र, ३ वादविधि, ४ गाथा संग्रह और ५ अभिधर्मकोश ।

महायान सम्प्रदाय : १ सद्धर्म पुण्डरीक-टीका, २ महापरिनिर्वाण सूत्र-टीका, ३ वज्रछेदिका प्रज्ञापारमिता टीका और ४ विंशतिका ।

इसके अतिरिक्त इतिहासकार बुस्तोन ने इनके छह अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है : १ पञ्चस्कन्ध प्रकरण, २ व्याख्या युक्ति, ३ कर्मसिद्धि प्रकरण, ४ महायान सूत्रालङ्कार टीका, ५ प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र-टीका और ६ मध्यान्तविभाग-भाष्य ।

योगाचार सम्प्रदाय के गुप्तकालीन आचार्य स्थिरमति, वसुबन्धु के ग्रन्थों में थे । इनका स्थितिकाल चौथी शताब्दी का अन्तिम भाग है । इन्होंने प्रायः अपनी सभी कृतियाँ अपने गुरुपाद के ग्रन्थों पर टीका रूप में लिखी हैं । वसुबन्धु के ग्रन्थों का गूढ़ आशय जानने के लिए इनकी टीकायें बड़ी उपयोगी हैं । इनके टीका-ग्रन्थ हैं : १ काश्यप परिवर्त-टीका, २ सूत्रालङ्कारवृत्ति-भाष्य, ३ त्रिशिका-भाष्य, ४ पञ्चस्कन्ध प्रकरण-वैभाष्य, ५ अभिधर्मकोश भाष्य-वृत्ति, ६ मूलमाध्यम कारिका-वृत्ति और ७ मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य-टीका ।

आचार्य स्थिरमति के बाद इस क्षेत्र में एक महान् विभूति का समागम हुआ, जिन्होंने अपने प्रकाण्ड प्राण्डित्य की सुहर लगाकर योगाचार सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अमर बना दिया । इनका नाम

या दिद्नाग । आचार्य दिद्नाग साहज थे और बाबा के निवृत्त सिद्धांत ग्राम में पाँचवीं जगदीश के आरम्भ में इन्होंने जन्म प्राप्त किया । पाप्मीपुत्रीय-महापद्मजी आचार्य नामाक्षर अगरे गुरु थे । बाद में आप समुच्चय के शिष्य हुए ।

आचार्य दिद्नाग पञ्चगवार्त्तिक थे । इसी कारण आप समाज में 'तर्कपुद्गल' उपनाम से प्रचलित हुए । गुप्तकाल की धार्मिक प्रतिक्रिया में साहज-साहित्य के साथ तिरती मुग्धेद इन्होंने ली, सम्भवतः उतनी किमी दूसरे बौद्धाचार्य ने नहीं । महर्षि गौतम और आचार्य वात्स्यायन के सुद्ध विद्वान्तों से जगद् केंद्रने की समता आचार्य दिद्नाग में ही थी । आचार्य दिद्नाग मध्यकालीन बौद्ध न्याय के पिता कहे जाते हैं । भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में इन्हें एक नये युग का प्रवर्तक कहा गया है । बौद्ध न्याय के ये पहिले व्यवस्थापक भी थे । इनकी विद्वत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इनके 'प्रमाण-समुच्चय' पर आज तक अधिचारी विद्वानों द्वारा इस प्रामाणिक टीकाएँ लिनी जा चुकी हैं । इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं : १ प्रमाण-समुच्चय, २ प्रमाण-समुच्चय-वृत्ति, ३ न्याय-प्रवेद, ४ हेतुचक्र निर्णय, ५ प्रमाण-शास्त्र न्याय-प्रवेद, ६ आह्वयन परीक्षा, ७ आह्वयन परीक्षा-वृत्ति, ८ त्रिकाष्ट-परीक्षा और ९ मर्मप्रदीप वृत्ति ।

आचार्य दिद्नाग के बाद इस सांप्रदायिक परम्परा में सुप्रसिद्ध पैपाकरण आचार्य चन्द्रगोमिन् हुए । ये समुच्चय के प्रशिष्य और रियरमति के शिष्य थे । इनका व्यतिरय व्याकरण के क्षेत्र में अधिक है । इनकी प्रतिभा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इन्होंने पाणिनि-व्याकरण के असिद्ध प्रयोगों को अपने सूत्रों द्वारा सिद्ध करके रख दिया । दक्षिण भारत से पतञ्जलि कृत 'महामाध्य' का

पुनरुद्धारक भी इन्हें ही माना जाता है। नालन्दा के आचार्य चन्द्रकीर्ति से इनका एक ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ था। इनका आविर्भाव काल पाँचवीं शताब्दी का मध्यभाग है। इन्होंने काव्य तथा नाटक भी लिखे। इनके ग्रन्थ हैं : १ शिष्य लेख धर्मकाव्य, २ आर्य साधन शतक, ३ आर्य तारान्तर बलि विधि, ४ लोकानन्द (नाटक) और ५ चान्द्र-व्याकरण।

आचार्य दिङ्नाग के ही एक दाक्षिणात्य शिष्य शंकर स्वामी कृत 'न्याय-प्रवेश तर्कशास्त्र' नामक एक योगाचार सम्प्रदाय विषयक-ग्रन्थ का इतिहासकारों ने चीनी भाषा में पता लगाया; किन्तु इस सम्बन्ध में अभी अनेक मत हैं।

कांची-निवासी आचार्य धर्मपाल योगाचार संप्रदाय के अंतिम गुप्तकालीन आचार्य हैं। अपनी विद्वत्ता और प्रसिद्धि के कारण ये नालन्दा महाविहार के आचार्य भी रहे। इनका स्थितिकाल छठी शताब्दी का मध्यभाग है। इनके ग्रन्थ हैं : १ आलंघन प्रत्ययध्यानशास्त्र-व्याख्या, २ विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि-व्याख्या और ३ शतशास्त्र वैपुल्य-व्याख्या।

इस प्रकार विदित होता है कि गुप्त-साम्राज्य की छत्रछाया में बौद्ध धर्म खूब पनपा और फूला-फला। बौद्ध धर्म की अभिवृद्धि के कारण संस्कृत-साहित्य की अनेक छुँधली दिशायें भी प्रकाशमान हो उठीं। आज बौद्ध-धर्म अपनी जन्मभूमि से विलुप्तप्राय सा हो गया; किन्तु बौद्धाचार्यों की अमर कृतियों में उसका अतीत वैभव युग-युगान्तर तक अक्षुण्ण बना रहेगा।

परम सौभाग्य की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार बौद्धधर्म के उद्धारार्थ सचेष्ट है।



मातृगुप्त और भर्तृमेण्ठ

संस्कृत-साहित्य के निर्माताओं में ऐसे भाग्यशाली कम हुए हैं, जिन पर श्री और सरस्वती की समान इष्टि रही हो, यदि अनुश्रुतियाँ एवं व्यावहारिक जीवन के अनुभव तो यही सिद्ध करते रहे कि ज्ञानसेवी, लक्ष्मी का विश्वासभाजन नहीं हो सका है। किन्तु मातृगुप्त और हर्षवर्धन ने अपने क्रियात्मक जीवन से यह दिखाना दिया कि श्री और सरस्वती का एक साथ किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

काश्मीर के नरपति पद पर प्रतिष्ठित होकर मातृगुप्त ने अपने धी-यश को फैलाया और विद्वद्भ्योमी एवं स्वयं विद्यानुरागी होकर अपने ज्ञान-यश का अर्जन भी किया। इन दोनों में ये पंडित पहले थे और संपत्ति-

शाली बाद में हुए। काश्मीर के प्राचीन गौरव के ज्ञानग्रंथ कहलण कृत 'राजतरङ्गिणी' से विदित होता है कि मातृगुप्त का आरंभिक जीवन बहुत ही साधारण था, जैसा कि किसी भी सरस्वती पुत्र का हो सकता है; किन्तु अपनी अद्भुत काव्यप्रतिभा के कारण उज्जैन के अधीश्वर हर्ष विक्रमादित्य से उन्होंने पर्याप्त यश एवं अर्थलाभ करके अपनी स्थिति को उन्नत किया। विक्रमादित्य के अनुग्रह पर काश्मीर के राजा हिरण्य का निःसन्तान अन्त हो जाने के कारण यह राजगद्दी उन्हें उपलब्ध हुई।

राजतरङ्गिणीकार के मुख से इस प्रसंग का विवरण यों आरम्भ होता है कि काश्मीर के राजा हिरण्य के ३० वर्ष २ मास राज्य करने के उपरांत उसका निःसन्तान ही देहान्त हो गया। ठीक उन्हीं दिनों विक्रमादित्य चक्रवर्ती, जिसका दूसरा नाम हर्ष भी था, राज्य करता था। जिसने शकों का उच्छेद कर पृथिवी को पापमुक्त किया था। वह राजा दिगन्त में प्रसिद्ध था। उसके पास मातृगुप्त महाकवि रहता था। मातृगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ आने से पूर्व बहुतेरी राज्यसभाओं से अपनी योग्यता के कारण सम्मान प्राप्त कर चुका था। विक्रमादित्य जैसे गुणज्ञ एवं विद्वत्सेवी राजा के यहाँ रहने में उसे परम सन्तोष था (राजतरङ्गिणी ३।१२९, १२८, १२९, १३०, १३१)।

निरालस्य होकर बड़े निर्लिस भाव से ६ ऋतु अर्थात् एक वर्ष तक महाकवि मातृगुप्त ने विक्रमादित्य की सेवा की (३।१६०) और राजा ने अपने प्रति उसका इस प्रकार का आदर-भाव देखकर उसके प्रत्युपकार के लिये चिन्ता की (३।१६१)।

इस गुणग्राही, ईमानदार, सेवा-परायण कवीन्द्र के असामान्य गुणों पर मुग्ध होकर विक्रमादित्य ने काश्मीर के तत्कालीन मन्त्रिमंडल को एक आज्ञापत्र लिखकर मातृगुप्त के हाथ वहाँ पहुँचाया और उस मातृगुप्त और भर्तृमेण्ठ

आज्ञापत्र में हिरण्य की उत्तराधिकार-रहित राजगद्दी पर मातृगुप्त को अधिष्ठित करने के लिए लिखा (३।१८९) । सम्राट् के इस आज्ञापत्र को पाकर मन्त्रिमंडल ने मातृगुप्त को अभिषिक्त किया (३।२३७) ।

राज्याभिषिक्त हो जाने के अनन्तर कृतज्ञता-ज्ञापन के लिये मातृगुप्त ने विक्रमादित्य को कुछ भेंट और एक श्लोक रचकर भेजा । श्लोक का आशय था कि हे राजन् आप परोक्षरूप में ही, किसी प्रकार की गर्वयुक्त वाणी का प्रयोग किए बिना ही एवं दान की इच्छा को प्रकट किये बिना ही दे दिया करते हैं । शब्द रहित मेघ के द्वारा की गई घृष्टि के समान आपकी प्रसन्नता फलोपलब्धि के बाद ही जानी जा सकती है (३।२५२) ।

भर्तृमेष्ठ का समागम

मातृगुप्त के सम्वन्ध में यह कहा जा चुका है कि वह कवि-सुलभ भावनाओं को लेकर जन्मा था । इतनी बड़ी संपत्ति का स्वामित्व उसको, उसकी पाण्डित्यप्रतिभा के ही कारण उपलब्ध हुआ था । स्वयं विद्वान् होने से बढ़कर वह विद्वत्सेवी एवं काव्यरसिक भी था । 'राजतरंगिणी' में कहा गया है कि भर्तृमेष्ठ नामक एक महाकवि स्वनिमित्त 'हयग्रीववध' अपनी नवीनतम महाकाव्य कृति को मातृगुप्त के संसुप्त पदने की अभिलाषा से काश्मीर आया । भर्तृमेष्ठ ने अपनी कृति को अन्त-तक पढ़ दिया, किन्तु राजा से उसके सम्वन्ध में जब महाकवि ने एक शब्द भी नहीं सुना तो उसे उसकी गुणग्राहिता एवं काव्यरसिकता पर अविश्वास होने लगा ।

भर्तृमेष्ठ जब अपनी पुस्तक को घेष्टन में समेटने लगा तो, राजा ने टपकता हुआ काव्यामृत पृथिवी पर न गिरने पावे, ऐसी अभिलाषा से उस पुस्तक के नीचे एक सुवर्णपात्र रख दिया । राजा

द्वारा किए गये इस सम्मान से सन्तुष्ट हो महाकवि को अपनी रचना के उपलब्ध में उपलब्ध बहुमूल्य पारितोषिक व्यर्थ सा लगने लगा (२१२६०-२६१) ।

भर्तृमेष्ठ का वास्तविक नाम अविदित है । 'मेंठ' शब्द महावत का पर्यायवाची है । सुभाषित ग्रन्थों में 'हस्तिपक' नाम से जो रचनायें मिलती हैं, वे भी भर्तृमेंठ की ही कही जाती हैं । धनपाल ने इनको मेंठराज कहकर स्मरण किया है । उनकी कविता में हाथियों के प्रति विशेष प्रेम का परिचय मिलता है ।

राजतरङ्गिणी के कथनानुसार मातृगुप्त ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काश्मीर पर शासन किया । यही समय भर्तृमेंठ का भी है । 'शकारि' सम्राट् विक्रमादित्य का समय भी इतिहास-सम्मत यही है ।

भर्तृमेंठ की एकमात्र महाकाव्य कृति 'हयग्रीववध' सम्प्रति उपलब्ध नहीं है । सूक्ति-संग्रहों एवं सुभाषित-ग्रन्थों में उसके श्लोक बिखरे हुए मिलते हैं । राजशेखर ने अपने 'बालरामायण' ग्रन्थ में भर्तृमेंठ के सम्बन्ध में कहा है कि पुराकाल में उत्पन्न वात्मीकि कवि ही अवान्तर जन्म में भर्तृमेंठ, भर्तृमेंठ से भवभूति और भवभूति से राजशेखर हुए ।

मातृगुप्त और भर्तृमेंठ का सम्बन्ध बहुत समय तक बना रहा । मातृगुप्त स्वयं कविता करते और भर्तृमेंठ से कवितायें सुनते थे । भर्तृमेंठ की ही भाँति मातृगुप्त के कवियश को सुरक्षित रखने वाला उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध न होकर उद्धरण रूप में स्फुट कवितायें विभिन्न संग्रहों एवं ग्रन्थों में मिलती हैं । ऐसी भी श्रुति-परम्परा है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर एक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी थी । इस विषय के उनके रचे हुए कुछ उपलब्ध श्लोकों को देखकर सहज ही उनके सर्वर मस्तिष्क का परिचय मिलता है ।

डा० भाऊदाजी जैसे विद्वानों ने यहाँ तक सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि कालिदास और मातृगुप्त अभिन्न थे। किन्तु मातृगुप्त के सम्यन्ध में उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के परिचायक सूत्र इस प्रचुरता से उपलब्ध हैं कि इस प्रकार की बातों पर विश्वास करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

राजतरङ्गिणीकार का कथन है कि अपने कृपालु स्वामी विक्रमादित्य का देहान्त सुनकर मातृगुप्त ने भी राज्य त्याग कर वैराग्य धारण किया (३।२९०)। इनकी प्रशंसा में लिखा हुआ है कि 'परस्पर यथोचित स्वामिमान रखने वाले तथा उदारहृदय विक्रमादित्य, मातृगुप्त और प्रवरसेन इन तीनों राजाओं की कथा त्रिपथगा गंगा के समान परम पवित्र है' (३।३२३)।



संस्कृत-साहित्य में 'बृहत्त्रयो' का मूल्यांकन

संस्कृत-साहित्य अपनी महनीय विशेषताओं के कारण विश्व की किसी भी समुन्नत एवं समृद्ध भाषा के साहित्य से किसी भी प्रकार पीछे नहीं है। उसका बृहद् मांडागार उन अमूल्य रत्नों से भरपूर है, सहस्रों वर्षों से जिनकी अक्षुण्ण तेजस्विता हमारे विचारजगत् को अनुप्राणित करती आ रही है। संस्कृत भाषा की अपनी एक मौलिक विशेषता यह है कि उसके यशस्वी प्रणेताओं ने जीवन के प्रति जिन उद्देश्यों की प्रतिष्ठा की है वे बहुत उदार हैं और उनमें मानवीय जगत् को समाहित कर देने की व्यापकता विद्यमान है। यही कारण है कि संस्कृत के साहित्यकारों ने अपनी भावी पीढ़ियों को जो कुछ भी दिया वह देश और काल की सीमाओं में न बँधकर आज भी हमारे लिये नया है।

संस्कृत का एक-एक प्रभारत अपना अलग-अलग मूल्य रखता है। यह निर्विवाद माय है कि संस्कृत-साहित्य में एक भी ऐसी कृति नहीं मिलेगी संस्था-सृष्टि के लिए भर्ती किया गया हो। इसलिए जिस 'सृष्टिप्रयी' की यहाँ खोज हो रही है उसके सृष्टि विशेषण का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसने यद्वर कोई दूसरी कृति है ही नहीं अथवा उसके अतिरिक्त जोय संस्कृत-साहित्य किसी प्रकार मूल्य है। जिन विद्वान् समाजोचकों ने इस 'प्रत्यप्रयी' के पहिले 'सृष्टि' शब्द की योजना की है उससे उनका प्रयोजन उन प्रभों की महानता को उद्घाटित करने भर का था।

संस्कृत-साहित्य में 'सृष्टिप्रयी' से जिन तीन प्रभों को स्मरण किया जाता है, वे हैं : किरातार्जुनीय, निशुपालवध और नैषधचरित। किरातार्जुनीय भारवि की रचना है। निशुपालवध का दूसरा नाम नायकाव्य भी है जो कि उसके प्रणेता माघ कवि के ही नाम से अभिहित होता है और तीसरी कृति नैषधचरित भीष्म कृत है।

अलंकारशास्त्रियों की विधान-परम्परा के अनुसार 'किरातार्जुनीय' को महाकाव्य कहा गया है। इसलिए उसके प्रणेता स्वमाघतः महाकवि हुए। महाकाव्यों के निर्माताओं में कालिदास और लघुघोष के बाद भारवि का नाम दिया जाता है। इतिहासकारों ने भारवि का स्थितिकाल छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास निर्धारित किया है। भारवि ने अपनी एकमात्र कृति 'किरातार्जुनीय' को जन्म देकर अपनी लेखनी को विग्राम दे दिया। वे चाहते तो और भी अन्य लिख सकते थे क्योंकि उनमें ऐसी प्रतिभा थी; किन्तु उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। उनके (भारवि के) महा 'व्यक्ति' के प्रति अधिक परिचय प्राप्त करने की जो जिज्ञासा आज होती है उसका महत्त्व फिर कैसे रहता !

किरातार्जुनीय

भारवि ने 'किरातार्जुनीय' की अवतारणा कर ही धिर विश्रान्ति का अवलंबन किया। 'किरातार्जुनीय' में १८ सर्ग हैं। उसका कथानक 'महाभारत' से लिया गया है। कथानक को उधार लेकर भी भारवि की असामान्य प्रतिभा ने जैसे महाभारतकार की श्रुटियों का परिमार्जन कर उसको नये सिरे से चमका दिया है। काव्य-रसिकों के लिये 'किरातार्जुनीय' में जहाँ एक ओर तन्मय एवं संमोहित कर देने वाली कमनीय उद्भावनायें विद्यमान हैं वहाँ दूसरी ओर विद्वज्जनों के लिए 'गागर में सागर' की भांति अगाध ज्ञानगाभोर्य की धातें भी समाविष्ट हैं।

भारवि की अद्भुत वर्णनपटुता में वीर रस तो जैसे साकार होकर अठखेलियां करता प्रतीत होता है। वीर रस अपनी स्वभावसिद्ध तेजस्वी हुंकारों की जगह अठखेलियां करता इसीलिए प्रतीत होता है कि शृंगार-रस के साहचर्य को वह छोड़ न सका। तात्पर्य यह है कि वीर रस की प्रधानता में भी शृङ्गारादि अन्य रसों का भी शोभनीय निर्वाह 'किरातार्जुनीय' में किया गया है।

अलङ्कार-योजना और छन्दबन्ध की दृष्टि से 'किरातार्जुनीय' एक सुन्दर कृति है। चरित्र-चित्रण भी बड़ी प्रभावपूर्ण शैली में किया गया है। उपमा अलङ्कारों की योजना में जिस प्रकार कालिदास का कोई सानी नहीं, अर्थसौष्ठव में उसी प्रकार भारवि अद्वितीय है। अल्प शब्दावली में विपुल भावों को समाविष्ट कर देना तो जैसे भारवि का जन्मसिद्ध अधिकार है।

शिशुपालवध

'बृहत्त्रयी' की दूसरी कृति 'शिशुपालवध' है। यह भी महाकाव्य कृति है। महाकवि भारवि की भांति महाकवि माघ की गोरव-गाथा

का जाग्रदवस्था मान प्रतीक 'निशुपालवध' संस्कृत-साहित्य का एक अनमोल रत्न है। इतिहासकारों ने यहाँ दानधीन करने के पश्चात् माघ का स्थिति-बाल सप्तम शताब्दी के उत्तरार्ध में निहित किया है।

'किराताजुनीय' की भाँति 'निशुपालवध' का प्रधानक भी 'महाभारत' से उद्भूत है। भारवि की कवि-शक्ति ने माघ के व्यक्तित्व को बहुत प्रभावित किया है। गुणग्राही माघ ने अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यकार भारवि से प्राप्त प्रेरणा को अपनी कृति में स्वरूप से दर्शित किया है। भारवि से छिड़ गए वर्णों को अपनी भाषा में उन्होंने अपरिचित ढाँचा है, किन्तु इस दृष्टि में नहीं कि वे उनके स्वातन्त्र्य-मूर्तिजन्य नहीं हैं।

'निशुपालवध' में २० सर्ग हैं। इस महाकाव्य की पंक्तियों में माघ की भारती का एक व्यापक प्रभाव सर्वत्र विद्यमान है। माघ कवि-सुलभ कमनीयताओं से तो सम्पन्न थे ही, साथ ही उनमें सर्वदाय-वैदग्ध्य भी भरा हुआ था। माघ की सर्वतोमुखी प्रतिभा को पहचानने के लिए 'निशुपालवध' के तीसरे सर्ग में लेकर सप्तम सर्ग तक का अनुशीलन करना ही पर्याप्त होगा। माघ का वर्णन-सौन्दर्य और भाव-माधुर्य यहाँ ही प्रभावोत्पादक है।

'निशुपालवध' में वेद, दर्शन, व्याकरण और नाट्यशास्त्र का वैमिन्य यहाँ पाण्डित्यपूर्ण ढंग से निर्वाहित किया गया है। माघ की उद्भट विद्वत्ता को लक्ष्य कर आलोचकों का कहना है कि 'निशुपालवध' के नवम सर्ग पर्यन्त ही संस्कृत का सम्पूर्ण शब्द-भंडार खाली हो जाता है—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।' माघ का यह अपरिमित ज्ञान उनके कविजीवन की एक उच्चासन पर अधिष्ठित कर देता है।

माघ के आलोचकों का कहना है कि उनके काव्य में कालिदास जैसी उपमायें, भारवि जैसा अर्थगौरव और दण्डी जैसा पदछाटित्य

पुञ्जीभूत हो गया है। उनकी अनुपम व्यंजना-शक्ति और उनका सुष्ठु भाव-संवरण बड़ा ही सटीक उतरा है। पद शय्या को ऐसी तह करके योजित किया है कि एक शब्द भी स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। माघ सचमुच एक प्रतिभासम्पन्न महाकाव्यकार थे।

नैपथीय चरित

श्रीहर्ष कृत 'नैपथीय चरित' को मिलाकर 'बृहत्त्रयी' की गणना पूरी हो जाती है। 'नैपथीय चरित' के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष का स्थिति-काल बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थिर किया गया है।

अब यह भी स्पष्टतर हो गया कि श्रीहर्ष उन सम्राट् हर्षवर्धन से सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे जिन्होंने रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका की रचना की थी। श्रीहर्ष ने लगभग नौ ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु 'नैपथीय चरित' ही उनकी एकमात्र ऐसी कृति है जिसको लिखने में स्वयं उन्होंने बड़ी उत्सुकता का अनुभव किया। यही कारण है कि यह महाकाव्य-कृति आज भी अपने रचनाकार को अमर बनाये है।

'नैपथीय चरित' में २२ सर्ग हैं। इसका कथानक पौराणिक है। नलदमयन्ती का प्रणय-व्यापार इसका कथानक है, जिसको इतने सुन्दर ढंग से संजोया गया है कि पाठक एक बार उसमें खो-सा जाता है। शृङ्गाररस के विप्रलम्भ और संभोग दोनों पक्षों का पारदर्शी चित्रण किया गया है। सुन्दर पदशय्या, समाकर्षक भावाभिव्यंजन और सुष्ठु शैली के चित्रण में श्रीहर्ष की कविता काव्य-रसिकों के लिए एक अपूर्व विनोद की वस्तु बन गई है। श्रीहर्ष के तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्मुख भारवि और माघ का पाण्डित्य तक धूमिल पड़ जाता है :

‘उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः’

संस्कृत भाषा पर श्रीहर्ष का असाधारण अधिकार था। उनकी

संस्कृत-साहित्य में बृहत्त्रयी का मूल्यांकन

१६१

कविता में जहाँ सरस, सरल और समाकर्षक कर देने वाले कमनीय विचारों की योजना है वहाँ दर्शन की जति सुगम ग्रन्थियों में उलझा देने वाले स्थलों की भी कमी नहीं है। नैषध का सम्पूर्ण सत्रहवों सर्ग इसका उदाहरण है। 'खण्डनखण्डलाद्य' जैसे ग्रन्थ को लिखने वाले श्रीहर्ष की दार्शनिक बुद्धि, काव्य की कोमलताओं में कैसे लग गई यह एक आश्चर्य की बात है। अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में उनका उक्त दर्शनग्रंथ अपना सानी नहीं रखता है।

'महाभारत' में वर्णित नलोपाख्यान के निर्जीव कथानक को श्रीहर्ष की निपुण लेखनी ने चमका दिया है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से 'नैषधीय चरित' की श्रेष्ठता लोकविदित है। श्रीहर्ष में महाकाव्यों को लिखने की परम्परा समाप्त हो जाती है। 'नैषधीय चरित' संस्कृत साहित्य का अन्तिम महाकाव्य है।

इस प्रकार 'बृहत्त्रयी' की विशेषताओं पर एक सरसरी दृष्टि डालने के उपरान्त प्रतीत होगा कि संस्कृत के साहित्यकारों ने अपने दिव्यालोक से धरती को चोखित कर दिया। 'बृहत्त्रयी' में तीन युगों के तीन महाकाव्यकारों का असामान्य व्यक्तित्व समन्वित है।



अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी

अलङ्कारशास्त्र की व्यापकता केवल अलङ्कारों तक ही सीमित नहीं हो जाती, अपितु लक्षणग्रन्थों में वर्णित काव्य, गुण, दोष, रस, शक्ति, अलङ्कार आदि सभी विषयों का समावेश समान रूप से उसमें हो जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इस शास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' की संज्ञा से ही अभिहित किया था। आगे चलकर 'साहित्यविद्या' और 'क्रियाकल्प' जैसे नाम भी यदा-कदा इस स्थान पर उपयोग में लाए गये; किन्तु कालान्तर में ये नाम प्रसिद्धि न पा सके और 'अलङ्कारशास्त्र' के ही नाम से इस शास्त्र ने स्थायित्व प्राप्त किया। आचार्य राजशेखर ने 'अलङ्कारशास्त्र' को वेदांग मानकर उसे चारों विद्याओं—तर्क, त्रयी,

अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी

वार्ता और दण्डनीति—का समन्वय बताया । इन्हीं आचार्य के मतानुसार इस शास्त्र की उत्पत्ति नटराज शङ्कर से हुई । तदनन्तर ब्रह्मा जी ने शङ्कर से शिक्षा ली और उन्होंने आगे चलकर भरत, नन्दिकिशोर, धिषण, उपमन्यु नामक चार आचार्यों को इस शास्त्र में दीक्षित किया । उक्त सिद्धान्त की सत्यता कहां तक संभव है, कहा नहीं जा सकता ।

परम्परा

‘काव्यादर्श’ की टीकाओं से ज्ञात होता है कि काश्यप, वररुचि, ब्रह्मदत्त और नन्दिस्वामी प्रभृति आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्र पर यथेष्ट प्रकाश डाला था; किन्तु उक्त आचार्यों की अभी तक कोई ठोस रचनायें उपलब्ध न होने से यह जिज्ञासा का ही विषय बना हुआ है । महर्षि पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘अष्टाध्यायी’ में कृशाश्व और शिलाहिर के नटसूत्रों का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक उक्त शास्त्र की ख्याति यत्र-तत्र व्याप्त हो चुकी थी । पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य यास्क ने भी ‘निरुक्त’ में उपमा अलङ्कार का उल्लेख किया है । यास्क का समय ई० पूर्व सातवीं शती है । इनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने ‘अथात उपमा यद्-अतद्-तत्-सदृशम्’ कहकर उपमा अलङ्कार की चर्चा की है ।

किन्तु आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से ही ‘अलङ्कारशास्त्र’ का पूर्णरूपेण उदय मानना चाहिये, यद्यपि इस ग्रन्थ में भी सुवर्णनाभ और कुचमार आदि अनेक अलङ्कारशास्त्रियों के नाम आये हैं, जिनका समर्पण वात्स्यायन ‘कामसूत्र’ भी करता है । आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र सभी ललित कलाओं—अलङ्कार, संगीत, छन्द—का संचित

कोष है। यह ग्रन्थ समय-समय पर लिखा गया दीर्घकालीन साहित्य-साधना का फल है।

आचार्य भरत के अनन्तर अलङ्कारशास्त्र की कई शताब्दियाँ अंधकारपूर्ण हैं। यदि आचार्य भामह इस दिशा में सचेष्ट न होते तो हो सकता था कि काव्यशास्त्र की परम्परा समूल ही सदा के लिए मिट जाती; किन्तु भामह ने काव्यशास्त्र की शताब्दियों से सोई चेतना को प्रबुद्ध कर उसको नई दिशा में प्रेरित करने की शक्ति प्रदान की। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' की रचना कर उन्होंने अलङ्कारशास्त्र की विविध परम्परा को ही ग्रथित नहीं किया, अपितु भरत के मतानुसार नाट्यशास्त्र की चहारदीवारी से घिरी हुई अलङ्कारशास्त्र की बन्दी आत्मा को मुक्त कर उसको स्वतंत्र रूप से प्रशस्त होने का सुयोग भी दिया।

आचार्य भामह

आचार्य भामह का व्यक्तित्व और विशेष रूप से उनका स्थितिकाल आज भी विद्वानों की गवेषणा का विषय बना हुआ है। कुछ आन्तरिक और शेष बाह्य प्रमाणों के आधार पर इतना तो निश्चय हो ही चुका है कि इनका जन्म कवि-प्रसविनी काश्मीर भूमि में ही हुआ। आचार्य उद्भट ने भामह के 'काव्यालङ्कार' पर 'भामह-विवरण' नामक विस्तृत व्याख्या की है तथा अपने 'काव्यालङ्कार-सार-संग्रह' में अनेक स्थलों पर भामह की परिभाषायें उर्ध्वो-की-र्ध्वो उद्धृत की हैं। आचार्य दण्डी ने भी इसी प्रकार 'काव्यालङ्कार' के अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनके आधार पर तरुण वाचस्पति, हरिनाथ, वादि, जंघाल प्रभृति आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि भामह, दण्डी के पूर्ववर्ती थे। अतः ई० ६०० के पूर्वार्द्ध भाग में भामह का स्थितिकाल निर्धारित किया

अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी

जाय तो अयुक्त न होगा। बहुत समय तक तो आचार्य भामह का नाम उद्धरण रूप से ही इतर ग्रन्थों में पाया जाता था; किन्तु जब से इनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' का पता चला तभी से शास्त्रकारों में इनकी स्वतंत्र ख्याति प्रतिष्ठित हुई। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर छह परिच्छेद हैं तथा लगभग ४०० श्लोकों में ग्रंथ की समाप्ति की गयी है। प्रथम परिच्छेद में काव्योपजीवी-उपकरण, काव्य का लक्षण तथा उसके भेदोपभेदों की चर्चा की गयी है। दूसरे, तीसरे परिच्छेद में अलङ्कार निरूपित हैं। अलङ्कारों की कुल संख्या ३८ है। चौथे परिच्छेद में आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट दस दोषों का वर्णन है। पूर्ण पंचम परिच्छेद में न्याय-विरोधी दोषों की विस्तृत मीमांसा है और अन्तिम छठे परिच्छेद में शब्दों के समुचित प्रयोग का निरूपण है।

ग्रन्थ यद्यपि अपने आकार-प्रकार में लघुकाय है, किन्तु उसमें 'अलङ्कारशास्त्र' के समस्त महनीय तत्त्वों का उल्लेख सूत्ररूप से हुआ है। ग्रन्थ की उपयोगिता इसी में आंकी जा सकती है कि भामह के परवर्ती प्रधानाचार्यों में उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट जैसे प्रख्यात विद्वानों ने अपने-अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर 'काव्यालङ्कार' के प्रमाण देकर अपने-अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की है।

आचार्य भामह ने इस ग्रन्थ में कतिपय ऐसी विशेषताओं का समावेश किया है जो पूर्ववर्ती काव्यकारों के ग्रंथों में नहीं पाई जाती और परवर्ती आचार्य भी प्रायः उस दिशा में मौन ही दिखाई पड़े। शब्द और अर्थ में काव्य की चेतना को प्रतिपादित करना भामह की ही विचक्षण प्रतिभा का फल है। भरत प्रतिपादित दशविध गुणों को गुणत्रय—श्लोक, माधुर्य और प्रसाद—के अन्तर्गत ही समाविष्ट करना तथा धर्मोक्ति अलङ्कार को अलङ्कार-परम्परा का स्रोत समझना भामह की तत्त्वग्राहिणी बुद्धि की ही देन है।

आचार्य दण्डी

आचार्य दण्डी के सम्बन्ध में जो कल्पित किवदन्तियाँ बहुत समय से चली आ रही थीं, हाल ही में उपलब्ध 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' के द्वारा उन सब का अन्त हो गया और प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर पता लगा है कि दण्डी के पितामह का नाम भारति तथा पिता का नाम वीरदत्त था। इनकी माता का नाम गौरी था और दक्षिण देशस्थ कांचीनगर इनकी जन्मभूमि थी। 'काव्यादर्श' के प्रसिद्ध टीकाकार तरुण वाचस्पति ने भी इनका जन्म कांचीनगर बताया है तथा 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' के इस दूसरे चाक्ष्य का भी समर्थन किया है कि कांची-स्थित पल्लवनरेश के आश्रय में, रह कर ही इन्होंने अपने आचार्यत्व और कवित्व की व्याप्ति दिग्-दिगन्तर में व्याप्त की थी।

'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' के द्वारा आचार्य दण्डी का स्थितिकाल भी स्पष्ट हो गया है। दण्डी के पितामह भारति के समय के सम्बन्ध में अनेक शिला-लेखों और ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि वे सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान थे। अतः यह निर्विवाद स्थिर किया जा सकता है कि दण्डी सप्तम शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा अष्टम शताब्दी के प्रथम चरण में हुए। काँचीनरेश पल्लव, जिनके आश्रय से दण्डी ने काव्य रचना की, समय भी सातवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

'काव्यादर्श' अपने समय की पण्डित-मण्डली का अत्यधिक प्रिय ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थ की समाप्ति केवल चार परिच्छेदों में की गई है और उसमें कुल मिला कर ६६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण और उसके भेदोपभेदों की शास्त्रीय मीमांसा की गई है तथा रीतियों—वैदर्भी और गौड़ी—पर विस्तार के साथ विवेचन कर अन्त

में दशविध गुणों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरा सम्पूर्ण परिच्छेद अर्थालङ्कारों के निरूपण में ही समाप्त किया गया है। कुल मिलाकर प्रधान अलङ्कारों की संख्या ३५ है। उपमा अलङ्कार पर ऐसी सारगर्भित एवं शास्त्रीय व्याख्या इतर ग्रन्थों में कम मिलेगी। तीसरे परिच्छेद में शब्दालङ्कार और उनमें भी विशेषतः यमक अलङ्कार का निरूपण किया गया है। अन्तिम परिच्छेद दशविध दोषों के निरूपण में समाप्त किया गया है। अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक के रूप में आचार्य दण्डी का शीर्ष स्थान है।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों के मतों का खण्डन किया है; किन्तु आचार्य दण्डी के सिद्धान्तों का सम्मान कर प्रमाणस्वरूप उनका अनेक स्थानों में उल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' पर कुल मिलाकर छह टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें तीन टीकाएँ—प्रथम तरुण वाचस्पति की, द्वितीय अज्ञातनामा किसी विद्वान् की 'हृदयह्रमा टीका' तथा तृतीय पण्डित नृसिंहदेवशास्त्री की 'कुसुम-प्रतिभा' टीका—अधिक लोकप्रिय हुई।

आचार्य मम्मट

'राजानक' उपाधिधारी आचार्य मम्मट की जन्मभूमि भी काश्मीर ही है। यह उपाधि काश्मीरी विद्वानों के लिए अत्यन्त सम्मान-सूचक है। 'महाभाष्य-प्रदीप' के रचयिता कैश्यट इनके बड़े भाई और 'श्रुक् प्रातिशाख्य' के भाष्यकार उज्जट इनके छोटे भाई थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इनके पिता का नाम कैश्यट था, किन्तु वेदभाष्यकार कैश्यट ने अपने पिता का नाम वज्रट बताया है। मम्मट शैव-मतावलम्बी थे।

आचार्य मम्मट के स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ आन्तरिक और

शेष ब्राह्म प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि ये ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्तमान थे। आचार्य हेमचन्द्र का स्थितिकाल ई० सन् १०८८ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में स्थान-स्थान पर 'काव्य-प्रकाश' के उद्धरण दिये हैं। आचार्य माणिक्यचन्द्र ने 'काव्य-प्रकाश' पर अपनी प्रसिद्ध 'सङ्केत' टीका लिखी है। उक्त टीकाकार का समय ई० सन् ११६० है। आचार्य रुय्यक की 'सङ्केत' टीका इससे भी प्राचीन है। मम्मट ने राजा भोज की प्रशंसा में कई पद्य लिखे हैं। भोज के पण्डितों के यहाँ कुछ ऐसी प्राप्त सामग्री के आधार पर भी उक्त तथ्य का समर्थन हो जाता है। भोज का समय ई० सन् १०५५ है। अतः आचार्य मम्मट का स्थितिकाल आचार्य हेमचन्द्र (सन् १०८८) से पूर्व और भोज (१०५५) के बाद होना चाहिए।

आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के प्रधान तीन अंश हैं। १४२ कारिकाएँ, अनेक वृत्तियाँ तथा ६०३ उदाहरण १० उल्लासों में वर्णित कर इस विशालकाय ग्रन्थ की समाप्ति की गई है। प्रथम उल्लास में काव्य-सम्बन्धी विवेचन के अनन्तर काव्य के तीन भेद वर्णित हैं। द्वितीय में अर्थघोषिनी तीन शक्तियों की मीमांसा की गई है। सम्पूर्ण तृतीय उल्लास इन शक्तियों के विवेचन में ही समाप्त हुआ है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनिभेदों का निरूपण तथा रस के आधारभूत 'विभावादियों' का शास्त्रीय ढङ्ग से विवेचन किया गया है। पञ्चम में व्यञ्जना की विवेचना के अनन्तर महिम भट्ट का खण्डन है। षष्ठ में चित्र-काव्य का वर्णन है। सप्तम में काव्यदोषों की तालिका है। अष्टम में गुण और रीति की व्याख्या के साथ-साथ अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का खण्डन वर्णित है। नवम में वक्रोक्ति के आठ प्रधान भेदों का विवेचन है और दशम उल्लास में ६२ अलङ्कारों की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या वर्णित है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि 'काव्यप्रकाश' के परिकर अलंकार तक ही आचार्य मम्मट की रचना है; ग्रन्थ के शेष भाग की समाप्ति किसी इतर कारमीरी विद्वान् अलक या अल्लट द्वारा हुई।

अविदित नहीं कि 'काव्य-प्रकाश' देदीप्यमान दिनमणि की भांति वह प्रकाशपुंज है, जिसकी तेजस्विता में साहित्य-गगन के सभी उद्गुण निस्तेज नजर आते हैं। 'काव्य-प्रकाश' की शैली सूत्रात्मक शैली है। काव्य के गम्भीर एवं मार्मिक विषयों का ऐसा अभूतपूर्व विवेचन कम ग्रन्थों में पाया जाता है। बहुधृत विद्वानों की अनेकानेक टीकाओं के फलस्वरूप भी ग्रन्थ की दुर्गमता ज्यों-की-त्यों घनी हुई है, जिसको कविराज विश्वनाथ और श्यंक जैसे विद्वान् भी बोधगम्य न बना सके।

इस एक ही ग्रन्थ में भरत मुनि, भामह, दण्डी, महिम मट्ट, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, भोजराज, प्रभृति सभी पूर्ववर्ती दिग्गज विद्वानों के अशेष पाण्डित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है। व्यंजना, रस और विशेषतः ध्वनि के प्रतिपादन में तो अलंकारशास्त्र के आचार्यों का यह ग्रन्थ गंभीर विचारणा का विषय है। मम्मट ने ध्वनि को ही उत्तम संज्ञा दी है।

'काव्य-प्रकाश' पर जितनी टीकाएँ हुई हैं, काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले किसी भी लक्षणग्रन्थ पर इतनी टीकाएँ नहीं हुईं। प्रसिद्ध टीकाकारों में भाणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ, जयन्त, गोविन्द ठाकुर, वामनाचार्य प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।



संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार भवभूति

भवभूति संस्कृत-साहित्य के महान् निर्माताओं में से एक हैं। प्रायः प्रत्येक भाषा के दो-चार ऐसे प्रतिभाशाली मनस्वी होते हैं, जिनके बल, व्यक्तित्व और बुद्धि पर उस भाषा का संपूर्ण अस्तित्व निर्भर करता है। भवभूति उन्हीं दो-चार यशस्वी प्रणेताओं की कोटि में आते हैं। संस्कृत-साहित्य के साथ भवभूति का नाम अमर है।

संस्कृत के ग्रन्थकारों में एक प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने अपनी जीवनसंबंधी जानकारी के लिए इतिहासकारों को भटकाया ही नहीं, अपितु अपनी महत्तम कृतियों को किसी महापुरुष या देवताविशेष के नाम लिखकर अपने व्यक्तित्व को सर्वथा विलुप्त भी कर दिया।

संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार भवभूति

भवभूति ने अपने व्यक्तित्व के संबंध में इतनी उपेक्षावृत्ति तो नहीं अपनाई, किन्तु उनके आत्मविषयक कथन का अन्तःसाध्य ही उनके जीवन-परिचय के लिए यथेष्ट नहीं है। बिना वदितःसाध्य के आधार पर उनका परिचयात्मक चित्रण नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन-परिचय

भवभूति ने अपनी कृतियों में अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार उनकी जन्मस्थली विदर्भदेशस्थ पद्मपुर नामक नगरी ठहरती है। वे विशुद्ध वैदिक वंश-परंपरा के ब्राह्मण थे। उनका पांचवाँ पूर्वज महाकवि नामक व्यक्ति याज्ञिक विद्वान् था। उनके पितामह का नाम गोपाल भट्ट, पिता का नाम नीलकंठ भट्ट, माता का नाम जानुर्णी, गुरु का नाम ज्ञानमिथि और उनका पितृ-प्रदत्त नाम धीकंठ भट्ट था। भवभूति नाम से इन्होंने अपने को क्यों अभिहित किया अथवा इस नाम से ये लोक-प्रसिद्ध क्यों हुए, इस रहस्य का विश्वसनीय हवाला अभी तक किसी इतिहासकार ने नहीं दिया है।

भवभूति की जन्मतिथि के विषय में अनेक मत हैं। संस्कृत-साहित्य के आधुनिकतम इतिहासकार उनका स्थितिकाल सातवीं शताब्दी ईस्वी के आसपास मानते हैं। भवभूति की लिखी हुई तीन कृति उपलब्ध होती हैं—महाधीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। ये तीनों नाटक-कृतियाँ हैं। उनके इन नाटकों में कहीं-कहीं वेद, उपनिषद्, सांख्य और योगविषयक प्रसङ्ग भी आए हैं, किन्तु उनका अभिप्रेत विषय नाटक लिखना था, दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं। वे तो एक विशुद्ध नाटककार थे। अपने विषय को उन्होंने भली भाँति निभाया।

संस्कृत-साहित्य में नाटक-ग्रन्थ प्रचुर संख्या में लिखे गए। संस्कृत

के नाटकों का वैभवशाली युग भास से प्रारम्भ होता है, जिनका स्थिति-काल लगभग ई० पू० चौथी शताब्दी है। इस समय से लेकर सोलहवीं शताब्दी ईस्वी तक के निरन्तर चौबीस शतकों में संस्कृत के असंख्य नाटकों का निर्माण हुआ। भवभूति का युग संस्कृत-नाटकों का मध्य युग था। यह युग बड़ा वैभवशाली युग रहा है। ईसा की पहली शताब्दी में वर्तमान बौद्ध विद्वान् अश्वघोष कृत 'शारिपुत्र प्रकरण' तक नाटकों का पहिला युग कहा जा सकता है। दूसरा युग ईसा की छठी शताब्दी अर्थात् विशाखदत्त से आरंभ होकर ईसा की नवम शताब्दी अर्थात् राजशेखर तक चलता है और उसके बाद ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक तीसरा युग। विशाखदत्त, हर्षवर्धन, भवभूति, भट्ट नारायण, मुरारि और राजशेखर मध्ययुग के प्रमुख नाटककारों की श्रेणी में आते हैं।

असामान्य व्यक्तित्व

मध्ययुग के इन नाटककारों में भवभूति का व्यक्तित्व सर्वथा वेजोद्य और उनकी प्रतिभा असामान्यरूप से अपना उज्ज्वल यश लिए अलग खड़ी है। भवभूति की दो आरम्भिक कृतियाँ—महावीरचरित और मालतीमाधव—सामान्य कृतियाँ हैं। उनमें नाट्य-साहित्य के प्रायः सभी प्रधान गुण विद्यमान हैं; किन्तु परम्परा-निर्वाह के दृष्टिकोण से। 'उत्तररामचरित' में भवभूति की भावधारा शरद् के निरञ्ज-नभ की भाँति विमोहक और स्वच्छ-शैवलिनी के संगीतमय कल-कल की भाँति मधुर है। नाट्यकार की जीवन-साधना के संकल्पित मनोरथ उसमें साकार जैसे प्रतीत होते हैं। संस्कृत-साहित्य के नाटक-निर्माताओं में कालिदास और भवभूति का नाम बड़े आदरभाव से स्मरण किया जाता है। क्रमशः दोनों यशस्वी कलाकारों की कृतियाँ : अभिज्ञान संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार भवभूति

शाकुन्तल और उत्तररामचरित—उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के प्रमाण ही नहीं, अपितु वे सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य की अमर यादगार हैं। यही कारण है कि उनकी गणना विश्व-साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों में की जाती है।

भवभूति ने जिस समय 'उत्तररामचरित' की रचना की, पूर्ण-प्रीतिव उनको घेरे बैठा था। जीवन-सागर की अतल गहराइयों का सार लेकर उनका प्रीति-हृदय एक ऐसे माध्यम की खोज में था जिसके द्वारा वह अपनी संवेदनशील अनुभूतियों को क्रमबद्ध रूप दे सके। ऐसे ही समय आदि कवि वाष्मीकि की करुणा-प्लावित वाणी सुनाई दी और फलस्वरूप उन्होंने राम के जीवन का सर्वोत्कृष्ट उत्तर नाग अपने कृतित्व का विषय बनाकर 'उत्तररामचरित' जैसी दिव्य कृति को जन्म दिया।

राम के जीवन का उत्तर भाग सीता के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंश होने के कारण ही इतना लोकप्रिय हुआ है। भवभूति ने एक निराश्रित और निर्वासित नारी सीता की व्यथा का इस हृदय-विगलित ढंग से वर्णन किया है कि उत्तररामकथा तब से जन-जन के जीवन की अतिप्रिय कथा बन गई। सचमुच ही भवभूति ने 'उत्तररामचरित' की रचना कर संस्कृत-साहित्य को गौरवान्वित किया है।



उनका महत्त्व नकारात्मक ही है। नाटककार के ही रूप में विशेषतः भवभूति की अगाध ज्ञानगरिमा का पता लगता है।

‘महावीरचरित’ भवभूति का प्रथम नाटक है। सात अंकों में इसकी समाप्ति की गई है। इस नाटक में कवि ने रामचरित का पूर्वार्ध भाग नाटकीय रूप में अंकित किया है। नाटक की रचना की रोचकता के विषय में भाण्डारकर महोदय का मत है कि नाटक अरूप और अरोचक हो गया है। उसका कारण यह है कि न तो इस नाटक में भाषा तथा भाव की ओर ध्यान दिया गया है और न मानव-हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थलों को स्पर्श करने की दिशा में कवि सचेष्ट हैं। सम्वाद, घटनाओं तथा चरित्रचित्रण की ओर स्तुत्य प्रयत्न नहीं किया गया है। नाटकीय नियमों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो यहाँ तक भ्रम होने लगता है कि नाटककार उनसे भी पूर्ण परिचित न था।

‘मालतीमाधव’ कवि की दूसरी रचना है। इसमें दस अंक हैं। मालती और माधव के प्रेम सम्बन्ध को लेकर कल्पित-कथानक के रूप में इस नाटक की सृष्टि की गई है। इस नाटक में तथा भास के ‘अविमारक’ नाटक के घटनाक्रमों में कई स्थानों पर साम्य दिखाई पड़ता है। ‘मालतीमाधव’ की बाघवाली घटना अविमारक की हाथीवाली घटना से अचरशः मिलती है। अविमारक में वर्णित विद्याधर के द्वारा अविमारक की रक्षा, ‘मालतीमाधव’ में वियोगिनी द्वारा की गई माधव की रक्षावाली घटना में निकट साम्य है। इस नाटक के विषय में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। जहाँ ‘महावीरचरित’ में कवि की प्रतिभा कुण्ठित दिखाई देती है, वहाँ इस नाटक में आकर कवि के उदार भाव एक निश्चित दिशा की ओर उन्मुख होते दिखाई देते हैं। भाषा और भावों का जैसा शास्त्र-संस्कार ‘महावीरचरित’ में दिखाई देता है, ‘मालती-

माधव में आकर हम, कवि को एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर होते देखते हैं। यहाँ पात्रों का विकास समादरणीय हो गया है। प्रकृति-चित्रण में तो कवि की भावुकता निखर-सी उठी है।

इस नाटक का शब्द-विन्यास, भावामिव्यंजन तथा अवसरोचित भाषापाठव नाटककार की अपनी विशेषतायें हैं। 'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते' वाली गर्वोक्ति उनके व्यक्तित्व के अनुरूप उतरती है। अनुचरी की भाँति भाषा का उनके हंगितों पर नाचना नाटककार के शब्दबोध का प्रमाण है। एक ओर 'कूजस्वलान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायदुमाः' वाली ओजगुणविशिष्ट विलष्ट पदावली से पाठक के कर्णपुट गूँजने लगते हैं तो दूसरी ओर :

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।

भाराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

जैसी सरल, सुगम और समासरहित शब्दावली पाठक को आकृष्ट कर देती है। कठोर से कठोरतम और कोमल से कोमलतम शब्दावली में भवभूति के पांडित्य और प्रतिभा का अपूर्व सामंजस्य हुआ है।

दूसरी विशेषता नाटककार की भावग्राहिणी बुद्धि का अनायास विषय-प्रवेश है। किसी भी भावविशेष अथवा अवस्थाविशेष का चित्रण नपे-तुले शब्दों में चित्रित करने में नाटककार असाधारण पटु हैं। मनोदशाओं का क्रमशः उतार-चढ़ाव प्रस्तुत करने में, भवभूति की लेखनी ने कमाल किया है। दण्डकारण्य में राम-मिलन के समय सीता के मनोभावों को तमसा किस प्रकार व्यक्त करती हैं, देखने योग्य है :

तदस्थं नैराश्यादपि च कलुपं विप्रियवशाद्

वियोगे दोर्ध्वजस्मिन् ऋटिति घटनास्तन्मितमिव ।

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते

२०७

प्रसन्नं सौजन्याद्वयितकरुणैर्गाढकरुणं,

द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ।

‘हे पुत्री, इस समय तुम्हारा अन्तःकरण पुनर्मिलन की आशा से विषम, अकारण परित्याग से क्लुपित, दीर्घकालीन वियोग के बाद एकाएक मेंट हो जाने से प्रसन्न, प्रिय राम के करुण विलापों के कारण काह्निक और प्रेम के कारण द्रवित सा हो रहा है ।’

भवभूति जैसा प्रकृतिनिरीक्षण बहुत कम कवि कर सके हैं। इसका कारण है कि भवभूति प्रकृति के सच्चे उपासक रहे हैं। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण अपनी आँखों से किया है। विदर्भ प्रदेश की, जहाँ कि भवभूति की जन्मभूमि है, प्रकृति का तथ्य स्वरूप उनके नाटकों में यत्र-तत्र आया है। प्रकृति का यह रूप उन्होंने आलम्बन-विभाव के रूप में ग्रहण किया है। भवभूति ने प्रकृति का प्रचण्ड एवं घोर स्वरूप ही विशेषतः अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। जहाँ उन्होंने नारीस्वरूप को लिया है वहाँ भी उनकी दृष्टि वाद्य रमणीयता की अपेक्षा अन्तःसौन्दर्य पर ही अधिक गई है। नारी का आदर्श प्रेम ही नाटक में अपनाया गया है। स्वर्गीय द्विजेन्द्रराय ने उत्तररामचरित की इस प्रेमप्रणाली को लक्ष्य करके कहा है कि ‘उत्तररामचरित विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग धीझा में, भाषा के गंभीर्य में और हृदय के माहात्म्य में अख्यन्त श्रेष्ठ बन पड़ा है।’ प्रकृति की उक्त रूपयोजना का गंभीर एवं भीम वर्णन भवभूति ने स्थान-स्थान पर किया है। प्रकृति के भीम विम्बग्राही चित्रण की कैसी मर्म व्याख्या इस श्लोक में हुई है :

निष्कृजस्तिमिताः क्वचिरक्वचिदपि प्रोक्ष्यन्तसखस्वनाः ।

×

×

×

तृप्यन्तिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥

‘कहीं एकदम सन्नाटा छाया हुआ है तो कहीं कोई स्थान वन्य

पशुओं के भयानक गर्जन से परिपूर्ण हो रहा है । ॐ ॐ ॐ कहीं प्यास से विह्वल गिरगिट अजगर के शरीर का पसीना पी रहे हैं ।'

इतना ही नहीं, यहाँ तक कि 'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे' कहकर पशु-पक्षी, मृग आदि से भी अपना स्नेहबन्धन जोड़ लिया है । यही कारण है कि उनकी वनदेवी वासन्ती और तमसा जैसी अशरीरिणी भी मूर्तिमती होकर उनके नाटक में अभिनय करती दिखाई पड़ती हैं ।

'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'—उत्तररामचरित में करुणरस की जितनी व्यञ्जना है, उतनी इतर काव्यों में नहीं दिखाई पड़ती । सच तो यह है कि संस्कृत-साहित्य में भवभूति करुणरस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने गये हैं । गोवर्द्धनाचार्य के अनुसार भवभूति की करुणवाणी को सुनकर औरों की तो घात ही क्या, पथर तक रो पड़ते हैं । इसी करुणरस को भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर सभी रसों का मूल स्रोत बताया है । यही कारण है कि करुणरस की अप्रधानता होते हुए भी उत्तररामचरित के नाटक होने में किसी ने सन्देह नहीं किया । भवभूति का करुणरस अन्तर्वेदना से उद्भूत है, उसमें मर्मस्पर्शी जलन और यन्त्रणाजनित प्रलाप है :

अनिर्मिञ्चो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।

पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

सीता के साथ अनुभूत दण्डकारण्य तथा पञ्चवटी के सुखद भ्रमण अकेले राम को अत्यधिक व्यथित कर रहे हैं : 'वनीभूतशोको विकल-यति मां मूर्च्छयति च' । 'हृदय के मर्म विस्फोटक फिर से फूट पड़ने के कारण मेरा यह दारुण शोक मुझे विकल कर रहा है । आह ! मैं मूर्च्छित हुआ जा रहा हूँ ।' उत्तररामचरित में भवभूति की करुणा सीता के

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते

रूप में साकार हो गई है । विरह-विधुस सीता का यह रूप मातृस्वरूप
की करुणा का चरम उदाहरण है :

दग्धितनुदुर्दन्तरवोत्सुन्दरं दुर्भगी विनोदवपरीक्षमाणम् ।

कलशाय मूर्तिरपया क्षीरगिणी विरहस्पधेति वनमेति जानवी ॥

‘सीता के सुन्दर वनोद विरह-जनित छाप से पीड़े तथा कृपा से
मरे हैं, नृत्य पर उदा विरह रहा है । ऐसा मान्य होता है कि
कलशाय की मूर्ति अथवा मायात् क्षीरगिणी अथवा जानवी का रूप
ध्यान पर मन में कटक रही है ।’

रक्षण रूप की ऐसी मूर्तियाँ व्यञ्जना संकृत-साहित्य में शोधने पर
भी नहीं मिलेंगी, यदा वाटिजान के बाणों में और यदा भवभूति के
पावनी वरिचों के बाणों में । ‘दायासीता’ की अवतारणा पर यन्त्र
या हृदयदाही चित्र लीला गया है । भवभूति की करुणा को लक्ष्य का
अर्थात् द्विभेदराय शिष्य है कि ‘यह अयम्, यह मृगशृङ्गा, यह अक्षय
मन्त्रणा, यह समंभेदी विरह-अपया, द्रव्य जगत् में जापद ही सीर बोई
कहि करुणा के छाना दिया गया हो ।’ यही कारण है कि:—‘उन्ने
ममभक्तिं भवभूतिविनिर्गमम्’ । उन्नेरामभक्ति में भवभूति का वाक्य-
कीलाय यन्त्र सीता को दर्शित गया है ।

—५५—

कल्हण-कृत राजतरङ्गिणी

संस्कृत-चाङ्मय में कश्मीर-भूमि का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ की प्रकृति में ऐसी विचित्र सम्मोहकता है, जिसके प्रभाव से अनेक महाप्राण मनस्वियों द्वारा संस्कृत-साहित्य की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण उद्भावनायें हुई हैं।

कान्य, कला, नाटक और अलङ्कारशास्त्र के निर्माताओं के अतिरिक्त जल्हण, बिल्हण एवं रिल्हण जैसे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञों ने इसी भूमि में जन्म धारण किया है। अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में भामह, उद्भट, वामन, आनन्द-वर्धन, कुन्तक, महिम, अभिनव गुप्त, मम्मट और रुद्रट जैसे ख्यातनामा आचार्यों ने इसी भूमि को अलंकृत किया है। इतिहास के महापण्डित कल्हण की ख्याति तो विश्व-विश्रुत है।

संस्कृत के साहित्याकाश में कल्हण की भांति विरले ही ऐसे दिनमणि उदित हुए हैं जिनके भोजस्वी प्रकाश से संसार का कोना-कोना प्रकाशमान हो गया है। एक धुरंधर इतिहासकार एवं अद्वितीय महाकाव्यकार के रूप में यशस्वी विद्वान् कल्हण की भारती अपने क्षेत्र में सर्वथा अनुलनीय है। इस महामनस्वी की प्रतिभा का मंथन करने के लिये विश्व के शोधकर्त्ताओं ने सदियों से अनुशीलन कार्य किया और आज जिस प्रतिष्ठित स्थान पर कल्हण का व्यक्तित्व आसीन है उस सम्बन्ध में कुछ कहना शेष नहीं।

कश्मीर-स्थित परिहासपुर नामक स्थान में सन् ११०० ई० में महाकवि कल्हण ने जन्म धारण किया। अष्टम तरङ्ग के उल्लेखानुसार कल्हण राजा जयसिंह के राज्यकाल (११२९-५० ई०) में वर्तमान था। पिता पण्डित चम्पक महाराजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के महामात्य एवं चाचा कनक भी हर्ष के राज्याश्रित विद्वान् थे। उनके गुरु का नाम अलकदत्त था। कल्हण यद्यपि शैव-मतानुयायी थे; फिर भी बौद्धधर्म से उनका अविरोध था और अहिंसा-सिद्धान्त के प्रति उनकी विशेष आस्था थी। ये कट्टर भाग्यवादी थे एवं दैवीय विधानों को मान्य समझते थे।

कल्हण की रचयिता को दिग्दिगन्तर में विस्तारित करने वाली उनकी एकमात्र कृति 'राजतरङ्गिणी' है। संस्कृत-साहित्य में इस अमर रचना का उल्लेखनीय स्थान है। 'राजतरङ्गिणी' आठ तरङ्गों (भागों) में विभाजित है। कल्हण ने अन्तिम तरङ्ग में दक्षिण की प्रवहमान गोदावरी नदी से तुलना करते हुए 'राजतरङ्गिणी' को 'राजाओं की नदी' से अभिहित किया है।

इसमें कुल मिला कर ७८२६ श्लोक हैं। प्रथम चार तरङ्गों में पौराणिक काल से लेकर कर्कोटक नागवंशीय राजाओं तक का इतिहास

वर्णित है। पांचवीं तरङ्ग में 'वर्मन्' नामाङ्कित राजाओं की वंशावली का चित्रण है। छठी तरङ्ग में पशकर, ब्राह्मण राजा से लेकर छिदा नामक किसी रामी तक का उल्लेख है। सातवीं तरङ्ग में अनन्त, कलश और हर्ष जैसे ख्यातिप्राप्त राजाओं का इतिहास वर्णित है और आठवीं तरङ्ग में उच्चल, सुस्सल एवं विजयसिंह प्रभृति राजाओं की वंशावलि वर्णित है।

कालक्रम की दृष्टि से आरम्भिक तीन तरङ्गों की घटनायें अमात्मक हैं। प्रथम प्रागैतिहासिक यावन राजाओं के सम्वन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि कल्हण का पूर्वैतिहासिक ज्ञान अपूर्व था। उत्पल वंश से पूर्व की सारी ऐतिहासिक सामग्री विद्वानों की दृष्टि में अप्रामाणिक ठहरती है; किन्तु तदुपरान्त जो ऐतिहासिक वृत्त दिये गये हैं वे विश्वासयोग्य हैं। वर्ष, मास और दिन क्रम से कल्हण के इतिवृत्त उसकी अगाध विद्वत्ता के परिचायक हैं।

'राजतरङ्गिणी' में पौराणिक काल से लेकर १२वीं सदी तक लगभग डेढ़ हजार वर्ष का शृंखलायुद्ध इतिहास तिथिक्रम से वर्णित है। मध्य-कालीन योरोपीय इतिहासकारों की भांति कल्हण की इतिहासकारिता संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में एक नवीनतम प्रयोग था। अनेकानेक अधिकारपत्रों, दानपत्रों, प्रशस्तियों, शिलालेखों और हस्तलिखित पोथियों के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती ग्यारह प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों का अनुशीलन करने के उपरान्त कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' का निर्माण किया था। संस्कृत-इतिहास के क्षेत्र में तिथि-लेखन का क्रम यहीं से आरम्भ होता है। डेढ़ हजार वर्ष का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास इतने सुविवेच्य ढंग से केवल 'राजतरङ्गिणी' में ही उपलब्ध होता है। इस बृहत्काय ग्रंथ की कुछ घटनायें यद्यपि अतिरंजित हैं, फिर भी इसके खोजपूर्ण वृत्त बड़े महत्वपूर्ण हैं।

अनूदित ग्रन्थों के रूप में

‘राजतरंगिणी’ को सर्वमान्यता इसी से विदित है कि अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने समय-समय पर इस ग्रंथरत्न पर अनुशीलन-परिशीलन कार्य किए। मुसलमान इतिहासकारों में इस ग्रंथ का अत्यधिक समादर दृष्टिगत होता है। ‘आईने अकबरी’ के सुप्रसिद्ध लेखक अबुलफजल ने अपने ग्रन्थ में ‘राजतरंगिणी’ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसकी उपादेयता को समझने के लिए अनेक विद्याव्यसनी मुसलमान बादशाहों ने समय-समय पर अपने विद्वान् इतिहासकारों द्वारा बड़े परिश्रम से फारसी-भाषा में इसका अनुवाद करवाया।

इस दृष्टि से जैनुल् आवदीन (१४२१-७२ ई०) द्वारा करवाया गया फारसी अनुवाद ‘बहिरुल् अस्मार’ (कथासागर) विशेष-रूपेण उल्लेखनीय है, जिसका संशोधन एवं शेषकार्य विद्याप्रेमी सम्राट् अकबर के विद्वान् इतिहासकार अब्दुलकादिर-अवधदौनी ने १५९४ ई० में सफलतापूर्वक समाप्त किया।

इस अनुवाद को देख कर अकबर इतना प्रभावित हुआ था कि उसने बिना व्यवधान के रातभर जागकर संपूर्ण ग्रन्थ को सुनाने का आदेश दिया। तदुपरान्त सन् १६१७ ई० में विद्वान् इतिहासज्ञ हैदर मलिक ने ‘राजतरंगिणी’ का संक्षिप्त किन्तु बड़ा हृदयग्राही एवं प्रभावपूर्ण कथानक लिखा। इसके अतिरिक्त इसका अंग्रेजी में प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित हुआ, जिसको देख कर अनेक विद्वानों ने अपनी आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा ‘राजतरंगिणी’ का महत्त्वविश्व में फैलाया।

सुप्रसिद्ध पर्यटक डाक्टर बर्नियर कृत ‘पैराडाइज आफ इंडिया’ द्वारा विदित होता है कि उन्होंने भी हैदर मलिक कृत फारसी अनुवाद को १७ वीं शताब्दी के लगभग अंग्रेजी में अनूदित किया था; किन्तु यह अनुवाद अनुपलब्ध है। १८२३ ई० में श्री मूरक्राफ्ट ने कश्मीर से

‘राजतरंगिणी’ की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त की, जिसको उन्होंने शारदा लिपि से देवनागरी-लिपि में प्रतिलिपि कर ‘एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल’ से १८३५ ई० में प्रकाशित करवाया ।

प्रो० ब्रुह्लर ने भी कश्मीर में रह कर ‘राजतरंगिणी’ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त कर उन पर वर्षोंतक अनुशीलन-कार्य किया और शारदा-लिपि वाली प्रति को ही प्राचीन एवं मौलिक सिद्ध किया ।

प्रो० विलसन ने १८२६ ई० के लगभग ‘राजतरंगिणी’ पर एक विद्वत्तापूर्ण आलोचना लिखने के उपरान्त उसकी छः तरंगों का संक्षिप्त वृत्त भी लिखा । इसी प्रकार श्री ट्रायर ने भी ‘राजतरंगिणी’ की प्रथम छः तरंगों का १८४१-५२ के बीच एक प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत किया, जो कि पेरिस की ‘एशियाटिक सोसायटी’ द्वारा फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ । ‘निर्णयसागर प्रेस’ बम्बई का विद्वद्ध्य श्री दुर्गाप्रसाद जी द्वारा संपादित संस्करण, बम्बई से ही प्रकाशित श्री स्टीन द्वारा संपादित ‘राजतरंगिणी’ का दूसरा संस्करण और ‘इंडियन प्रेस, प्रयाग’ से श्रीरणजीत सिंह सीताराम द्वारा अनूदित संस्करण विशेष-रूपेण उल्लेखनीय हैं । इन संस्करणों द्वारा ‘राजतरंगिणी’ के विद्यार्थियों का बड़ा उपकार हो रहा है; फिर भी एक विशुद्ध और वृहत् हिन्दी रूपान्तर की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है ।

इस प्रकार कल्हण की अमर कृति ‘राजतरंगिणी’ संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है । कश्मीर का संपूर्ण जनजीवन तो उसमें समन्वित है ही, साथ ही कश्मीर की अतुलनीय प्रकृति, वहाँ के पर्वत, नदी, नद, झरने, झील, नगर, महानगर, ग्राम, ग्रामटिका, मठ-मन्दिर, वन-उपवन, फल-पुष्प आदि का बड़ा काव्यमय

हृदयग्राही वर्णन भी हम ग्रन्थ में वर्णित है। इतिहास की संकीर्ण पगडंडियों पर चलते हुए भी काव्यमय समतल भूमि का सा सुखानुभव पाठक की दर्शनेच्छुकता को उत्तरोत्तर तीव्रतर करता चला जाता है। इसमें इतिहास-लेखन और कवित्व-प्रदर्शन का अद्भुत सामंजस्य निहित है। दुष्कर कवि-कर्म और अगाधज्ञान से पूर्ण ऐतिहासिक-कर्म की एकानुभूति इस एक ही ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है। 'राजतरंगिणी' को यदि 'कश्मीर-कोश' कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

कवहण ने स्वयं अपने इस कठिन कार्य का इस प्रकार उल्लेख किया है कि 'हो सकता है मेरी इस कृति में भारवि और माघ जैसी प्रभावोत्पादकता न भी आ सके, क्योंकि मुझे विशाल वैतरणी को पार जो करना है; फिर भी इस महत्वपूर्ण कार्य के निर्वाह में मैंने कुछ भी शेष न रखा।' और हम देखते हैं कि वस्तुतः एक निपुण नाविक की भांति कवहण अपनी सुनिर्मित रचनातरी द्वारा एक दिन उस विशाल वैतरणी को पार करने में सक्षम भी हो जाते हैं। काव्यकला और इतिहास-कला का ऐसा सफल निर्वाह अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकता।

गंगावतरण और कूर्मावतार आदि पौराणिक उपाख्यानों के अतिरिक्त कश्मीर की रम्य-प्रकृति का हृदयग्राही वर्णन काव्यश्रव की दृष्टि से कवहण को कविराज की कोटि में ला उपस्थित करते हैं। प्रकृति की नाना मनोरम परिस्थितियों का सफल चित्रण इस ग्रन्थ की मौलिक विशेषता है।

'राजतरंगिणी' सफल ऐतिहासिक रचना तो है ही, साथ ही उसमें भौगोलिक परिज्ञान, वनस्पति-विज्ञान एवं वास्तु-स्थापत्यकला का भी पर्याप्त परिशीलन दृष्टिगत होता है। उसके काव्योचित सौन्दर्य

का तो निर्देश किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त महापण्डित कल्हण ने स्वयं एक महामात्य का पुत्र होने के नाते एवं राजपरिवारों से सुपरिचित होने के नाते राजनीतिक जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रों का परिशीलन तो किया ही है, साथ ही तत्सामयिक, साहित्यिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन पर भी उसने यथेष्ट प्रकाश डाला है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी कल्हण की विद्वत्ता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उपदेशात्मक नीतिपरक स्थल भी प्रसादगुण की प्रांजलता के कारण मधुर एवं हृदयग्राही बन पड़े हैं। कल्हण ने अपने पात्रों के मुख से प्रश्नोत्तर-शैली में जो उक्ति-प्रत्युक्तियों की योजना घटित की है उससे प्रतीत होता है वे एक सिद्धहस्त नाटककार भी थे।

इस प्रकार 'राजतरंगिणी' के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इतिहास के क्षेत्र में कल्हण का व्यक्तित्व अनुलनीय है और साथ ही उसमें काव्योचित जिन उद्भावनाओं के दर्शन होते हैं, उससे कल्हण कविराज जैसे प्रतिष्ठित स्थान पर अधिष्ठित किए जा सकते हैं। इन असामान्य प्रतिभाशाली विद्वान् की यह महान् कृति आरम्भ से आज तक अपनी उक्त विशेषताओं के कारण उत्तरोत्तर समादरणीय होती चली आ रही है।



भारतीय वाङ्मय का विदेशों में समादर

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने कोरी कल्पनाओं के आधार पर सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है कि भारतीय विद्वानों ने अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में समय-समय पर जो कुछ भी कहा है वह सम्पूर्ण पक्षपातमात्र है। अपना कहे जाने वाला उनका पूरा साहित्य विदेशी भारती और खासकर ग्रीस-संस्कृति से अनुप्राणित है। पाश्चात्य विद्वानों के उक्त विचार किसी प्रमाण-विशेष एवं तर्कसंगत युक्तियों पर आधारित नहीं हैं, अपितु व्यक्तिगत स्वार्थों के वशीभूत होकर उन्होंने ऐसा कहा है। किसी संस्कृति के प्रति ऐसी हेय धारणाएँ प्रमाद की द्योतक तो हैं ही, साथ ही किसी भी साहित्य के वास्तविक

दृष्टिकोण से समझने और उसका मूल्य आंकने में भी उनकी तर्कनाशक्ति निष्प्रयोजन कागजों को रंग देनेमात्र तक ही सीमित रही है।

इसी प्रकार भारत में भी आदि से ही ऐसे लोगों की कमी नहीं रही, जिन्होंने पक्षपात के वशीभूत होकर अज्ञानतावश अपनी थोथली धारणाएँ आलोचना जैसे दुस्तर कार्य से निर्मीक होकर अभिव्यक्त न की हों। उन लोगों की दृष्टि में आभारतीय जो कुछ भी है उस सब का केवल एक ही मूल्य है—नाक-भौं सिकोड़कर उपेक्षाभाव से उसकी ओर पीठ फेर देना।

उक्त दोनों प्रकार के दृष्टिकोण समालोचना जैसे तटस्थ और समदृष्टि-सम्पन्न कार्य के क्षेत्र में सापेक्ष और सच्चाई से एकदम शून्य हैं। सत्य और मिथ्या के व्यवधान को मिटा देने वाली ऐसी धारणाएँ संस्कृति के आदान-प्रदान और साहित्य के विकास में भी बड़ी बाधक हैं।

विश्व के इतिहास में वेदों की तिथि सबसे प्राचीन है। संसार के जितने भी जातीय जीवन की परम्परागत प्रणाली को खताने वाले आदि ग्रन्थ हैं उनमें वेदों का ही शीर्ष स्थान है। इस्लाम-धर्म का आदि ग्रन्थ 'कुरान' मुहम्मद साहब के बाद में रचा गया, जिसको बने लगभग १३७० वर्ष हो गए हैं। ईसाई धर्म के आदिग्रन्थ 'बाइबिल' की रचना महापुरुष ईसा मसीह के पूर्व न हुई थी, जिसकी प्राचीनता में १३५० वर्ष व्यतीत हो गए। यहूदियों की धर्म-पुस्तक 'तौरत' मूसा के बाद की रचना है, जिसको बने आज केवल ३५६५ वर्ष हुए हैं; किन्तु वेदों की निम्नित तिथि निर्धारित करने में देशी-विदेशी विद्वान् अभी तक एकमत नहीं हो सके हैं। जर्मन विद्वान् महाशय मैक्समूलर ने वेदों के संबन्ध में अपनी अन्तिम सम्मति इस प्रकार व्यक्त की—'वेदों का निर्माण आदिकाल में ही हो चुका था। इनसे पूर्व का कोई हस्तलिखित ग्रन्थ

सोजने पर भी संसार भर में नहीं मिलता है। वेदों में वर्णित तत्त्वज्ञान और धर्म की विशालता के सम्यन्ध में हम वर्षों के अध्ययन के बाद भी सुनिर्णीत विचारधारा स्थिर करने का साहस नहीं कर सकते। इसकी समानता में विश्व-साहित्य ने अभी तक कुछ नहीं दिया। फ्रांसीसी विद्वान् दार्शनिक वाल्टेयर ने वेदों के प्रति पश्चिम की कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा 'केवल इसी महती देन के लिए पश्चिम पूर्व का अनन्तकाल तक ऋणी रहेगा।' संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित वैज्ञानिक लुई जाकोलियो ने वेदों के सम्यन्ध में अपना अभिमत यों व्यक्त किया कि 'वेद अनादि ज्ञान के ग्रन्थ हैं। ईश्वरकृत ग्रंथों में आज वेद ही एक ऐसे हैं जो विज्ञान के अनुकूल उतरे हैं।'

सर्वाङ्गीणता की दृष्टि से कुरान, याह्विल, तौरैत आदि सभी धर्म-ग्रन्थ पुत्राह्वी हैं। वेदों में जहां तत्त्वज्ञान की विस्तृत मीमांसा की गई है वहां निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, संगीत आदि विषयों पर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है। वेदों की उक्त सर्वाङ्गीणता को लक्ष्य करके महापण्डित मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'भारत से हम क्या शिक्षा ले सकते हैं' में कहा कि 'शिक्षा का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जिसने भारत के प्राचीन साहित्य से अनुप्रेरणा न प्राप्त की हो। हमें धर्म, तत्त्वज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान और कानून आदि की शिक्षा के लिए भारत ही जाना पड़ेगा। अमूल्य एवं अप्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थों के कोप केवल भारत में ही प्राप्त हो सकते हैं।' महाशय जाकोलियो अपनी 'भारत की याह्विल' नामक पुस्तक में लिखते हैं 'मैंने अनुसन्धान करके पता लगाया कि भारत ने ही समस्त संसार को ज्ञान का प्रकाश दिया है। यह भी सत्य है कि भारत ने ही पहले-पहल अपने धर्म, सदाचार, दर्शन तथा गाथाएँ मिस्र, यूनान, इटली और ईरान आदि अपने पड़ोसी देशों को दी हैं। अतः भारत ही सम्य कहे जाने वाला समस्त संसार का आदिगुरु है।' वैदिक

धर्म की प्राचीनता में महाशय बान ओडर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आर्यों की प्राचीनता' में लिखते हैं कि 'वैदिक धर्म सरल, पवित्र और उदार था। वह रागविद्या तथा तत्त्वज्ञान से सम्पन्न था। वह समस्त संसार के धर्मों में श्रेष्ठ था।'।

विचारों के आदान-प्रदान में बौद्ध दर्शन ने विदेशी भारतीयों को अधिक प्रभावित किया। चिन्तन और मनन के क्षेत्र में वेदान्त, उपनिषद् और गीता का पाश्चात्य दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य दर्शन-कारों ने भारतीय दर्शन की मूलचेतना प्राप्त कर अपनी अगाध ज्ञान-लिप्सा के कारण उसके शब्द-शब्द का मन्थन कर डाला। फारस का सूफी मत और विशेषकर अफलातूनी-दर्शन यहाँ के दर्शन से अधिक प्रभावित हुए हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक दाराशिकोह ने अपनी आध्यात्मिक ज्ञानपिपासा के उपशमनार्थ तौहीद, कुरान, याइविल आदि तत्त्वज्ञान-सम्यन्धी अनेक ग्रन्थों को छान डाला; किन्तु उसकी अतृप्ति फिर भी बनी रही। अन्ततः उसने भारतीय दर्शनों की शरण ली और वहाँ से मनचाहा रसपान किया। वेदों में वर्णित एकेश्वरवाद-सम्बन्धी ऋचाओं का उसने हिजरी सन् १०६७ में अनुवाद करवाया और सिद्ध किया कि एकेश्वरवाद का प्रतिपादक भारतीय दर्शन ही विश्व का आदिम दर्शन है। कुछ उपनिषदों और गीता का भी उसने फारसी भाषा में अनुवाद करवाया तथा रचयं भी किया।

दार्शनिक विद्वान् मैक्समूलर, डा० डफ, प्रो० शोल्डस्ट्रकर तथा न्याकरणशास्त्री सर मोनियर विलियम्स आदि ने प्रकाण्ट दार्शनिक प्लेटो और पिथागोरस के दर्शन को पुनर्जन्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिए भारतीय दर्शन से अनुप्राणित कहा है। आजकल का यूरोपियन और अमेरिकन दर्शन भारतीय दर्शन से और विशेषकर स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द के सारगर्भित भाषणों से अत्यधिक प्रभावित हुआ है।

भारतीय वाङ्मय का विदेशों में समादर

भारतीय विज्ञान और ज्योतिष से नी विदेशी भारती ने समय-समय पर प्रेरणा प्राप्त की है। चिकित्सा-विज्ञान की जन्मभूमि भारत को ही स्वीकार करते हुए लार्ड एम्पिल का कहना है कि 'भारत से ही चिकित्सा-विज्ञान पहले-पहल भरपूर वालों ने सीखा और तदनन्तर १७ वीं शताब्दी के आसपास यूरोप वालों ने आरबियों से उसकी शिक्षा प्राप्त की।' यहाँ के सत्यसमन्धी यन्त्र इतने विचक्षणता एवं निपुणता से निर्मित थे कि उनके द्वारा एक घाल को दो सम भागों में विभाजित कर देना अनायास ही साध्य था।

इसी प्रकार भारत का अङ्कगणित भी विश्व में विख्यात हुआ। अरब वालों के माध्यम से ही यूरोपवासियों ने भारतीय अङ्कगणित तथा रेखागणित की शिक्षा प्राप्त की। रेखागणित का ४७ वां योरम, पीथागोरस ने जिसको सिद्ध करके विश्व में आश्चर्यजनक ख्याति अर्जित की, भारत में शताब्दियों पूर्व हल हो चुका था।

ज्योतिषशास्त्र के सम्यन्ध में विद्वान् अनुसन्धानकर्ता महाशय वेयर का कहना है कि 'चिकित्सा-विज्ञान की ही भांति अरबवालों ने ही भारत का ज्योतिषशास्त्र विश्व में फैलाया।' ज्योतिष के धुरन्धर विद्वान् पाराशर और आर्यभट्ट के सम्यन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों की धारणा है कि उन्हें पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने की गति-विधि ज्ञात थी। उन्होंने लोगों ने पहले-पहल पता लगाया कि सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की वास्तविकता क्या है। इसी प्रकार के अनेक वैज्ञानिक समकार, जिन्हें आज के वैज्ञानिक भी हल करने में अपने को समर्थ नहीं पा रहे हैं, भारतीय ज्योतिषशास्त्रियों ने सदस्रों वर्ष पूर्व उनको सिद्ध कर दिया था।

भारतीय ग्रन्थों का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। गीता का विदेशों में बहुत प्रचार हुआ। सन् १८२२ में विद्वान् लेखक

श्लेगल ने गीता का लैटिन भाषा में शुद्ध और अधिकल अनुवाद किया, जिसका विदेशी पण्डित-मंडली में बड़ा समादर हुआ। तदनन्तर महाशय लोरीन्सन ने सन् १८६९ में जर्मनी भाषा में गीता का अनुवाद किया। उक्त अनुवाद को देखकर गीता में वर्णित योगत्रय : ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—बहुत समय तक जर्मन विद्वानों का गम्भीर विचारणा का विषय बना रहा। जर्मन विद्वानों के बीच गीता का समादर होने का दूसरा भी कारण था। बहुत समय पूर्व से उन लोगों की धारणा भारतीय वाङ्मय और विशेषकर दार्शनिक ऊहापोह को जानने के लिए बनी हुई थी। जर्मन का अपना कहा जाने वाला अधिकांश विज्ञान भारतीय मनीषियों की देन है। तदनन्तर गीता का प्रामाणिक अनुवाद अंग्रेजी भाषा में योग्य लेखक चार्ल्स विलिकिन्सन ने किया, जिसकी सूचमता को देखकर अंग्रेजी समाज में आश्चर्य छा गया। उक्त अनुवाद को देखकर वारेन हेस्टिंग्स ने कहा कि 'कई दिनों के शासनोपरान्त ब्रिटेन को भारत से जो कुछ भी संपत्ति एवं ख्याति प्राप्त हुई है वह सब कुछ एक दिन विस्मृत हो जायगी; किन्तु गीता का अंग्रेजी अनुवाद ब्रिटेनवासियों को और सम्पूर्ण विश्व को सदियों अनुप्राणित करता रहेगा।'

कथा-साहित्य की उद्गमभूमि भारत ही है। यहीं से कथा-साहित्य का विश्व भर में विकास हुआ। विश्व-साहित्य के लिए भारत को यह महती देन है। जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेल ने बड़े परिश्रम से छठी शताब्दी में पञ्चतन्त्र की जिन कहानियों को खोज निकाला था, पाश्चात्य साहित्य के कथाक्षेत्र में उन्होंने आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित किया। छठी शताब्दी में भारत का फारस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण वाइशाह खुसरो नौशेरखॉ ने प्रभावित होकर अपने संस्कृत विद्वान् हकीम बुरजाई से सर्वप्रथम पञ्चतन्त्र का अनुवाद पहलवी

भारतीय वाङ्मय का विदेशों में समादर

२२३

(प्राचीन फारसी) भाषा में सन् ५३० के लगभग करवाया । इसी अनुवाद के माध्यम से एक ईसाई पादरी बुद ने सन् ५७० में 'कलिलग और दमनग' नाम से सीरियन भाषा में पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया । तदनन्तर अब्दुल्ला यिन अब्दुसफा ने सन् ७५० में सीरियन से अरबी भाषा में 'कलीलह और दमनह' नाम से पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया । एक-दूसरे विद्वान् अब्दुल्ला यिन हावाजी ने सन् ७८१ में एक दूसरा अनुवाद अरबी में किया, जिसके आधार पर विद्वान् लेखक सहल-यिन नववयत ने उसको छन्दयुक्त कविता में प्रकाशित किया । अरबी भाषा मध्ययुग की शिष्ट एवं समृद्ध भाषा होने के कारण उसके माध्यम से इन अनूदित कहानियों का विश्वभर में विस्तार हो गया । फलस्वरूप ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी आदि भाषाओं में १६ वीं शताब्दी तक पञ्चतन्त्र की कहानियों का अनुवाद होता रहा ।

बौद्ध-जातकों का कथा-संग्रह पञ्चतन्त्र से भी प्राचीन है । इन गाथाओं में भगवान् बुद्ध के जीवन की मनोरञ्जक घटनाएँ वर्णित हैं । मनोरञ्जन के साथ-साथ इन जातक-गाथाओं द्वारा तत्सामयिक ऐतिहासिक, सामाजिक तथा भौगोलिक ज्ञान की अनेक बातों का भी पता लगता है । इनकी कुल संख्या ५५० है । जातक की कथाओं का भी विश्व-साहित्य पर बड़ा प्रभाव लक्षित होता है । 'वलराम और जोसफ की कहानी' जिसका मूल आधार जातकों में वर्णित है, इतनी शिक्षाप्रद सिद्ध हुई कि - उसके पात्रों का नामकरण भी ईसाई सन्तों से अमिहित हुआ । उसमें जोसफ स्वयं बुद्ध है । 'जोसफ' 'बोधिसत्त्व' का उल्लेख्य नाम कहा जाय तो - अत्युक्ति न होगी, क्योंकि जोसफ 'बुद्धसफ' बोधिसत्त्व का ही अपभ्रंश है । जान आफ डैमेस्कस ने आठवीं शताब्दी में जोसाफ की कहानी को ग्रीक-भाषा में लिखा, जिसका आधार छठी शताब्दी में पहलवी भाषा में लिखी- गई कहानी

से है। तदनन्तर तो विश्व की सभी सभ्य भाषाओं में इन जातक कथाओं का अनुवाद हुआ। अरबी, सीरियन, ग्रीक और लैटिन भाषाओं में अनूदित जातकों की कथाएँ यही विषयात हुईं।

मध्ययुग से भी पूर्व पश्चिमी देशों में भारतीय कहानियों का अनुकरण एवं अनुवाद किया जाने लगा था। 'सालोमन्स जजमेंट' नामक कहानी का मूल भारतीय है। सिकन्दर की कहानियों में उसकी माता का पुत्रशोक 'कृशा गीतमी' वाली बौद्ध कथा से अधिकल उतरता है।

महाभारत में वर्णित नलोपाख्यान और सावित्री-उपाख्यान का विदेशों में बड़ा समादर हुआ। लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं में उनका अनुवाद हुआ। कालिदास की भारती ने तो विश्व-साहित्य के कोने-कोने में आश्चर्यजनक क्रान्ति पैदा कर दी थी। शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र का तो दुनिया की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और अभिज्ञान-शाकुन्तल का तो यूरोपीय रङ्गमंच पर कई बार सफल अभिनय भी हुआ। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' नाटक सन् १८५० में पेरिस नगरी में बड़ी धूमधाम से अभिनीत हुआ। १९५८ ई० में वहाँ रुसी में अनूदित हो कर रुस के रङ्गमंच पर भी खेला गया।

भारतीय नाटकों की उक्त श्रेष्ठ परम्परा को देखते हुए सर विलियम जोन्स ने लिखा कि 'भारतीय नाटकों की तुलना में उन्नत कहे जानेवाले विश्व के सभी नाटक पिछड़े जाते हैं।' इन्हीं महाशय ने सर्वप्रथम सन् १७८९ में अंग्रेजी भाषा में शाकुन्तल नाटक का अनुवाद भी किया। इस अनुवाद को देखकर प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने शाकुन्तल नाटक की स्तुति में कविता ही लिख डाली थी।

भारतीय वाङ्मय का विदेशों में समादर

भारतीय सभ्यता की स्थापना में ऐतिहासिकों की विश्रान्ति
 लगातार बढ़ती जा रही है। पुरातन-साहित्यी सिध्दों की अनुसन्धान कार्य
 भारतीय भाषा में हुए हैं उनमें भारतीय सभ्यता की, जिस सदृशियों
 का विश्रान्ति हुआ है वह पुरातन-साहित्यी के लिए विश्रान्ति का विषय है,
 जिससे पुरातन सिध्दों की स्थापना-साधना है उसका संसार की सभ्य
 भाषाओं में समझा होगा रहा है। यह सुनाए जाने वाला विषय नहीं
 कि ऐतिहासिक दायन-दुष्टों के साथ-साथ ही भारत में विषय की मोक्ष
 की संशय-विश्रान्ति है तथा सभ्यता-सभ्यता का इतिहास की ऐतिहासिक
 सभ्यता कहेंगे।



भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

भारत में संस्कृत भाषा की उन्नति और उसके सुधार के लिए सम्प्रति शासन की ओर से जो कुछ भी कार्य किए जा रहे हैं साधारण जन भी उनसे परिचित हैं। इतना तो अकाव्य सत्य है कि संस्कृत ही भारत की मूल भाषा है और अपना कहा जाने वाला उसका सम्पूर्ण वाङ्मय एवं सारा गौरव संस्कृतभाषा में ही सुरक्षित है। फिर उसको हम मृत भाषा कहें या अनुजत भाषा, यह तो हमारी दूरदर्शी सूक्ष्म पर अवलम्बित है। उधर विदेशों में—रूस, अमेरिका और ब्रिटेन आदि में—आज भी संस्कृत के प्रति समाज की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है।

भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

२२७

भारत में आज संस्कृत का अध्ययन करने वाला अधिकांश समाज धनहीन है। सम्पन्न परिवारों के बालक संस्कृत नहीं पढ़ते, क्योंकि उन्हें भूखों नहीं मरना है। इसलिए संस्कृत भाषा का प्रचार आज भूखे रह कर और भविष्य में भी भूखे रहने वाले निर्धन समाज तक ही सीमित है। संस्कृत भाषा के महत्व को समझने वाले और उसका विश्व-व्यापी प्रचार करने वाले अभारतीय विद्वानों के सत्प्रयत्नों से संस्कृत भाषा की वास्तविक मान-वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से उन विदेशी विद्वानों का भारत सदा ऋणी रहेगा।

विदेशों में संस्कृतभाषा के प्रति विद्वत्समाज की निष्ठा बहुत पहले से ही जन्म चुकी थी। धर्मप्रचारार्थ पहले-पहल जब ईसाई मिशनरी भारत में आए तो वे भारतीय धर्मग्रन्थों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। ईसाई पादरी संस्कृत के उदाहरण दे-दे कर अग्रत्यक्ष रूप से अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अब्राहम रोजर नामक एक विद्वान् ने १६५१ ई० में मरुहरी के कतिपय ललित श्लोकों का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद किया, जिसको देख कर विदेशियों का ध्यान संस्कृत के प्रति आकृष्ट हुआ। हेनरिच नामक एक जर्मन पण्डित ने भारतीय पण्डितों से शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से १६६४ ई० में संस्कृत का अध्ययन किया। १६९९ ई० में एक जर्मन पादरी भारत आया और संस्कृत का सम्यक् ज्ञान अर्जित करने के उपरान्त उसने सर्वप्रथम यूरोपीय भाषा में व्याकरणग्रन्थ का प्रणयन किया। इसी प्रकार विद्वान् अर्घोलोमिया ने भी इसी समय व्याकरण की दो कृतियाँ रचीं। विद्याप्रेमी वारेन हेस्टिंग्स ने भारतीय पण्डितों के द्वारा जिस 'विवादार्पणसेतु' नामक धर्मशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ को संकलित करवाया, १७८५ ई० में वह 'ए कोड आफ गेण्टोला' नाम से अंग्रेजी में

प्रकाशित किया गया। चार्ल्स विडिंक्स की गीता की जिस अनूदित कृति ने यूरोप भर में विस्मय पैदा कर दिया था, वह १७८५ ई० में इंग्लैण्ड में प्रकाशित हुई। 'हितोपदेश' और 'महाभारत' में वर्णित 'शकुन्तलोपाख्यान' का भी इस संस्कृतप्रेमी विद्वान् ने सफल अनुवाद किया।

संस्कृतभाषा के अनुरागी विद्वान् सर विलियम जोन्स का कार्य चिरस्मरणीय रहेगा। ११ वर्ष तक भारत में रह कर संस्कृत-साहित्य की उन्होंने भरपूर सेवा की है। उन्हीं के सतप्रयत्न से १७८४ ई० में एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल की स्थापना हुई। इस संस्था द्वारा जिन अमूल्य हस्तलिखित पोथियों का उद्धारकार्य हुआ और भारत में जिस अनुसंधानसम्बन्धी कार्य का श्रीगणेश हुआ उसका सम्पूर्ण श्रेय स्वर्गीय जोन्स को ही है। १७८९ ई० में जोन्स ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया, तदनंतर 'मनुस्मृति' का और १७९२ ई० में 'ऋतुसंहार' का। १७९४ ई० में उनका स्वर्गवास हुआ। जोन्स की अनूदित कृति को देख कर जर्मन विद्वान् जार्ज फोर्स्टर ने १७९१ ई० में शकुन्तलानाटक का जर्मनी-भाषा में अनुवाद किया, हर्वर्ट और गेटे जैसे विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की। इसी समय के आस-पास थामस कोलब्रुक ने 'ए डाइजेस्ट आफ़ हिन्दू-ला आफ़ कांट्रेक्ट्स' नामक संकलित ग्रन्थ के अतिरिक्त अमरकोष, हितोपदेश, अष्टाध्यायी और किरातार्जुनीय का अनुवाद प्रस्तुत किया।

अलकजेंडर हैमिल्टन ने भारत में रह कर वैदिक साहित्य का अच्छा ज्ञान अर्जित किया। यह आँग्ल विद्वान् जब १८०२ ई० में अपने सहयोगियों के साथ फ्रान्स होता हुआ स्वदेश इंग्लैण्ड लौट रहा था तो रास्ते में नैपोलियन ने फ्राँसीसियों सहित पेरिस में इन्हें

भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

वान हॅबोल्ड ने और उसके भाई अलेक्जेंडर हॅबोल्ड ने भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया। गीता की व्यापक ज्ञानप्राप्ति इनके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य था। शेलिंग, कॉट और शिलर प्रभृति जर्मनों ने उपनिषदों का जर्मनभाषा में अनुवाद किया। इसी प्रकार दूसरे जर्मन पण्डितों में फ्रेडरिक स्कार्ट का भी काव्यसम्बन्धी ज्ञान प्रशंसनीय है।

फर्गुसन जेम्स एक सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् शिल्पशास्त्री हुए हैं। १८४३ ई० में इन्होंने दक्षिण भारत के कतिपय खण्डहरों और देवालयों से पुरातत्वसम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री का पता लगाया। १८४८ ई० के आसपास इन्होंने भारतीय वनस्पतिविज्ञान पर प्रकाश डालने के लिए 'हिन्दू प्रिंसिपल आफ वूड्स् इन् आर्ट' लिखा।

महापण्डित मैक्समूलर अपने महत्तम कार्यों के कारण आज भी अमर हैं। उनका जन्म जर्मनीस्थित देसाऊ नामक एक छोटे से गाँव में ६ दिसम्बर १८२३ ई० में हुआ था। मैक्समूलर ने भारतीय ज्ञान का व्यापक प्रचार करने के लिए जो परिश्रम किया उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। अपने जीवन के ५८ वर्ष उन्होंने भारतीय साहित्य की एकान्त सेवा में लगाए। १८४९ से १८७५ ई० तक उन्होंने सायणभाष्य-सहित ऋग्वेद को छः जिल्दों में सम्पादित और प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त १८७३ ई० में मूल ऋग्वेद के दसों मण्डलों को लन्दन से प्रकाशित किया। १८ अक्टूबर, १९०० ई० में मैक्समूलर दिवङ्गत हुए। इसी समय विल्सन ने भी 'हिन्दू थिप्टर' और 'विष्णुपुराण' के अतिरिक्त ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद छः जिल्दों में प्रकाशित किया। वेदों का शब्दार्थ समझने के लिए जर्मन विद्वान् राय कृत 'संस्कृत-जर्मन विश्वकोश' बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। १८७० के लगभग ए० प्रासमैन और विल्सन ने सायण-भाष्य के आधार पर ऋग्वेद का भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। आसमैन कृत 'संस्कृत जर्मन कोश' भी उल्लेखनीय है। तदुपरान्त इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों में रुडोल्फ, गेल्डहर्नर, लुदविग, रैक्य और पिशाल का नाम उल्लेखनीय है। आर० पिशाल जर्मन थे। बर्लिन, आवसफोर्ड और लन्दन में इनकी शिक्षा सम्पन्न हुई। १८७२ ई० में वे कील के विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए। १८८५ ई० में वे हेल के सैक्सन विश्वविद्यालय में गए और अन्त में इसी पद पर वे बर्लिन के विश्वविद्यालय में आजीवन संस्कृत की सेवा करते रहे। वेदों के अतिरिक्त कालिदास और हेमचन्द्र की कृतियों पर इन्होंने अच्छा प्रकाश डाला। इनका 'वैदिक स्टडीज' ग्रन्थ यदा महत्वपूर्ण है।

संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित वेयर ने भारतीय साहित्य पर पहले-पहल एक विवेचनात्मक इतिहास-ग्रन्थ लिखा। इनका जन्म १८२५ में हुआ। इन्होंने यजुर्वेद का भी सफल सम्पादन किया। बर्लिन के राजपुस्तकालय का हस्तलिखित पोथियों का सूची-पत्र यही विद्वत्ता से इन्होंने सम्पादित किया। १८५० से १८८५ ई० तक ३५ वर्षों के घोर परिश्रम से इन्होंने Indischen Studien नामक ग्रन्थ १७ खंडों में प्रकाशित किया। भारतीय साहित्य के इतिहास में इनके कार्य अविस्मरणीय रहेंगे। संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले विद्वानों में डा० आर्थर एयनी मेक्डोनेल का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इस प्रतिभाशाली विद्वान् का जन्म १८५४ ई० में भारत में ही हुआ। लिपिज्ञिक विश्वविद्यालय से ऋग्वेद पर कात्यायन की सर्वानुक्रमणी का पाठशोध और उस पर थीसिस लिखने के फल-स्वरूप इन्हें पी-एच० डी० की उपाधि मिली। इसके बाद ये आवसफोर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। अपना सम्पूर्ण

जीवन इन्होंने संस्कृत की सेवा करते व्यतीत किया। वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में इनकी कृतियाँ हैं : वैदिक मेथोलोजी, वैदिक ग्रामर, वैदिक इंडैक्स आफ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स, ए वैदिक ग्रामर फार स्टूडेंट्स और ए वैदिक रीडर फार स्टूडेंट्स। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में इनकी कृतियाँ हैं : संस्कृत ग्रामर फार स्टूडेंट्स, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, बृहदेवता।

वेयर और मेक्डोनेल के अतिरिक्त तीसरे इतिहासज्ञ विद्वान् हैं—डा० आर्थर वेरीडोल कीथ। इनका जन्म १८७९ ई० में हुआ। मेक्डोनेल को ये अपना गुरु मानते थे। १९०७ ई० में मेक्डोनेल जब भारतवर्ष की यात्रा पर गए तो उस स्थान पर इनकी नियुक्ति हुई। लगभग ३० वर्ष तक इन्होंने संस्कृत का अध्ययन और ज्ञानार्जन किया। 'वैदिक इंडैक्स आफ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स' नामक ग्रन्थ को तैयार करने में मेक्डोनेल के साथ इनका पूरा सहयोग रहा। वैदिक ज्ञान सम्बन्धी इनका दूसरा ग्रन्थ 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ दि वेद ऐण्ड दि उपनिषद्स' है। हिन्दू तत्त्वज्ञान पर इन्होंने 'सांख्य-सिस्टम, कर्म-मीमांसा और इण्डियन लोजिक ऐण्ड अटोमिज्म' नामक ग्रन्थ लिखे। लन्दन के इण्डिया आफिस का बृहद् सूचीपत्र और आक्सफोर्ड की ब्रिटिश लाइब्रेरी के सूचीपत्र भी इन्होंने तैयार किए। इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य है : 'संस्कृत द्रामा' और 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर'। ये दो कृतियाँ इनकी अमर स्मारक हैं। इनकी मृत्यु १९४४ ई० में हुई। इतिहासलेखकों में फेजर, गवेन और विण्टरनिस का नाम भी अविस्मरणीय रहेगा।

जर्मन पण्डित डा० थियो, मैक्समूलर के सहयोग से संस्कृत की ओर आकृष्ट हुए। १८८५ ई० में वे अध्यापक होकर बनारस आए और भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

१८८८ ई० गण घड़ी रहे। इन्होंने 'पञ्चसिद्धान्तिका' का और ब्रह्म-
सामाज्य-भाष्यमयिष्य देशान्तसूत्रों का सुन्दर संस्करण निकाला।
सीमांसाशास्त्र और ज्योतिष पर भी इन्होंने निपण्ण लिखे। एम० रोसी
नामक एक श्रीसीसी विद्वान् ने यूरोप में रह कर १८१४ से १८३२ ई०
गण संस्कृत का अध्यापन और प्रचार किया। जैन साहित्य के मर्मज्ञ
विद्वान् प्रो० जैदोषी ने जैनसूत्रों का उत्तम अनुवाद प्रस्तुत किया। सर
एडविन स्नोडेट ने १८९६ ई० में 'चौरपद्यानिका' का पद्यपद अनुवाद
दिया। सुमसिद्ध वैद्याचार्य चोटनिङ्ग ने पाणिनि-व्याकरण के विष्टव
संस्करण और साथ के सहयोग में संस्कृत कोश का भी सम्पादन किया।
पाणिनि के विविध-वाक्य का विनोद प्रकाश टाटने वाली मोरहरिद्वार की
कृति भनमे क्षेत्र का अद्भुत कार्य है।

भारतीय वाङ्मय की विस्तृत विवेचनाओं को प्रकाश में लाने वाला
डा० क्लेयर का सुदृढ़ ग्रन्थ 'वेदोपेक्ष्य वेदोपेक्ष्योपेक्ष्य' अपने क्षेत्र का
अद्भुत प्रमाण है। सीमा विद्वान् सुदृढ़ ग्रन्थ 'भोरिगिन्टल संस्कृत ट्रेट'
वैदिक जीवन पर व्यापक प्रकाश टाटने वाला ग्रन्थ है। यह पाँच भागों
में है। इस ग्रन्थ में वैदिक वाङ्मय, इतिहास और गणनात्मक जन-
संख्या पर प्रामाणिक प्रकाश टाटने वाला है।

वाल्मेयिकी ने रोमन में रामवेद और ऐंगरेय भाष्यन की लिखा।
इसी प्रकार एडवर्ड नामक दूसरे विद्वान् ने भी रामवेद पर रोमन भाषा
में एक पुस्तक लिखी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद निम्न पुस्तक है। अमेरिका
में जिस प्रत्यक्षिण-वेदी विद्वानों ने सर्वप्रथम भारतीय साहित्य के
अध्ययन-अनुसंधान में अपनी दृष्टि दर्शित की उनमें विन्स्टन ह्यूट
ह्यूटनी (१८३०-१८९४) का नाम सर्वप्रथम है। वैदिक और
वैदिक संस्कृत के अध्ययन पर वैदिकीय दृष्टि में विचार करने वाले

विदेशी विद्वानों में भी द्विती महोदय का प्रमुख स्थान है। अथर्ववेद 'प्रातिशाख्य' के समीक्षित सानुवाद संस्करण के अतिरिक्त उन्होंने अथर्ववेद पर एक अनुक्रमणिका भी लिखी और सम्पूर्ण अथर्ववेद पर अंग्रेजी भाष्य भी। भाषा-विज्ञान, व्याकरण और ज्योतिष पर भी उनका पूरा अधिकार था। १८७९ में प्रकाशित उनका 'संस्कृत व्याकरण' इस विषय का सर्वप्रथम वैज्ञानिक ग्रन्थ है। 'सूर्यसिद्धान्त' का उन्होंने अंग्रेजी में उद्धृत किया था। प्राच्यविद्या-सम्बन्धी उनके लेखों और पुस्तकों की संख्या ३६० है।

ऐसे समय में जब कि विश्व भौतिक-प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा था और संस्कृत का अध्ययन लोकप्रियता एवं अर्थ की दृष्टि से हानिकर था, द्विती साहच ने संस्कृत भाषा का नारा बुलन्द किया। इस ऋषिकल्प अमरीकी के प्रति प्रो० लैनमैन ने ठीक ही लिखा था।

श्रीद्वितीना कर्मफलेष्वसंगिना, गीतोपदेशाच्चरितं प्रसाधितम् ।
लोकप्रशंसा किल तेन नाहता, लोकोपकार्यैश्चत सत्यमेव सः॥

प्रो० द्विती कृत व्याकरण ग्रन्थ सभी पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थों का निष्पन्द कहा जा सकता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें वैदिक और संस्कृत मुहावरों का विवेचनात्मक समन्वय बड़े विद्वत्तापूर्ण ढङ्ग से दर्शाया गया है। इस विद्वान् ने गाँवों के सहयोग से अथर्ववेद संहिता का ओरियण्टल सीरीज के लिए एक उल्लेखनीय अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

प्रो० ओस्वेनबर्ग ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का शोध कर ऋग्वेद पर उदाहरण-सहित संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखीं। 'विनय-पिटक' पर भी उन्होंने प्रकाश डाला। 'सांख्यायन गृह्यसूत्रों' का भी उन्होंने सम्पादन किया। इसी प्रकार प्रो० ब्लूमफील्ड का भी अथर्ववेद का अनुवाद प्रशंसनीय कार्य है। सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् हिलेब्रैण्ट ने 'शिखायन श्रौत-

भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

ह्वेन-त्सांग मोक्षदेव

ह्वेन-त्सांग का जन्म संभ्रान्त शाहीवंश में हुआ था। सम्राट् शुन इनके पूर्व वंशज थे। तीसरी शताब्दी ई० पूर्व से इनकी वंश-परंपरा का ऐतिहासिक विवरण प्राप्त होता है। होनान के पूर्व में स्थित चिन्-व्यू नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। ईसा की दूसरी शताब्दी में वर्तमान शेनसिंह और चौथी शताब्दी में वर्तमान च-पुन-तेन नामक इनके पूर्वज इतिहास-विश्रुत व्यक्ति हुए हैं। इनके प्रपितामह चे-इन, पितामह के-आंग और पिता हुआ की गणना उस समय के विख्यात विद्वानों में की जाती है। को-शिह नामक नगर के दक्षिण-पूर्व में इनका जन्म ६०३ ई० में हुआ।

एक प्रतिष्ठित विद्वद्-वंश में जन्म लेकर बालक ह्वेन-त्सांग के अन्दर प्रकृतिप्रदत्त, ऐसे संस्कार विद्यमान थे, जिनके कारण स्वभाव-तया उनकी जीवन-दिशाएं उद्भासित होने में विलम्ब न हुआ।

ह्वेन-त्सांग मोक्षदेव

यही वह स्थान था जहाँ पर फाहियान और चियेन नामक यात्रियोंकी पुण्य-स्मृति ने ह्वेन-त्सांग के हृदय में पश्चिमी देशों में जाकर वहाँ की ज्ञानप्रवण धरती की शोहरत और वहाँ के देवोपम महात्माओं के सत्संग में रह कर, अपनी उन शंकाओं का समाधान करने की उत्कट अभिलाषा जागरित की, जिनकी उल्लक्षण के कारण उसकी बौद्धिक बेचैनी निरंतर बढ़ती जा रही थी ।

तथागत की पवित्र जन्म-भूमि के दर्शन की अभिलाषा ने उसको व्याकुल कर दिया था । वह बौद्ध-धर्म के उन ज्ञानप्रवण भारतीयों के पास रहकर अपने अन्तःकरण की इच्छा को तृप्त करना चाहता था, जिसके कारण उसको पल भर भी चैन न था । वह मूल बौद्ध-ग्रंथों का अध्ययन, उनकी मूल भाषा में करना चाहता था, और चाहता था भारतभूमि का तथा भारतवासियों का जी भर दर्शन करना ।

जिस समय उसकी अवस्था २६ वर्ष की थी, वह कन्सू के आचार्य सिंगचू के साथ उनके शहर में और तदनन्तर कुछ दिनों में वहाँ से लानचौ होता हुआ लियांगचौ पहुँचा । यह वह स्थान था, जहाँ पर व्यापारी-वर्ग वहाँ के गवर्नर की आज्ञा प्राप्त कर दूसरे देशों की यात्रा करते थे । ह्वेन-त्सांग ने व्यापारियों से अपनी ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा प्रकट की और उन व्यापारियों ने उसकी यथाशक्य सहायता के लिए भी वचन दिया; किन्तु गवर्नर ने उसकी देशाटन की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया । अंत में जी-ज्ञान की याजी लगाकर ह्वेन-त्सांग ने छिपे-छिपे दुर्गम स्थानों को भूखे-प्यासे पार कर, रेगिस्तान के भीषण कष्टों को सहन कर अपनी भारत भूमि के दर्शनों की चिर तृप्ता को पूरी किया ।

उन्होंने जिन-जिन स्थानों, पर्वतों, राज्यों, अरण्यों, राजधानियों

ह्वेन-त्सांग मोक्षदेव

२३६

और नदियों को पार कर भारत में प्रवेश किया, उनका आँखों देखा यहाँ ही मनोरंजक, तथ्यपूर्ण वर्णन किया है। उनका यात्रा-विवरण ओकीनी राज्य से आरंभ होता है। इस राज्य की उपज के सम्बन्ध में उनका कथन है कि ज्वार, गेहूँ, मुनक्का, अंगूर, नाशपाती, घेर तथा दूसरे फलों की उत्पत्ति के लिए वह भूमि यहाँ ही उपयुक्त है। वहाँ के मनुष्य बड़े सच्चे और ईमानदार हैं। वहाँ की लिपि और हिन्दुस्तान की लिपि में थोड़ा ही अन्तर है। वहाँ की पोशाक रुई और ऊन के कपड़ों की है। इस देश का कोई इतिहास नहीं है। इस देश में लग-भग दस 'संवाराम' बने हुए हैं, जिनमें हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी दो हजार बौद्ध-संन्यासी निवास करते हैं। वहाँ के सूत्र और विनय भारतवर्ष के ही समान हैं, और वही पुस्तकें वहाँ भी उन्हें देखने को मिलीं जो भारत में प्रचलित थीं।

तदनन्तर ह्वेन-त्सांग किठची राज्य से पोहलुहकिया, निउची-किन, चेशी, फीहान आदि स्थानों से होते हुए आक्सस् नदी के दक्षिण में स्थित पोहो प्रदेश में पहुँचे। इस प्रदेश के सम्बन्ध में उनका कहना है कि उसकी दक्षिण-पश्चिम दिशा में नव संवाराम नामक एक स्थान है, जिसको वहाँ के किसी राजा ने निर्मित किया था। इस प्रदेश में बड़े-बड़े बौद्धाचार्य हैं, जो कि हिमालय की उत्तर दिशा में रहते हैं और जो बड़े-बड़े शास्त्रों के भी रचयिता हैं। इस संवाराम के उत्तर में २०० फीट ऊँचा एक स्तूप है, जिसके भीतर पुनीत बौद्धावशेष बन्द हैं। इस संवाराम से ह्वेन-त्सांग ने कुषाण साम्राज्य के संस्थापक कनिष्क का सम्बन्ध बताया है।

पोहो-प्रदेश के पश्चिम-दक्षिण में पीलुसार नामक पर्वत के एक ठोस टीले पर अशोक महान् द्वारा निर्मित एक १०० फीट ऊँचे

स्तूप का छेन-त्सांग ने निर्देश किया है, और बताया है कि उसमें तथागत भगवान् बुद्ध का लगभग एक सेर घरोरावशेष रखा हुआ था। इसी स्थान के उत्तर में तथागत से सम्बन्धित एक स्तूप संघाराम है। यहाँ से पूर्व दिशा के पहाड़ों और घाटियों को लाँच कर काले पहाड़ के किनारे-किनारे वह उत्तरी भारत में पहुँचा और सीमाप्रान्त होते हुए लैनपो देश के रास्ते भारत में प्रविष्ट हुआ।

छेन-त्सांग के कथनानुसार भारत का प्राचीन नाम 'शिन्टु' और 'हीनताव' था, किन्तु अब उसका शुद्ध उच्चारण 'इन्तु' हो गया था। इस नाम का उच्चारण, छेन-त्सांग के अनुसार, बड़ा कर्णप्रिय और मधुर था। चीनी भाषा में इस शब्द का अर्थ चन्द्रमा होता है। चन्द्रमा प्रकाश या दीप्ति का उपमान है। ठीक ऐसा ही प्रभाव भारत के दीप्तिमान एवं प्रकाशमान महारमाओं तथा विद्वानों का है, जो चन्द्रमा के प्रकाश की भाँति संसार के प्राणियों का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं और इस देश के अस्तित्व को जीवित रखे हुए हैं। इसी कारण इस देश का नाम 'इन्तु' पड़ा। इन्तु, अर्थात् संस्कृत का इन्दु।

भारतीय ज्ञान के सम्बन्ध में छेन-त्सांग का कथन है कि भारतीयों की वर्णमाला का निर्माण स्वयं ब्रह्मा ने किया। इन वर्णों की संख्या ४० है। ये वर्ण इस वैज्ञानिक प्रकार से आविष्कृत हैं कि इनसे इच्छित शब्द अनायास ही बनाये जा सकते हैं। यहाँ की भाषा का उच्चारण देवताओं की भाषा की तरह मधुर और कर्णप्रिय है; बहुत शुद्ध एवं स्पष्ट भी।

भारत में बालकों के ज्ञान का आरम्भ द्वादश अध्याय वाली, जिसको उन्होंने सिद्धवस्तु नाम दिया है, पुस्तक से होता है। सात वर्ष या इससे अधिक उम्र हो जाने पर बच्चे को पंचविद्याओं की शिक्षा

दी जाती है। उनमें पहिली विद्या शब्दविद्या (व्याकरण) है, दूसरी विद्या शिल्प-स्थानविद्या (कारीगरी, यंत्र, ज्योतिष), तीसरी विद्या वैद्यक, चौथी विद्या हेतुविद्या (आत्मज्ञान) और पांचवीं विद्या अध्यात्मविद्या है। ये पंचविद्यायें ही बौद्ध-साहित्य का पंचयान है।

ब्राह्मण नियमित रूप से चारों वेदों की शिक्षा पाते थे। शास्त्रार्थ की रीति प्रचलित थी, जिससे विद्यार्थियों को कठिन से कठिन विषय सुगमतापूर्वक हृदयंगम हो जाते थे। तीस वर्ष में शिक्षा को समाप्त कर दिया जाता था।

कथीनटोलो अर्थात् गंधार की महिमा का इस यात्री ने बड़ा वखान किया है। उसने बताया कि इस सीमाप्रांत में प्राचीन काल से ही अनेक शास्त्रनिर्माता हुए, जिनमें नारायणदेव, असंग बोधिसत्व, वसुबंधु बोधिसत्व, धर्मत्रात, मनर्हित, पार्व महात्मा आदि उल्लेखनीय हैं। वसुबंधु को उसने पुरुषपुर (पेशावर) का निवासी बताया है।

कनिष्क के सम्वन्ध में उसका कथन है कि वह राजा निर्वाण अर्थात् बुद्धनिर्वाण के चार सौ वर्ष पश्चात् सिंहासनारूढ हुआ और समग्र जंबूद्वीप का स्वामी बना। उसने कई स्तूप बनवाये। इसी का बनवाया हुआ पश्चिम में एक संचाराम है, जिसमें कितने ही शास्त्रकारों ने निवास करके परम पद को प्राप्त किया। इसके तीसरे बुर्ज में एक गुफा महात्मा पार्श्विक की है। इसके पूर्व के एक प्राचीन भवन में वसुबंधु बोधिसत्व ने 'अभिधर्म कोकशास्त्र' की रचना की थी। वसुबन्धु की स्मृति में तत्कालीन समाज के द्वारा निर्मित एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक शिलालेख का ह्येन-रसांग ने संकेत किया।

यहीं पर एक पोलोटुलो नगर है। ह्येन-रसांग के अनुसार यह वही नगर है, जहाँ पर व्याकरणशास्त्र के रचयिता महर्षि पाणिनि का जन्म

हुआ। पाणिनि ऋषि जन्म से ही वास्तु-ज्ञान से परिचित थे। उन्होंने एक देवता की प्रेरणा से सम्पूर्ण शब्द-समूह को संग्रह करके एक पुस्तक बनाई, जिसमें एक सहस्र श्लोक थे और प्रत्येक श्लोक ३२ अक्षरों का था।

भारत के प्रायः उन सभी स्थानों का इस यात्री ने भ्रमण किया, जो किसी-न-किसी रूप में प्रसिद्ध थे। यहां की प्राचीन शिक्षा-संस्थाओं को देखने और व्यावहारिक रूप से उनकी तथ्यपूर्ण जानकारी हासिल करने में उसने बड़ी रुचि प्रकट की है। ऐसे विद्याकेन्द्रों और धर्मस्थानों में तक्षशिला, कश्मीर, चिनापटी (पंजाब), मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, कोशाम्बी, आधवस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, वैशाली, मगध, कोशल, सुतन आदि स्थान प्रमुख हैं। इन स्थानों के धार्मिक महत्व और भारतीय ज्ञान को प्राप्त करने की व्यवस्था का आंखों देखा शाल्व ह्येन-त्सांग ने बड़े ही आकर्षक ढंग से वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त भारत के विभिन्न भागों में स्थापित बौद्ध विहारों का परिचय भी उन्होंने दिया है।

कनिष्क के द्वारा काश्मीर के कुण्डलवन महाविहार में आयोजित चौथी बौद्ध-संगीति के सम्बन्ध में इस यात्री का कथन है कि 'इसी समय पहिले-पहिल दस हजार श्लोकों में 'सूत्रपिटक', दस हजार श्लोकों में 'विनयपिटक' और दस हजार श्लोकों में 'अभिधर्मपिटक' की रचना हुई। इस प्रकार छह लाख साठ हजार शब्दों में तीस हजार श्लोक तीन पिटकों के माध्यमस्वरूप निर्माण किए गए। ऐसा उत्तम कार्य कभी भी इसके पहिले नहीं हुआ था, जो बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे प्रश्न को उत्तमता के साथ प्रकट कर सके। संसार भर में इस कार्य की प्रशंसा हुई और विद्यार्थियों को इनके पढ़ने और समझने में सुगमता हो गई।'।

संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ हेनरी टॉमस कोलब्रुक

संस्कृत-साहित्य के महत्त्व और उसके गुण-गौरव को प्रकाश में लाने का पूरा श्रेय विदेशी पण्डितों को है। संस्कृत की परम्परा को जीवित रखने के लिये भारतीय पण्डितों की अटूट श्रद्धा-भक्ति का तो पता लगता है; किन्तु संसार की सम्य एवं समुन्नत भाषाओं की कोटि में संस्कृत को प्रतिष्ठित करने का कार्य विदेशी विद्वानों द्वारा ही सम्पन्न हुआ है। भारत में संस्कृत भाषा की उत्तरोत्तर उन्नति की अपेक्षा उसकी अवनति होने का एकमात्र प्रधान कारण यहाँ की परम्परागत अध्ययन-अध्यापन-प्रणाली है। हमारे विद्यालयों में आज भी जिस परिपाटी से संस्कृत का अध्यापन हो रहा है उससे इस क्षेत्र में विशेष भलाई होने

संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ हेनरी टॉमस कोलब्रुक

की कोई आशा नहीं है। संस्कृत के ज्ञातकों में एक महान् अवगुण यह रहा है कि उन्होंने भाषा-विकास-सम्बन्धी गवेषणात्मक प्रवृत्तियों को कम प्रश्रय दिया और परम्परागत अन्धविश्वासों तथा सिध्दा मोहों को अधिक मान्यता दी है।

विदेशी पण्डितों ने संस्कृत का अध्ययन उसके विकास-क्रम को दृष्टि में रख कर किया है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में वे सफल हो सके हैं। यद्यपि आज विदेशी पण्डितों की बहुत-सी मान्यतायें असत्य साधित हो चुकी हैं; फिर भी उनकी मौलिक सूक्ष्म और विवेचनात्मक ज्ञान सर्वथा सराहनीय है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य की मौलिकताओं का उद्घाटन करने में इन पण्डितों की सेवायें हमारे इतिहास की पुनीत वस्तु बन गई हैं; किन्तु यह भी अकाट्य सत्य है कि इसी एकमात्र कार्य के आधार पर उन्होंने विश्वव्यापी ख्याति पाई।

हेनरी टॉमस कोलब्रुक एक ऐसे ही अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति के पण्डित हुए हैं, जिन्होंने यावज्जीवन संस्कृत-साहित्य की सेवा की। आपका जन्म १७ जून १७६५ ई० को लन्दन में हुआ। विपुल सम्पत्तिशाली पिता और विदुषी माता के सम्पर्क में बालक कोलब्रुक का बाल्यकाल सुख-सुविधाओं के बीच सम्पन्न हुआ। इनके पिता सर एडवर्ड कोलब्रुक एक ख्याति-प्राप्त व्यापारी थे। बाल्यावस्था से ही कोलब्रुक में विद्यानुराग की भावना का उदय हो चुका था। किसी स्कूल, कालेज और विश्व-विद्यालय का आश्रय न लेकर स्वयं ही ये विद्योपार्जन की दिशा में प्रवृत्त हुये। कदाचित् इसी एकान्त लगन के कारण पंद्रह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अंग्रेजी, फ्रांसीसी, ग्रीक और लेटिन आदि भाषाओं को सीख लिया था। ग्रीक और लेटिन जैसी प्राचीन भाषाओं के सम्पर्क में आने के कारण संस्कृत और जर्मन भाषा के प्रति भी उनकी

स्वाभाविक रुचि हुई। इसी बीच संयोगवश सन् १७८३ में कोलब्रुक को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से भारत भेजा गया, जहाँ कि उनकी संस्कृत-ज्ञान-सम्बन्धी जिज्ञासा पूर्ण हुई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से कोलब्रुक महोदय सन् १७८३ से लेकर सन् १८१५ तक लगभग ३२ वर्ष भारत में रहे। राजनीतिक वातावरण में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने अपने अध्ययन-क्रम को न छोड़ा। न्यायपरायण वे इतने थे कि एक कर्मचारी होते हुये भी उन्होंने कम्पनीनीति की कटु भर्त्सना की। इतने पर भी कम्पनी ने उनको अनेक उच्च पदों पर सम्मानित किया। १८१५ ई० में वे लन्दन वापिस चले गये।

भारतीय ज्योतिष और स्मृतिग्रन्थों का कोलब्रुक ने विशेष अध्ययन किया। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अपने पिता के लिये लिखे गये उनके पत्रों से विदित होता है कि भारतीय विद्या के प्रति उनको कितना बड़ा अनुराग था। विदेशों में भारतीय ज्ञान को प्रकाश में लाने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं पण्डित को है। अपने विद्वत्तापूर्ण निबंधों और गम्भीर-ज्ञानसम्बन्धी ग्रन्थों के द्वारा विदेशी साहित्य और संस्कृति के सम्मुख भारत की अति प्राचीन देन को कोलब्रुक ने चमका दिया।

विद्वद्भ्यः कोलब्रुक जैसे प्राच्य-विद्या-विशारद और अनुशीलनकर्ता पण्डित कम हुए हैं। अपनी शोध-सम्पन्न प्रतिभा से उन्होंने भारतीय विद्या की जिन सूक्ष्मताओं को खोज निकाला, विश्व के तत्त्वज्ञानियों और पण्डितों के लिये उसका बड़ा महत्व है। इस खोजपूर्ण अभिरुचि के कारण कोलब्रुक को १८०७ ई० में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल का सभापति नियुक्त किया गया था। अपने इस सभापति-काल संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ हेनरी टॉमस कोलब्रुक

में उन्होंने भारत में अनेक महत्वपूर्ण हस्तलिखित पोथियों का उद्धार-कार्य किया। इंग्लैंड वापिस होने पर उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना कर अपने विद्या-प्रेम को अमर बना दिया। इस सोसायटी को उन्होंने १८२१ ई० में जन्म दिया। इस सोसायटी से योर्रप भर में संस्कृताध्ययन की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ।

महापण्डित मैक्समूलर ने कोलमुक महोदय के कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारतीय साहित्य के निर्माण-क्षेत्र में इन विद्वान् की सेवाएँ अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। सन् १७७६ ई० में सुप्रसिद्ध कानूनज्ञ वारेन हेस्टिंग्स के सख्तीसाहन से विलियम जोन्स ने जिस 'हिन्दू और मुसलमानों के कानूनसार' नामक ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद आरम्भ किया था, उनकी मृत्यु के उपरान्त कोलमुक ने ही उस अनुवाद कार्य को पूर्ण किया। पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन करने के पश्चात् कोलमुक ने जो 'संस्कृत व्याकरण' नामक अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया था, मैक्समूलर ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की, यद्यपि उनकी मृत्यु के कारण यह महत्वपूर्ण रचना अधूरी ही छूट गयी।

भारतीय स्मृतिशास्त्र पर गम्भीर प्रकाश डालने वाला उनका ग्रन्थ है—'Supplement of the Digest of Law'। यह ग्रन्थ विदेशी धर्मशास्त्रज्ञों और न्यायाधीशों के लिए पथ-प्रदर्शक रहा है। इसी प्रकार बंगाल एशियाटिक सोसायटी के सभापति-काल में सन् १८७१ ई० में उन्होंने 'भारतीय ज्योतिष' पर एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा तथा सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विदों—ब्रह्मगुप्त तथा भास्कराचार्य—के सिद्धान्तों पर गम्भीर प्रकाश डाला। इस ग्रन्थ से उनके भारतीय ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय मिलता है।

इस ग्रन्थ-प्रणयन के अतिरिक्त भारतीय तत्त्वज्ञान, साहित्य,

धर्मशास्त्र, ज्योतिष और व्याकरण आदि विषयों पर उन्होंने अनेक शोधपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। १७९७ ई० से १८०१ तक लिखे हुए उनके निबन्धों में हिन्दूशास्त्र और हिन्दुओं के रीति-रिवाज, भारतीय वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति, संस्कृत और प्राकृत छन्दशास्त्र, भारतीय पौधे और संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का महत्व-नामक निबन्ध बड़े उच्च कोटि के हैं। इसी प्रकार १८०४ से लेकर १८२८ ई० तक सौंख्यशास्त्र, न्यायशास्त्र, वैशेषिकशास्त्र, वेदान्त-दर्शन, जैनधर्म और बौद्धधर्म पर कोलब्रुक ने अपने निबन्धों में आलोचनात्मक प्रकाश डाला है। भारत से जिन हस्तलिखित पोथियों को वे साथ ले गए थे उन पर लिखी हुई विवरणिकाएँ कोलब्रुक की असामान्य विद्वत्ता को प्रकट करती हैं। ये पोथियाँ सम्प्रति इण्डिया ऑफिस, लंदन में सुरक्षित हैं।

इस प्रतिभा-सम्पन्न पण्डित ने स्वयं तो आजन्म भारतीय साहित्य की सेवा की ही है, साथ ही दूसरे विद्वानों को भी भारतीय ज्ञान की खोज में लगाया।

७२ वर्ष की आयु में, १० मार्च सन् १८३७ ई० में लंदन में ये महाप्राण मनस्वी स्वर्णवासी हुए।



महापण्डित मैक्समूलर

मैक्समूलर की गणना संसार के उन असामान्य प्रतिभाशाली महापुरुषों की कोटि में की जाती है जिनके ज्ञान से आज भी संसार आलोकित हो रहा है। मैक्समूलर का जन्म ६ दिसम्बर १८२३ ई० को जर्मनी के देसाऊ नामक नगर में हुआ था। पिता एक छोटी-सी पाठशाला के अध्यापक थे। मैक्समूलर जब ४ वर्ष के ही थे, तभी उनके पिता की ३३ वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गयी थी। धैर्य-सम्पन्ना माता की सुशिक्षा से बालक मैक्समूलर का व्यक्तित्व उत्तरोत्तर विकसित होता गया। ६ वर्ष की अवस्था में देसाऊ की एक छोटी-सी पाठशाला में मैक्समूलर का अध्ययन प्रारम्भ हुआ, जहाँ लगभग ६ वर्ष तक मैक्समूलर ने विद्याध्ययन किया।

सन् १८३६ में मैक्समूलर ने लैटिन भाषा की शिक्षा के लिए लिपज़िग विश्वविद्यालय में प्रवेश किया और लगातार पाँच वर्ष तक वही तन्मयता से लैटिन का अध्ययन किया। एक परिश्रमी छात्र होने के कारण लिपज़िग विश्वविद्यालय ने उन्हें १८४० ई० में ६ पौंड की छात्रवृत्ति देकर प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त वहाँ के उच्चाधिकारियों द्वारा समय-समय पर मैक्समूलर को अनेक प्रशंसापत्र भी प्रदान किये गये।

पाठशाला की शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त इस छोटी-सी ही अवस्था में उन्हें जीविकोपार्जन की कठिन समस्या ने आ घेरा। परन्तु मैक्समूलर में विद्योपार्जन की उत्कट अभिलाषा थी और उन्होंने किसी न किसी तरह विश्वविद्यालय में प्रवेश पा ही लिया। यहाँ मैक्समूलर ने बड़े धैर्य से और वृत्तचित्त होकर संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। संस्कृत भाषा के प्रति उनकी अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और फलस्वरूप २० वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने सितम्बर १८४३ ई० में विश्वविद्यालय की 'फिल डाक' की उपाधि प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय थी कि परीक्षामवन के विशेष नियमों के पालनार्थ उन्होंने अपने लिए किराये पर वस्त्रों की व्यवस्था की थी। सन् १८४४ में मैक्समूलर ने यहाँ की शिक्षा को समाप्त किया।

इस विपन्नावस्था में भी देसाऊ के प्रिंस विरहेल्ग के आग्रह पर मैक्समूलर ने आस्ट्रियन कूटनीतिक सेवा को अस्वीकार कर दिया। अपने उत्कट विद्या-व्यसन के कारण विश्वविद्यालय छोड़ने के तत्काल बाद ही मैक्समूलर जर्मनी के राजा द्वारा इंग्लैण्ड से खरीदे गये संस्कृत साहित्य के बृहद् ग्रन्थालय को देखने बर्लिन गये। सारे पूर्वी देशों में उसकी उस समय बड़ी चर्चा थी। वहाँ उन्होंने वेदान्त और साहित्य

का अनुशीलन किया। पहिले के इस विद्यार्थ्यव्यवस्था में शर्माभार के कारण बहुत धीरे धीरे निराहार रह रहता था।

पहिले का कार्य समस्त करने पर वे पेरिस गये। वहाँ एक भारतीय के सहयोग से उन्होंने संगीत का ज्ञान प्राप्त किया और ताकाल प्रोसीसी मन्त्रालय में एक संगीत व्याख्यान सँवार दिया। इन दिनों में भी उन्हें अपनी शिक्षा के लिये राज को कुछ लोगों के लिए छोड़ करने पड़ते थे। मैसमसुख में वेदाङ्गमन का महाप्रवृत्त कार्य पहले-पहल पेरिस में ही प्रारम्भ किया था। वहाँ उन्होंने पढ़ी सम्मेलन में आयेद पर लिखी सभी मापनाकार्य की टीका का सम्पादन किया।

मैसमसुख में अपने जीवन के लगभग ५६ वर्षें संस्कृत साहित्य के और विशेषतः आयेद के सम्पादन करने में बिताये। संस्कृत भाषा के प्रति नमके इस प्रवृत्ति में वे उगले रुचि बना दिया। इस सम्बन्ध में पहला कार्य जो उन्होंने कर दिया कि विदेशों में आयेद की जो टीकाएँ प्रकाशित हुई थीं, उनको पूर्ण कर उनका अनुशीलन किया। आयेद का जिम्मा सभी दिव्य मापनाकार्यकेन टीका का उन्होंने सम्पादन किया नमको पढ़ने पर भागों में विभाजित कर लगभग १,००० पृष्ठों का एक सुन्दर ग्रन्थ तैयार किया।

दिल्ली भी प्रकाश के लिए हमने पढ़े ग्रन्थ को प्रकाशित करना सम्पन्न कर पढ़े भागों लेगिन का कार्य था। इसलिये सदाता जिम्मे प्रकाश में हमको सहायता प्रदान न किया। अन्य में लन्दन कलिकाहर्षी उगले के बाद १४ अक्टूबर, १८९० को हुआ इतिहास करमी में इसके प्रकाशन का भार प्रदीप्त किया। इसी संघ संस्कृत-साहित्य के विद्वान् को विद्वान् कर सम्पादन में मेला हुआ एक पत्र मैसमसुख को दिया, जिसमें उन्होंने मैसमसुख के कार्य की पढ़ी प्रशंसा की और सदाभी मेरा ही साधन की। मेरा संस्मरण में भी केवल का उक्त ग्रन्थ को

प्रकाशित करने के सम्बन्धमें एक आग्रहपूर्ण पत्र मिला, किन्तु मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ को विदेश में प्रकाशित नहीं करवाया ।

ऋग्वेद पर लिखी नयी सायणाचार्य की टीका के अध्ययन और उसको सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए मैक्समूलर ने साढ़े चार वर्ष लगातार घोर परिश्रम किया । प्रो० विक्सन, प्रो० यर्नफ और विद्वान् चैरन वान-य-सेन ने छपने से पूर्व ही मैक्समूलर द्वारा सम्पादित इस टीका की बहुत प्रशंसा की और कम्पनी को आश्वासन दिलाया कि ऋग्वेद का पहला संस्करण बहुत जल्द समाप्त हो जायगा ।

इंग्लैण्ड में रहते हुए अभी मैक्समूलर को लगभग एक ही वर्ष हुआ था, फिर भी अंग्रेजी का उन्होंने पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर लिया था । सन् १८४७ में आक्सफोर्ड की ब्रिटिश एसोसियेशन में उन्होंने एक निबन्ध 'भारत की सबसे प्राचीन भाषा' को सभा में पढ़कर जनता को आश्चर्यचकित कर दिया था ।

अपनी पुस्तक की छपाई-सफाई आदि की समुचित व्यवस्था के लिए मैक्समूलर ने लन्दन में रह कर आक्सफोर्ड में ही रहने का निश्चय किया और परिणामस्वरूप मई १८५३ में कुछ दिनों के लिए आक्सफोर्ड आकर प्रेस के समीप ही दो छोटे-छोटे कमरों में रहने लगे । यहाँ के स्वस्थ एवं अध्ययनोचित प्राकृतिक वातावरण ने मैक्समूलर को इतना मोह लिया था कि अपनी मृत्युपर्यन्त लगभग ५० वर्ष तक वे यहीं रहे । यहाँ रहने का एक दूसरा प्रबल कारण यह भी था कि विश्वविख्यात शिक्षा-संस्थान होने के कारण वहाँ बड़े-बड़े विद्वानों का सहयोग प्राप्त होता रहता था ।

मैक्समूलर के वेदों का अध्ययन इतना परिपुष्ट हो चुका था कि प्रथम खण्ड की भूमिका में उन्होंने लगभग २०२ पृष्ठ लिख डाले । यह लेखन-कार्य इतना बढ़ गया कि भोजन के समय को छोड़कर अविश्रान्त महापरिश्रम मैक्समूलर

लिखने के कारण उनका स्वास्थ्य गिर गया और डाक्टरों तथा मित्रों के आग्रह करने पर कुछ समय के लिए जलवायु-परिवर्तन के लिए उन्हें कम्प्लैण्ड जाना पड़ा। किन्तु स्वस्थ होते ही वेदों का पुराना प्रेम उन्हें आक्सफोर्ड वापस खींच लाया।

सन् १८५० में एकाएक पुनः उनकी शारीरिक एवं मानसिक अवस्था बहुत खराब हो गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि अर्थाभाव के कठिन दिनों में भी पैसा बचाकर बड़े उत्साह के साथ उन्होंने भारत से ऋग्वेद की जिस टीका को मँगाया था, रास्ते में जहाज के नष्ट होने के कारण वह उन्हें न मिल सकी। इससे उनके दिल को बड़ा आघात पहुँचा। उनके मानसिक विनोद के लिए अनेक विद्वान् मित्रों के प्रयत्न-स्वरूप सन्-१८५१ में उन्हें विश्वविद्यालय में 'आधुनिक साहित्य तथा भाषा' पर व्याख्यान देने का भार सौंपा गया। अनिच्छा होने पर भी मित्रों के इस आग्रह को वे टाल न सके। यहाँ से उन्होंने इधर-उधर पत्रों में भी लिखना प्रारम्भ किया, जिससे उनकी आय में यही वृद्धि हुई। पुनः उन्होंने अपने अधूरे कार्य को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की।

सन् १८५४ में मैक्समूलर ने ऋग्वेद का द्वितीय खण्ड भी पूर्ण किया और उसी परिश्रम से १८५६ ई० में तीसरा खण्ड भी। इन तीन भागों को प्रकाशित करने के उपरान्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ग्रन्थ को छापने में असमर्थता प्रकट की, जिसके कारण मैक्समूलर को बहुत आघात पहुँचा। 'उन्हें अपने इस कार्य के पूर्ण होने में बड़ी कठिनाई दिखाई दी।' प्रो० विहसन ने इस निराशापूर्ण समय में मैक्समूलर की बहुत सहायता की। उन्होंने बोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टर्स से इस कार्य के लिए कोष एकत्र करने का आग्रह किया। फलतः कोष के एकत्र हो जाने पर चतुर्थ भाग भी तैयार हुआ, जिसको कि महारानी विक्टोरिया को समर्पित किया गया। महारानी ने जब मैक्समूलर की

विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी तो उन्हें अपने पास सादर आमन्त्रित किया और समय-समय पर उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानो को सुना ।

इसके अतिरिक्त मैक्समूलर ने इसी बीच एक दूसरा महत्वपूर्ण कार्य भी किया । उन्होंने सन् १८५९ में 'संस्कृत साहित्य का प्राचीन इतिहास' लिखकर वैदिक साहित्य के प्रति विद्वानों की रुचि को जागृत किया । इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही मैक्समूलर की विद्वत्ता की धाक चारों ओर जम गयी । प्रो० विल्सन ने इस ग्रन्थ की समालोचना करते हुए स्पष्ट लिखा कि मैक्समूलर का यह कार्य पूर्वी देशों के लिये एक महान् आदर्श की प्रतिष्ठा करता है और उनकी कीर्ति एवं कर्मनिष्ठा को प्रकट करता है ।

दस वर्ष बाद ऋग्वेद का पाँचवाँ खण्ड भी प्रकाशित हो गया और दो वर्ष बाद अन्तिम भाग भी तैयार हो गया । अपने इस गुह्यतर कार्य को समाप्त करके अन्तिम खण्ड की भूमिका में मैक्समूलर ने लिखा : 'ऋग्वेद पर किये गये सायणाचार्य के भाष्य की अन्तिम पंक्ति का अनुवाद करते हुए मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि अथक परिश्रम से शिथिल मेरी यह लेखनी अब निश्चिन्त होकर विश्राम कर सकेगी । ६० वर्ष बाद की अपनी इस पुरानी सहचरी से पृथक् होते हुए मुझे एक ओर तो दुःख हो रहा है और दूसरी ओर मेरा हृदय बहुत आनन्दित है । मैं उस परम पिता को धन्यवाद देता हूँ कि जिसकी कृपा से मेरे जीवन का यह महान् उद्देश्य पूर्ण हुआ और वही विपत्ति के दिनों में भी जिसकी दया मुझे प्राप्त होती रही ।'

भारत का दर्शन करने की मैक्समूलर को बड़ी उत्कण्ठा थी । बार-बार अपने मित्रों के सामने वे इस उत्कण्ठा को प्रकट करते थे । किन्तु कार्य-व्यस्त रहने के कारण उनकी यह इच्छा बार-बार टलती गयी ।

महापण्डित मैक्समूलर

२५५

और अन्त तक पूरी न हो सकी। इसका उन्हें अधिक दुःख रहा। अपने एक मित्र को लिखा हुआ उनका यह पत्र भारत-भूमि के दर्शन की उत्सुकता को प्रकट करता है : 'भारत-भूमि का मोह मुझे अपनी ओर आकर्षित कर रहा है और मेरी अन्तरात्मा वहाँ जाने के लिए तरस रही है। मेरे जीवन का यह पवित्र ध्येय कभी सफल भी हो सकेगा, नित्य मैं इस विचार में घुला जा रहा हूँ। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि महाराजा दलीपसिंह के साथ मैं भारत अवश्य जाऊँगा। मुझे आशा है कि मेरी इस विनय को वे अस्वीकार न करेंगे। वहाँ मैं लगभग दस वर्ष रह कर भारतीय भाषाओं को समझने में अपना शेष जीवन सार्थक कर सकूँगा। वहाँ के पण्डितों और महात्माओं की पवित्र वाणियाँ सुनने के लिए मेरा मन वहाँ जाने के लिए मुझे विवश कर रहा है।'।

और साथ ही भारतवासियों की भी यह परम उत्कण्ठा पूर्ण न हो सकी कि भारत-भूमि से हजारों मील की दूरी पर बैठकर भारतीय साहित्य की इतनी सेवा करनेवाले ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष के दर्शनों से वे अनुगृहीत हो सकें।

जीवन के अपने अन्तिम दिनों में मैक्समूलर की एक विलक्षण मनःस्थिति हो गयी थी। वे सांसारिक कार्य-कलापों के प्रति एकदम निर्मोही हो गये थे। आत्मा की अनन्त शान्ति के लिए उनकी उत्कण्ठा प्रबलतर होती जा रही थी। इसी बीच सन् १८९९ में उनकी वर्षगांठ जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों में बड़े उत्साह के साथ मनायी गयी। उनका पुस्तकालय, जिसको उन्होंने प्राणों से अधिक सहेज कर रखा था, सुसज्जित किया गया। 'ऋग्वेद भाष्य', 'दि हिस्ट्री ऑफ एन्सैंट संस्कृत लिटरेचर' 'वेदान्त फिलॉसफी' और 'दि सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' आदि पुस्तकों के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखकर सजाये गये।

जुलाई १९०० में मैक्समूलर रोगग्रस्त हुए और रविवार १८ अक्टूबर १९०० के दिन उनकी आत्मा ने चिरशान्ति प्राप्त की।

यद्यपि महापण्डित मैक्समूलर को दिवङ्गत हुए आज आधी शताब्दी से अधिक समय हो रहा है; किन्तु भारतीय ज्ञान के संबंध में विश्व-साहित्य के लिए वे जो देन छोड़ गये वह अमर है। भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में, विशेषरूप से वैदिक वाङ्मय का युग-विभाजन करने की दृष्टि से, मैक्समूलर ने जो अभिमत प्रकट किया है, उस पर कुछ लोगों ने बड़ी आपत्ति प्रकट की, तथा मैक्समूलर को भारतीय साहित्य का द्रोही एवं तत्संबंधी ज्ञान से सर्वथा शून्य बताया; किन्तु उन लोगों का यह दोषारोपण मैक्समूलर के महान् कार्यों पर किसी भी प्रकार की आँच पहुँचाने के बजाय उन्हीं लोगों की छोटाई तथा संकीर्ण विचारधारा को प्रकट करता है।

यह सत्य है कि मैक्समूलर की कुछ स्थापनाएँ बड़ी भ्रामक हैं; किन्तु उन स्थापनाओं के पीछे मैक्समूलर की यह भावना रही हो कि वैसा करने से भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध किया जा सकेगा या भारतवासियों को अपमानित किया जा सकेगा, ऐसा समझना मैक्समूलर के कार्यों के प्रति अपनी नितांत अज्ञता प्रकट करना है। इतिहास की मान्यताएँ, समय के साथ, बदलती ही रहती हैं। फिर मैक्समूलर को दोषी क्यों समझा जाय; जब कि मैक्समूलर उन प्रथम विद्वानों में से थे, जिन्होंने सबसे पहिले तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और नृत्यशास्त्र के आधार पर भारतीय साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन का सूत्रपात किया था।

और फिर जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन भारतीय साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में ही बिता दिया था, उसके प्रति इतना नीचे उतर कर सोचना बुद्धिमानी नहीं है।

महापण्डित मैक्समूलर

मैक्समूलर की कृतियों की नामावली इस प्रकार है :

१. ऋग्वेद का संपादन
२. ए हिस्ट्री आफ दि पंश्येंट संस्कृत लिटरेचर
३. लेक्चर्स ऑफ दि साइंस ऑफ लैंग्वेज (दो भाग)
४. ऑन स्ट्रेटीफिकेशन ऑफ लैंग्वेज
५. वायोग्राफीज आफ वंडर्स ऐंड दि टीम आफ आर्याज
६. इंट्रोडक्शन टु दि साइंस ऑफ रेलिजन
७. लेक्चर्स ऑन ओरीजन ऐण्ड प्रोग्रेस आफ रेलिजन ऐज इलस्ट्रेटेड
वाई दि रेलिजनस आफ इंडिया
८. नेचुरल रेलिजन
९. फिजिकल रेलिजन
१०. ऐंथ्रोपोलोजिकल रेलिजन
११. गियोसाफी : आर साइकोलोजिकल रेलिजन
१२. कंट्रीव्यूशन टु दि साइंस आफ साइकोलोजी
१३. हितोपदेश (जर्मन संस्करण)
१४. मेघदूत (जर्मन संस्करण)
१५. धम्मपद (अनुवाद)
१६. उपनिषद् (अनुवाद)
१७. दि सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज (इस ग्रन्थनाला के ५३
खंडों में अंत के तीन खंडों को छोड़कर शेष ४८ खंडों का संपादन
मैक्समूलर ने किया था) ।



फ्रेडरिक स्कॉर्ट, दोलिंग, कांट और शिलर, वैदिक साहित्य के समस्त महापण्डित मैक्समूलर और 'संस्कृत-जर्मन विश्वकोश' के यदास्वी रचनाकार रॉथ प्रभृति असामान्य प्रतिभासंपन्न मनस्वियों की जन्मदात्री जर्मन-भूमि ही है।

इसी विद्या-प्रसविनी जर्मनभूमि में १९ जुलाई, १८३७ ई० को डा० जे० जी० वूलर का जन्म हुआ। इनके पिता हनोवर राज्य के अन्तर्गत एक चोरटेल गाँव के रहने वाले सामान्य पादरी थे। उसी गाँव में वूलर ने जन्म लिया। बालक वूलर का होनहार मयिष्य उनके आरम्भिक जीवन से ही व्यक्त होने लगा था। वे एक सुशील, कर्मठ और अध्ययनशील प्रकृति के थे। एक पादरी पिता की संतति होने के कारण वूलर के कोमल बाल-मस्तिष्क में धार्मिक विचार जन्मतः ही अंकुरित होने लग गये थे।

चोरटेल गाँव की एक छोटी-सी पाठशाला में वूलर की आरम्भिक शिक्षा हुई। तदनन्तर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये उन्हें गार्टिजन विश्वविद्यालय में प्रविष्ट किया गया। विश्वविद्यालय के कोलाहलपूर्ण वातावरण में उनके एकान्त विचारों में पहले-पहल तो कुछ व्यतिक्रम-सा हुआ; किन्तु शनैः-शनैः वे अपने अध्ययन में व्यस्त रहने के कारण बाह्यी व्यतिक्रमों पर विजय पाते गये। इस समय तक सम्पूर्ण योरप और एशियाभर में भारतीय साहित्य का प्रचार-प्रसार हो चुका था। कदाचित् वूलर भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके और विश्वविद्यालय के आरम्भिक जीवन में ही उन्हें भारतीय साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न होने लगा। वे नियमित रूप से संस्कृत भाषा की अनूदित पुस्तकों को पढ़ने लगे। वूलर की संस्कृत-ज्ञान-सम्यग्धी जिज्ञासा को धूल देने वाले विद्वानों में वेनफे का नाम उल्लेखनीय है। वेनफे, गार्टिजन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक थे।

विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त कर १८५८ ई० में वूलर ने डाक्टरेट प्राप्त की। अब उनके जीवन में केवल एक ही महत्वाकांक्षा थी कि किस प्रकार भारतीय ज्ञान से लाभान्वित हुआ जाये। आर्थिक और पारिवारिक कठिनाइयों के बावजूद भी वूलर ने अपनी लगन को न छोड़ा। संस्कृत-साहित्य की ज्ञान-पिपासा के उपशमनार्थ वूलर गृहत्यागी बन गये। सर्वप्रथम उन्होंने भारतीय हस्तलिखित पोथियों का खोज-कार्य आरम्भ किया। तदर्थ वे पेरिस, आक्सफर्ड और लन्दन स्थित इण्डिया आफिस के विशाल ग्रन्थालयों में रखी हुई भारतीय पोथियों को देखने के लिये वहाँ गये। संयोगवश उस समय मैक्समूलर भी लन्दन में थे। वूलर के लिये मैक्समूलर का समागम किसी भी बृहत् पुस्तकालय के लाभ से कम न था। वे तत्काल ही मैक्समूलर से मिले और अपने उद्देश्य को उनके सम्मुख रखा। इस कार्य में मैक्समूलर ने उनकी भरसक सहायता की।

लन्दन में रहते हुई वूलर का व्यक्तित्व प्रकाश में आया और उन्हें वहीं विंढसर के राजकीय ग्रन्थालय में सह-पुस्तकाध्यक्ष का स्थान मिल गया। लगभग तीन वर्ष तक वूलर ने वहाँ रहकर अपने विद्या-व्यसन को आगे बढ़ाया। अन्त में त्यागपत्र देकर वे गार्डिजन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सह-पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हुए।

वूलर का उद्देश्य नौकरी करना न था। पुस्तकालयों की नौकरी उन्होंने इसलिये स्वीकार की थी कि पुस्तकालयों से उन्हें स्वामाधिक धन था और वहाँ के वातावरण में उन्हें एक प्रकार की आत्मिक शान्ति-सी प्राप्त होती थी। उनका वास्तविक उद्देश्य तो भारतीय ज्ञान-प्राप्ति का था। वे अब भारत आने के लिये उत्सुक थे। भारतीय पण्डितों और साधु-सन्तों के सहवास में रहकर वे अपने संकल्पों को साधक करना चाहते थे। मैक्समूलर से उन्होंने अपनी इस उत्कट

अभिलाषा को पत्र-व्यवहार द्वारा प्रकट किया। उस समय हार्वर्ड महोदय यम्बई शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष थे। पूर्वपरिचित होने के कारण मैक्समूलर ने हार्वर्ड महोदय को वूलर के सम्बन्ध में एक सिफारसी-पत्र भेजा और फल-स्वरूप इसकी स्वीकृति भी प्राप्त हो गई। यम्बई आने पर वूलर ने पाया कि जिस स्थान के लिये उन्हें बुलाया गया था उस स्थान की उनके आने के पूर्व ही पूर्ति हो गई। इस असफलता का उन्हें हार्दिक शोच हुआ। मैक्समूलर को जब इस बात का पता लगा तो उन्होंने तत्काल अलेक्जेंडर महोदय को एक पत्र लिखा और परिणामस्वरूप वूलर को उन्होंने अपने कालेज में स्थान दे दिया। १८६३ ई० से लेकर १८८० तक वूलर ने यम्बई शिक्षा-विभाग में कार्य किया।

विश्वविद्यालय का जीवन समाप्त करने के उपरान्त वूलर ने लेखक-जीवन में प्रवेश किया। 'ओरिएण्टल ऐंड ऑक्सिडेंट' नामक पत्रिका में उनके भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी और वैदिक श्रवण-सम्बन्धी आरम्भिक लेख प्रकाशित हुये। भारतीय जीवन को अध्ययन करने की जो चिर उत्सुकता उनके अन्तःकरण में थी, यम्बई आने पर वह पूर्ण हुई। भारतीय पण्डितों से उनका सहवास हुआ। संस्कृत के पण्डितों का जैसा सम्मान होना चाहिये था, शासन की ओर से उनके लिये वैसी व्यवस्था न थी। वूलर को यह बात अरुचिकर प्रतीत हुई। उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण रिपोर्टों द्वारा सरकार का ध्यान इस उदासीनता के प्रति उन्मुख किया। उन्होंने 'यम्बई संस्कृत-सीरीज' से संस्कृत पण्डितों के हितार्थ एक ग्रन्थावली का प्रकाशन किया। पंचतन्त्र, दशकुमारचरित और विक्रमांकदेवचरित का सम्पादन कर उन्होंने उनको इसी सीरीज में प्रकाशित किया।

वाक्यावस्था के धार्मिक संस्कार वूलर में अभी भी बने हुये थे।

भारतीय स्मृतिग्रन्थों के अध्ययन में उनको बड़ा आनन्द आता था । १८६७ ई० में सर रेमांड घेस्ट के सहयोग से उन्होंने 'डाइजेस्ट आफ हिन्दू-ला' लिखा । इसी प्रकार १८७१ ई० में उन्होंने 'आपस्तम्बसूत्र' का सम्पादन कर उसका प्रकाशन करवाया ।

वूलर ने अपने जीवन में सब से महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य हस्तलिखित ग्रन्थों के सम्बन्ध में किया है । हस्तलिखित पोथियों का यह खोज-कार्य उनके जीवन-इतिहास का सर्वश्रेष्ठ कार्य है । १८६६ ई० में घम्बई शासन की ओर से पहले-पहल जब वे इस खोज-कार्य के लिये नियुक्त हुये, उससे भी पूर्व वे स्वतन्त्ररूप से लगभग २०० से अधिक पोथियाँ एकत्र कर चुके थे । इस सम्बन्ध में उन्होंने शिलालेखों, ताम्रपत्रों, प्रशस्तियों और लिपिविकास-सम्बन्धी विषयों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है ।

सन् १८६८ में संस्कृतपोथियों की खोज के लिये शासन की ओर से वंगाल, घम्बई और मद्रास में संस्थान खोले गये । डा० फीलहार्न, वूलर, पीटर्सन, भाण्डारकर और घर्नेल प्रभृति विद्वानों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये । वूलर घम्बई-शाखा के अध्यक्ष नियुक्त हुये । एतद्विषयक अपनी महत्वपूर्ण खोज-रिपोर्टों द्वारा वूलर ने देश के विद्वानों और साहित्यानुरागियों का ध्यान इस दिशा में आकर्षित किया । वूलर ने इस नाशोन्मुख मूल्यवान् सम्पत्ति का बड़े मनोयोग से उद्धार किया । लगभग २३०० पोथियों को डा० वूलर ने खोज निकाला । इनमें से कुछ पोथियों को एलिफिसटन कालेज के पुस्तकालय में रखा गया, कुछ को बर्लिन विश्वविद्यालय भेजा गया और शेष को इण्डिया आफिस, लन्दन में रखा गया । लगभग ५०० जैन ग्रन्थों के आधार पर वूलर ने १८८७ ई० में जैनधर्मसम्बन्धी एक ग्रन्थ जर्मन भाषा में लिखा, जिसकी बहुत ख्याति हुई ।

लगभग सत्रह-अठारह वर्ष तक निरन्तर कार्य-व्यस्त रहने के कारण वूलर अस्वस्थ रहने लगे। अनुकूल जल-वायु-सेवन के लिये उन्हें भारत से वायना को वापस बुलाया गया। कुछ स्वास्थ्यलाभ के अनन्तर उन्हें वायना विश्वविद्यालय में भारतीय साहित्य और भारतीय तत्त्वज्ञान का अध्यापन कार्य सौंपा गया। १८८६ ई० में वूलर ने वहीं एक 'ओरिएंटल इस्टिड्यूट' की स्थापना की और वहाँ से 'ओरिएंटल जर्नल' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। लगभग ३० विभिन्न विद्वानों के सहयोग से वूलर ने 'पुस्तकालोपीडिया आफ इंडो-आर्यन रिसर्च' के नाम से एक विशालकाय ग्रन्थ का प्रकाशन-कार्य आरम्भ किया, जिसके कि केवल नौ भाग ही प्रकाश में आ सके।

विद्वद्गर्भ वूलर की मौलिक प्रतिभा ने उनके व्यक्तित्व को विश्व-विश्रुत कर दिया था। संसार के जितने भी ख्यातिमान् विद्वान् थे उनमें वूलर की गणना होने लगी थी। भारत ने उन्हें १८७८ ई० में सी० आई० ई० की पदवी से सम्मानित किया; जर्मन सरकार के वे प्रशियन आर्डर के नायिट नियुक्त हुये और पट्टिनवरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्ट्रेट की पदवी से विभूषित किया।

५ अप्रैल १८९८ ई० को वूलर ने इस्टर का उत्सव मनाने के लिये वायना से ज्यूरिच के लिये प्रस्थान किया। साथ में उनका पुत्र और पत्नी भी थे। संयोगवश बीच ही में उनकी कैस्टॅस स्त्रील में नौका-विहार की इच्छा हुई और वे रास्ते में ही रुक गये। प्रकृति का अनुकूल वातावरण देखकर ८ अप्रैल को वूलर नौका-विहार करते हुये स्त्रील का सुखद आनन्द ले ही रहे थे कि दैवयोग से जल-समाधिस्थ हो गये। इस प्रकार ६१ वर्ष की अवस्था में ही वूलर ने चिर-शांति प्राप्त की।



वेवर : मेक्डोनेल : कीथ

भारतीय विद्या की एकान्त मन, वचन, तथा कर्म से सेवा करने वाले विदेशी पण्डितों में वेवर, मेक्डोनेल और कीथ का नाम अग्रणी है। इन तीनों विद्वानों का एक साथ परिचय प्राप्त करने का आधार उनके कार्यों की समानता है। मैक्समूलर के बाद भारतीय साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करने और भारतीय साहित्यकारों के कार्यों पर गवेषणात्मक एवं तुलनात्मक प्रकाश डालने का स्तुत्य कार्य इन्हीं तीनों इतिहासकारों ने किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का विश्लेषण करने का जो कार्य अब तक हुआ है, उसकी प्रेरणा का मूल उद्गम इन्हीं तीनों विद्वानों के ग्रन्थ हैं। इतिहास

वेवर : मेक्डोनेल : कीथ

२६५

लिखने के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के विभिन्न विषयों पर भी इन्होंने ग्रन्थ लिखे। उनका संचित परिचय अलग-अलग दिया जाता है।

वेबर

प्राच्य-विद्या-विशारदों में जर्मन विद्वान् वेबर का नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है। इन महापण्डित का जन्म १८२५ ई० में हुआ था। इन्होंने भी अपना पूरा जीवन संस्कृत भाषा के अध्ययन-अनुशोलन में बिताया। अपने विद्यार्थी-जीवन से ही वेबर बड़े अध्ययनशील थे। अवस्था के साथ-साथ ही इनकी ज्ञान-तृप्ता बलवती होती गई और मन-वचन में एकनिष्ठ होकर अपने जीवन का एकमात्र ध्येय इन्होंने भारतीय साहित्य की सेवा के लिए निश्चित-सा कर दिया।

उसका परिणाम अच्छा ही हुआ। ऋग्वेद के क्षेत्र में जैसे मैक्समूलर की अद्वितीय देन कही जाती है वही कार्य वेबर ने शुक्र यजुर्वेद के क्षेत्र में किया।

वेबर बड़े खोजी स्वभाव के विद्वान् थे। बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों का बृहत् सूचीपत्र प्रस्तुत कर इन्होंने इस दिशा में अपनी प्रतिभा का मौलिक परिचय दिया। शोधकार्य की दृष्टि से वेबर द्वारा सम्पादित ये सूचीपत्र बड़े ही महत्व के हैं। डा० वूलर ने जिन ५०० जैन-पोथियों को भारत से बर्लिन पुस्तकालय के लिए भेजा था उनका अनुशीलन कर वेबर ने जैन-साहित्य पर गवेषणात्मक प्रकाश डाला।

अनेक वर्षों के घोर परिश्रम के बाद १८८२ ई० में वेबर ने भारतीय साहित्य पर सर्वप्रथम विवेचनात्मक इतिहास लिखा। साहित्य निर्माण की दृष्टि से इनका सबसे बृहद् कार्य है : Indischen Studien का प्रणयन। यह ग्रन्थ संप्रद्व जिल्दों में पूरा हुआ है, और इसकी

लिखने में वेबर को पूरे ३५ वर्ष लगे। सन् १८५० में उन्होंने इसको आरम्भ किया था और १८८५ में समाप्त किया।

इन मनीषी के उक्त कार्यों से प्रभावित होकर यूरोप और अमेरिका के अनेक प्राच्यविद्याप्रेमी इनके शिष्य बने। विद्वत्समाज में इनके कार्यों का अपूर्व स्वागत हुआ और इस प्रकार भारतीय ज्ञान की सुन्दर ज्योति उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका की धरती पर फैलाई। वैदिक साहित्य पर लिखे गये इनके ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है :

१. शतपथ ब्राह्मण का सायण, हरिस्वामी और गङ्गाधर्य की टीकाओं सहित सम्पादन, १८२४
२. यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता का सम्पादन, १८४७
३. शुक्ल यजुर्वेद की काण्वसंहिता का प्रकाशन, १८५२
४. कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रकाशन, १८५९
५. हिस्ट्री आफ दि इण्डियन लिटरेचर, १८८२
६. इण्डिस्केन स्टडियन, १८५०-१८८५

मेकडोनेल

दूसरे संस्कृतप्रेमी विद्वान् डा० आर्थर एथनी मेकडोनेल का जन्म ११ मई, १८५४ ई० को मुजफ्फरपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम अलेक्जण्डर मेकडोनेल था, जो कि भारतीय सेना में एक उच्चपदस्थ अधिकारी थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा गोटिङ्गन (जर्मनी) तथा आक्सफर्ड में सम्पन्न हुई। मेकडोनेल ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जर्मन, संस्कृत और चीनी भाषाओं के विशेष अध्ययन पर अच्छा प्रकाश डाला है। उनके संस्कृत के गुरु विख्यात वैयाकरण मोनियर विलियम्स और भाषा-शास्त्री बेनफी, रॉट तथा मैक्समूलर थे।

वेबर : मेकडोनेल : कीथ

मेकडोनेल का सम्बन्ध यद्यपि जन्म धारण करने मात्र का ही भारत से रहा; उनकी शिक्षा-दीक्षा विदेशों में ही हुई; फिर भी भारतीय साहित्य के प्रति और विशेषतया आधुनिक भारतीय पण्डितों के प्रति उनके हृदय में गहरा अनुराग था। १९०७ ई० में लगभग छह-सात मास के लिए वे भारत भी आये थे। अपने इस यात्राकाल में उन्होंने भारतीय हस्तलिखित पोथियों पर अनुसंधान किया और कुछ दुर्लभ कृतियों को साथ भी लेते गये।

एम० ए० करने के बाद लिपजिक विश्वविद्यालय से ऋग्वेद पर कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी का पाठशोध और उस पर थीसिस लिखने के उपलक्ष्य में उन्होंने पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। उसके बाद वे आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। वैदिक साहित्य पर उनके द्वारा किए गए कार्यों का विवरण इस प्रकार है :

१. ऋग्वेद सर्वानुक्रमणिका का 'वेदार्थदीपिका' सहित संपादन; १८९६
२. वैदिक रीडर; १८९७
३. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर; १९००
४. सटिप्पणी बृहदेवता का संपादन; १९०४
५. वैदिक ग्रामर; १९१०
६. वैदिक इंडेक्स (कीय के सहयोग से)

कीथ

तीसरे संस्कृतप्रेमी विद्वान् आर्थर वेरिडोल कीथ का जन्म ग्लोस्टर के डेनावार नामक प्रदेश में १८७९ ई० में हुआ। एडिनबरा और आक्सफर्ड में उनकी शिक्षा संपन्न हुई। एडिनबरा विश्वविद्यालय में ही भाषाविज्ञान और संस्कृत के अध्यापन के लिए वे प्राध्यापक नियुक्त हुए, जिस पद पर वे लगभग तीस वर्ष तक बने रहे।

कीय बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे और इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में मौलिक कार्य किए। संस्कृत-साहित्य पर लिखा गया कीय का इतिहास अपनी दिशा का सर्वोच्च और प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। वैदिक साहित्य एवं संस्कृत-साहित्य पर लिखे गए उनके ग्रंथों की तालिका इस प्रकार है :

१. ऋग्वेद के ऐतरेय और कौपीनकी ग्राहण का दस जिल्द में अंग्रेजी अनुवाद; १९२०
 २. शाखायन आरण्यक का अंग्रेजी अनुवाद; १९२२
 ३. कृष्ण यजुर्वेद का दो भागों में अंग्रेजी अनुवाद; १९२४
 ४. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर; १९२८
 ५. वैदिक इंडैक्स (मेक्डोनेल के सहयोग से)
 ६. रेलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद ऐण्ड उपनिषद्स
 ७. बुद्धिस्ट फिलासफी इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन
 ८. संस्कृत ड्रामा
- कीय १९४४ ई० में दिवंगत हुए।



भारतीय चित्रकला की व्याप्ति

भारतीय चित्रकला का विषय वहिर्जगत् का व्यापार होता हुआ भी अन्तर्जगत् की साधना है। वह लौकिक है किन्तु उसमें पारलौकिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसमें स्थायी आनन्द एवं अक्षुण्ण सौंदर्य है। अरूप का उपासक चित्रकार रूप की उपासना में जब रस-विमोह हो जाता है तब उसके लिये असुन्दर कुछ संसार में रह ही नहीं जाता। इस साधना में वह इतना निमग्न हो जाता है कि बिन्दु जैसे दंशक कीट में भी भगवान् शंकर के कुण्डल होने की कल्पना करता है। अश्रु तथा प्रस्वेद जैसे देह-विकारों को भी मुक्तायिन्दु कह बैठता है। इतना ही नहीं, भादों की भयानक रात्रि भी उसकी आँखों में निशा-

सुन्दरी का रूप धारण करती है। इसीलिये तो कहा है कि उसके लिये असुन्दर कुछ रह ही नहीं जाता। व्यापक विश्व के अणु-अणु में यही सौन्दर्य की भावना उसकी उपासना की रसमय चरमाभिष्यक्ति है। यही रस काव्यों में आनन्दस्वरूप कहा गया है और आनन्द ही विश्वात्मा का स्थायी विदोषण है। चित्रकार का ध्येय इसी परमानन्द की उपलब्धि है, उसकी साधना की कैवल्यप्राप्ति है।

भारत में चित्रकला का जन्म कब और कैसे हुआ, यह प्रश्न बड़े विवाद का है। किन्तु प्रागैतिहासिक मानव ने किस प्रकार अपना क्रमशः आरिमक विकास किया, यह रहस्य पुरातत्त्ववेत्ताओं से अविदित नहीं। उस काल की सभ्यता का वास्तविक और अविकल रूप हमें तत्सामयिक रेखाचित्र कलाकृतियों से ही प्राप्त होता है। मिट्टी, काष्ठ, धातु तथा शिलाखण्डों पर किये गये प्रकीर्ण मानव की आदिकाल से ही चली आती इस प्रवृत्ति के श्रोतक हैं। आज की भांति आदिमानव भी सौन्दर्य का उपासक रहा होगा। सौन्दर्य-दर्शन की इसी सुमधुर भावना ने उसके अमूर्त भावों को मूर्त लिपि में चित्रित करने को उसे बाध्य किया होगा। किस प्रकार उसने अपने हार-जीतों के संस्मरण इतिहास की रेखाओं के रूप में लिपियुक्त किये, इसका प्रमाण हमें मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों से मिलता है। प्राचीन काल में पत्थर, काष्ठ, धातु आदि पर जीव-जन्तुओं की जो आकृतियाँ बनी हैं उनसे प्रतीत होता है कि अमूर्त भावों को रेखाओं द्वारा एक-दूसरे पर व्यक्त करने का वह एक तरीका था। प्राचीन काल में भी चित्रकला के प्रति कितनी आस्था रही है, इतिहासवेत्ताओं ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह बात स्पष्ट कर दी है।

प्राचीन साहित्य में

हिन्दू संस्कृति के आदि स्रोत वेदों में चित्रकला का उल्लेख है।

ऋग्वेद में कुछ ऋचाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें अग्निदेव के चित्रों के चमड़े पर अंकित होने का उल्लेख है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कलाओं में चित्रकला को सर्वश्रेष्ठ कला कहा गया है—कलानां प्रवरं चित्रम्। वात्स्यायन-कामसूत्र में रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादर्य और वर्णिका भंग से चित्रकला को पदंगों में विभाजित किया गया है। इस ग्रंथ में चित्रकला के उक्त पदंगों पर सारगर्भित टिप्पणियाँ मिलती हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर वर्णित ये मार्मिक उल्लेख उस युग की साधना के प्रमाण हैं। यही रूप हमें ज्योतिषशास्त्र की ग्रह-कुण्डलियों और तान्त्रिक देवों की आकृतियों में मिलता है। श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत से लेकर जयदेवकृत गीतगोविन्द तक चित्रकला का स्वरूप यत्र-तत्र अलसाया हुआ है। महाभारत में वर्णित एक उपाख्यान के आधार पर महाराजा युधिष्ठिर के राजप्रासाद का निर्माण करने में मय नामक शिल्पी ने अपनी चित्रपटुता से दुर्योधन जैसे दुर्दिमान् को भी संभ्रमित कर दिया था। उपा और चित्रलेखा के उपाख्यान चित्रकला के महारव को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

ऋतुसंहार, मेघदूत और अभिज्ञानशाकुन्तल में चित्रकला की सबल चर्चा है। मेघदूत में यक्षिणी और अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला द्वारा उसके प्रेमियों, यक्ष और दुष्यन्त की आकृति रेखाचित्रों में बनाने का उल्लेख है। एक बार अपने ही हाथों बनाया हुआ शकुन्तला का चित्र देखकर महाराजा दुष्यन्त स्वयं ही मोहित हो गये थे। कविवर चाणभट्ट के बृहत् गद्यकाव्य कादम्बरी में तथा हर्षचरित में, जिनकी रचना हर्षवर्द्धन (ई० ६०६-६४७) के समय में हुई, चित्रकला का यत्र-तत्र उल्लेख है। कादम्बरी का तो सारा कलेवर ही जैसे चित्रकला की प्रदर्शनी बन गया है। चाण्डालकन्या में नीलम की कल्पना और

महाश्वेता को चांदनी का घोल घताना कितनी सूक्ष्म और पारदर्शी दृष्टि का परिचायक है। नाटक सम्राट् भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रथमांक में चित्रावलियों के दृश्यों से ही नाटक का उद्घाटन किया है। माता सीता के प्रोत्साहन से भगवान रामचन्द्र ने अपने वनवासी जीवन को एक कुशल चित्रकार द्वारा चित्रबद्ध करवाया था। चित्रों में इतनी सजीवता थी कि एक बार लक्ष्मण ने जब सीता के विनोद के लिये उन चित्रों को दिखाया तो पंचवटी में रामविलाप का दृश्य देखकर सीता मूर्छित हो गयी थी। यह सब उस काल के कुशल चित्रकारों की चतुर तूलिका का ही परिणाम था। आचार्य भरत मुनि अपने नाट्य-शास्त्र में भारतीय चित्रकला के अनेक उपादानों की मोमांसा पहिले ही कर चुके थे।

गुप्त-काल में

गुप्तकाल (ई० ३२०-५२८) में चित्रकला का पर्याप्त उत्कर्ष दिखाई देता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० ३८२-४१५), जिनके समय में महाकवि कालिदास हुए थे, चित्रकला की कुछ उन्नति हुई। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य साम्राज्यप्रिय होते हुए भी कला का समादर करते थे। इन्हीं के पुत्र कुमारगुप्त (ई० ४१५-४५५) ने उस नालन्दा महाविहार की स्थापना की थी, जो एक दिन विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया था। अजन्ता, पेलोरा, चाघ और यहाँ तक कि मध्य एशिया में प्राप्त भित्तिचित्र गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

गुप्तकाल की चित्रकला के नमूने सोने के सिक्कों पर, मूर्तियों पर और देवताओं की कलापूर्ण आकृतियों पर मिलते हैं। इस काल के जैसे सिक्के फिर भारत में किसी भी युग में नहीं मिलते। जिस प्रकार यूनानी और पौम्पियाई कला में स्थूल, शारीरिक और मांसल सौन्दर्य अपनी भारतीय चित्रकला की व्याप्ति

चरमावस्था को प्राप्त हुआ था उसी प्रकार गुप्त काल में अलंकरण-सजा, मुद्राओं का शास्त्रीय ढङ्ग से चित्रण और आत्मा का आह्लादपूर्ण या शान्तिस्थ प्रकृति-शोक, हर्ष, अमर्ष आदि की अभिव्यक्ति में चित्र और शिल्पकला अत्यन्त परिपक्व अवस्था को पहुँच चुकी थी। गुप्त सम्राटों ने अनेक सुन्दर मन्दिर और मूर्तियाँ बनवाईं। स्तूपों, स्तम्भों एवं विशाल देव-मन्दिरों में तरसामयिक चित्रकला के नमूने प्राप्त होते हैं। अजन्ता की उत्कृष्ट चित्रकारी इसी समय की देन है। महाकवि कालिदास के काव्यों में जिन मुद्राओं, आभूषणों तथा वस्त्रों का उल्लेख मिलता है वे गुप्तकालीन कलाकृतियों में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं।

अजन्ता के विहारों में

चित्रकला का वैभवकाल बौद्ध कालेखों एवं अजन्ता की चित्रकारी से आरम्भ होता है। इस काल के भारतीय चित्रकला-इतिहास में एक नवयुग, जिसे स्वर्णयुग भी कहा जा सकता है, आरम्भ होता है। अजन्ता की गुफाएँ हैदराबाद राज्य में हैं। इन विहार-गुफाओं में मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला का एकान्त संयोग हुआ है। भक्ति, उपासना एवं प्रेम का जैसा समन्वय अजन्ता की चित्ररचना में हुआ वैसा विश्व में कहीं खोजने पर भी नहीं मिल सकता। इन उनतीस गुफाओं में भगवान् बुद्ध के जीवन-सिद्धान्तों की मीमांसा, उनके शान्ति और अहिंसा के उपदेश, इन विशालकाय प्रतिमाओं में सुस्त्राकृति एवं अमय, भूमिस्पर्श तथा धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्राओं द्वारा जिस कुशलता से व्यक्त किये गये हैं वह विश्व के कला-इतिहास में बेजोड़ है।

शिल्प, स्थापत्य और चित्रकला का जैसा विशाल, सूक्ष्म एवं सुरुचि-पूर्ण सामञ्जस्य हमें अजन्ता के चित्रों में मिलता है वह विश्व के किसी भी देश में नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में यह जानकर हमें और भी

अधिक आश्चर्य होता है कि इस प्रकार के मुद्राओं के नमूने प्रकृति की नैसर्गिक सुन्दरता की झोड में ही पूर्ण होते हैं, चहल-पहल और नागरिक जीवन की कृत्रिम व्यस्तता के बीच में नहीं। अजन्ता की कला की धारीकी और रमणीयता की प्रशंसा अनेक विदेशी विद्वानों ने की है और कहा है कि आज के कलाकार तो उसकी यथातथ्य प्रतिलिपि करने में भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकते।

अजन्ता चित्ररचना की यही परम्परा घाघ, वादामी, जोगीमारा तथा ऐलोरा आदि गुफाओं की चित्ररचना में पाई जाती है। उक्त गुफाओं की कलाकृतियों में भारतीय कलाकारों के अमर आलेखन हैं।

सन् १७८४ में 'एशियाटिक सोसाइटी बंगाल' की स्थापना हुई। उसके प्रोत्साहन से भारत में भी पुरातत्व-सम्बन्धी अनुसंधान कार्य बढ़ी लगन के साथ होना आरम्भ हुआ है। सन् १८७३ में सर एलक्जेंडर कनिंघम ने हरप्पा में कुछ यत्न, पालिश की हुई पत्थरों की उत्कीर्ण मुद्राएँ, जिन पर वृषभ अंकित है, प्राप्त कीं। इन उत्कीर्ण मुद्राओं के सम्बन्ध में कनिंघम महोदय का कहना था कि ये उत्कीर्ण ई. पू. चौथी शताब्दी में प्राप्त ब्राह्मीलिपि से भी पुराने हैं। ब्रिटिश म्यूजियम में इन मुद्राओं को महाशय फ्लीट आदि ने पढ़ने की चेष्टा की थी। सन् १९२१ में सर्वप्रथम दयाराम साहनी ने तीन टीलों से प्राप्त सामग्री के आधार पर सिद्ध किया है कि हरप्पा प्रागैतिहासिक स्थान है। इसी समय के लगभग राखालदास घनर्जी ने मोहनजोदरो की खुदाई की और वहाँ से भी अनेक चित्रकला के नमूने प्राप्त किये तथा इस स्थान को भी हरप्पा की भाँति प्राचीन बताया। नृत्य करती हुई कांस्य की प्रतिमा, बूटेदार दुपट्टा ओढ़े हुए नागरिक का बस्त और कृषकों की मुद्राओं पर प्राणवान चित्रण इस सभ्यता के प्रसिद्ध नमूने हैं।

मध्य एशिया में

सन् १९०३ में उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त और बलूचिस्तान में डा० स्टीन आंशिक समय के लिये पुरातत्व विभाग में नियुक्त किये गये। अभी तक अजन्ता और वाघ से प्राप्त चित्रों से ही प्राचीन भारतीय कला की चर्चा की जाती थी। किन्तु महाशय स्टीन ने मध्य एशिया में मीरान, दन-दन, आहेलिक, निया स्थानों से चित्रों के नमूने प्राप्त किये। अफगानिस्तान में भी घामियां की गुफाओं से चौथी से छठी शताब्दी तक के चित्र प्राप्त हुए थे। इन कलाकृतियों में भारतीय, ईरानी और चीनी प्रभावों का अद्भुत मिश्रण है। घामियां के उत्तर फोन्दूरिस्तान में बौद्ध मठों का पता लगा और इनमें भी गुप्त और पाल राजाओं के आदर्शों पर बने भित्तिचित्र मिले। स्टीन ने बड़ी कुशलता से मध्य एशिया से प्राप्त भित्तियों को लगभग दो इंच मोटे दीवाल के पल्लवों के सहित उतार कर अल्मोनिम के फ्रेमों पर जमाया। ये चित्र अब दिह्ली के 'सेंट्रल एशियन एन्टीक्यूजियम' के तीन कमरों में सुरक्षित हैं। ये सब कलाकृतियां चौथी से दशवीं शताब्दी तक के हैं। इस प्रकार का और इतना बड़ा भित्तिचित्र-संग्रह विश्व में और कहीं नहीं, और कला तथा कला-इतिहास के विद्यार्थियों के लिये इनका बहुत भारी महत्व है।

इसी प्रकार भारत के अन्यत्र भी मलाया, बाली, बोर्नियो, जावा आदि द्वीपों में प्राचीन भारतीय चित्रकला का स्वरूप मन्दिरों, मूर्तियों तथा प्राप्त भग्नावशेषों पर किये गये उत्कीर्णों के रूप में मिलता है। यर्मा, श्याम, कोरिया, चीन, जापान, हिन्दचीन आदि देशों में भी बौद्धकालीन चित्रकला के प्राचीनतम नमूने पाये जाते हैं।

भारत में चन्देरी (ग्वालियर) के भित्तिचित्र, अजन्ता आदि

गुफाओं की चित्ररचना, मध्यएशिया के भित्तिचित्र, अवनीन्द्रनाथ, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर की बंगला कलम की विशेषता, बी० ए० साली, रवि वर्मा, नन्दलाल बसु, भामिनीराय और रामगोपाल विजयवर्गीय की अपनी-अपनी प्रादेशिक कला-कारिता और १८ वीं शताब्दी के राजपूती चित्रकला के यशस्वी चित्रकारों में, मोलाराम, चैतू तथा माणकू क्या कमी भुलाये जाने योग्य हैं ?

इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि भारतीय चित्रकला का विश्व में प्राचीन काल से ही अपना प्रमुख स्थान रहा है और आज भी उसका अपना क्रमबद्ध इतिहास मिलता है ।



भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण

मानव-जीवन की ही भाँति कला के जीवन का इतिहास भी बहुत विराट् एवं अतलदर्शी है। अनुकूल सुख-सुविधाओं को प्राप्त कर घरती के विभिन्न छोरों में जिस क्रम से मनुष्य ने अपने आवास की स्थितियों को कायम किया, उसी क्रम से कला के अस्तित्व का भी बीजारोपण हुआ। कला के इन आदिम प्रतिमानों के मूल में यद्यपि स्वरूप, शैली और भाव-विधानों की दृष्टि से कम तारतम्य था, तथापि उसका अंतराल एक जैसी अपार्थिव चेतना से पूरित था। वह चेतना थी धर्म की। आदिम मनुष्य ने पार्थिव पदार्थों को आध्यात्मिक रूप देने के लिए आकाश, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र, नदियाँ, पर्वत, सर्दों और गर्मों आदि के

रहस्यों को अँकने का प्रयत्न किया। उसने उन सभी वस्तुओं में एक अदृश्य शक्ति की कल्पना की, जिन वस्तुओं की जानकारी उसको नहीं थी।

संसार की प्रायः समग्र आदिवासी जातियों की संस्कृतियों के मूल में इस धार्मिक भावना की अनुभूति एक जैसे रूप में दिखाई देती है। यूनान, चीन और भारत के आदिवासी लोगों को कला की प्रेरणा प्रकृति से मिली। वेदों के ऋषियों ने प्रकृति के अनेकविध रूपों की पूजा कर उन्हें देवत्व की संज्ञा प्रदान की। ये दैवी-शक्तियाँ ही बाद में स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा और ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि नाम-रूपों से प्रचलित हुईं।

प्रागैतिहासिक युग के थोड़े-से जो मानव-ढाँचों, खोपड़ियों और शिलाखंडों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उनके अध्ययन से प्राणि-जगत् का इतिहास इतने पीछे चला जाता है कि, जिनको सुनकर या पढ़कर स्वभावतया मनुष्य की कला-अभिरुचि की अति प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। विंध्य-पहाड़ियों की उपलब्ध मानव-अस्थियाँ, मध्य प्रदेश के सिधनपुर और सरगुजा रियासत में स्थित जोगीमारा स्थानों से प्राप्त चित्रयुक्त प्राचीन महारव की अनेक चट्टानें, तमिलनाडु, आंध्र, छोटा नागपुर, उड़ीसा, होशंगाबाद, पंजाब, उत्तर प्रदेश और नर्मदा-उपत्यका आदि विभिन्न स्थानों से उपलब्ध वस्त्रों, पाषाण चित्रों, मृत्तिका पात्रों, लाल-पीले रंग में पेंट किए हुए रँगते कीड़ों, पशुओं, पक्षियों, मनुष्यों और सूअरों आदि की आकृतियों का अध्ययन कर प्रागैतिहासिक भारत के कलाप्रेम का सहज ही में पता लग जाता है।

प्रागैतिहासिक कलावशेषों की गवेषणा करते हुए पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों का अभिमत है कि आज की ही मूर्ति आदिमानव भी सौंदर्य का भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण

उपासक था। सौंदर्य-दर्शन की इसी उत्कट भावना ने ही उसके अमूर्त भावों को मूर्त रूप में चित्रित करने के लिए उसे बाध्य किया। किस प्रकार उसने अपने हार-जीतों के संस्मरण रेखाओं में चित्रित किए, इसके प्रमाण हमें मोहेनजोदरो और हरप्पा की खुदाइयों से उपलब्ध सामग्री में देखने को मिलते हैं।

मानव-सभ्यता के उप-काल में, जब कि भाषा और लिपि का आविर्भाव नहीं हुआ था, भावामिष्यंजन तथा विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान का माध्यम भी कला ही रही। उसी के विकास-चिह्न हमें रज्जु या ग्रंथलिपि, रेखालिपि, भाव-प्रकाशनलिपि, ध्वनि-प्रकाशक चित्रलिपि और व्यंजनमूलक लिपि में देखने को मिलते हैं। चित्र-रचना (picture composition) द्वारा विचार-प्रकाशन की यह पद्धति इतनी विकसित हुई कि धरती पर का संपूर्ण मानव-समाज उसके प्रभाव से अछूता न रह सका। ये चित्र शिलाओं, वृक्ष की छालों, जीव-जंतुओं के चमों, हड्डियों, सींगों और दाँतों आदि अनेक प्रकार की सामग्री पर चित्रित किए गए। इस प्रकार के अनेक चित्र कैलिफोर्निया की घाटियों, स्काटलैण्ड की शिलाओं, ओहियो रियासत की वृक्ष-छालों, लैपलैण्ड में ढोलों और औवर्न (फ्रांस) में सींगों पर उत्कीर्णित आज भी उपलब्ध होते हैं। एक संपूर्ण घटनाचक्र को चित्रों में प्रकाशित करने की प्रथा अमेरिका के आदिवासियों में भी प्रचलित थी। पृथक्-पृथक् वस्तुओं के लिए भाव-बोधन के चित्र-संकेत (Ideograph) मैक्सिको तथा मिस्र के आदिवासियों में भी प्रचलित थे।

सिंधु-सभ्यता का युग

धर्मप्रवण भारत में आध्यात्मिक उपादानों को लेकर कला के विराट् स्वरूप का निर्माण हुआ। भारतीय कलाकार ने वाद्य-सौंदर्य के वशीभूत

होकर कला की उद्भावना नहीं की है; उसकी अंतःप्रेरणाओं और उसके भीतर प्रसृत दैवी विश्वासों ने ही उसके विचारों को रंग, रूप, वाणी और व्याप्ति प्रदान की है। भारतीय कलाकार आत्माभिव्यंजन और आत्मश्लाघा से सदा ही दूर रहा है। उसका यह महान् त्याग और उसकी यह महती अनासक्ति थी। उसने तत्कालीन लोकजीवन की महनीय मान्यताओं को अपनी कला-कृतियों में संजोकर कला के ध्येय को और भी ऊँचा बना दिया, जिसका दर्शन हमें महान् सिंधु-सभ्यता की दुर्लभ कला-कृतियों में देखने को मिलता है।

यद्यपि सिंधुघाटी की इन कला-कृतियों के द्वारा हरप्पा तथा मोहेन-जोदरो के नागरिकों, नगरों, शासकों, कवियों, कलाकारों, विद्वानों और कारीगरों के संबंध में कुछ भी पता नहीं चलता तथापि उनसे भारत की आज से लगभग साढ़े-पाँच-छह हजार वर्षों की प्राचीन सभ्यता का पता लगता है। ये अवशेष प्राचीन भारत के रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान और ज्ञान-विज्ञान के परिचायक हैं।

हरप्पा और मोहेनजोदरो के उपलब्ध वर्तनों, दफनाए गए शवों के साथ के पात्रों, मिट्टी के वर्तनों, पथरों, काँस्यमूर्तियों, मृण्मयी मूर्तियों, मुद्राओं और टिकटों पर की गई चित्रकारी-अलङ्करण आदि की सामग्री में प्राचीन भारत की कलाभिरुचि प्रचुरता से व्याप्त है। प्रेमीजनों की हृदयाकर्षक भाव-भंगिमाएँ, नर्तकियों की प्रवीण मुद्राएँ, केश-शृंगार, अंग-प्रत्यंगों का आकर्षक उभार, सभी में एक विचित्र भाव दिखाई देता है। वहाँ प्रकृति के रस-भाव-पेशल विभिन्न रूपों में कला का चरमोत्कर्ष समाया हुआ है। मातृदेवी की प्रतीकात्मक मूर्तियाँ, शिव, पशुपति और नन्दी बैल आदि की मूर्तियाँ देखने योग्य हैं। सिंधु-सभ्यता की इन उपलब्ध कला-कृतियों को देखकर प्रतीत होता है कि

चहों का जन-जीवन कलानुरागी, कलाकार, विद्वान्, योद्धा और दार्शनिक आदि प्रवृत्तियों से युक्त था ।

भारतीय राजकुलों में कला का संरक्षण

मौर्य-साम्राज्य का यशस्वी सम्राट् अशोक, बौद्धधर्म का सबसे बड़ा आश्रयदाता था । उसके १३ वें अभिलेख से प्रतीत होता है कि कलिंग-विजय की रक्तंजित-फ्रीडा ने उसकी राज्य-विजय-लिप्सा को धर्मविजय में परिवर्तित कर दिया था । तभी से वह 'सम्राट्' से 'प्रियदर्शी' बना । उसने बौद्ध-संस्कृति, बौद्ध-साहित्य और बौद्ध-कला के प्रचारार्थ अपने राज्य में तथा विदेशों में अपने दूत भेजे । प्राचीन भारत के विभिन्न अंचलों में अशोक द्वारा निर्मित कराये गए स्तूपों एवं चैत्यों में कला का ऊर्जस्व रूप समाहित है ।

सारनाथ में अशोकस्तम्भ का सिंह-मस्तक और विहार के रामपुरवा में अशोकस्तम्भ का साँढ-मस्तक मौर्ययुगोन कला की शक्ति, गति और गुरुता के प्रतीक हैं । मौर्ययुग में लोककला का भी विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप यक्ष-यक्षिणियां, देवी-देवता आदि लोक-विश्वास-सम्बन्धी मूर्तियों का भी निर्माण हुआ । इन मूर्तियों में सौन्दर्य, आनन्द, शक्ति, भावुकता, विनय और आराधना के विभिन्न भाव दर्शित हैं ।

कुषाण-राज्य के संस्थापक कनिष्क ने अशोक के आदर्शों को चमकाया । कनिष्क के युग में भारतीय-यूनानी कला का निर्माण हुआ, बौद्धधर्म के इतिहास में जिसे कला के क्षेत्र में नई संभावनाओं का प्रतीक और बौद्धधर्म एवं बौद्धसंस्कृति की नवीन शाखा कहा गया है । उसकी रचना एवं उसका विकास कनिष्क के ही राज्यकाल में हुआ । अनेक भव्य स्तूप और बड़े-बड़े नगरों की रचना उसके कलाप्रेम और निर्माण कार्यों के परिचायक हैं । अपनी राजनगरी पुरुषपुर (पेशावर)

में उसने अगिशन नामक एक ग्रीक शिल्पी द्वारा एक अनुपम कलापूर्ण काष्ठस्तंभ निर्मित करवाया था। उसने कनिष्कपुर (कानिसपोर) में एक नया भव्य नगर भी बसवाया था। अनेक बौद्ध विहारों के निर्माण का श्रेय भी उसको प्राप्त है। उससे पहिले प्राचीन बौद्धकला में तथागत की कोई भी मूर्ति उत्कीर्णित नहीं थी। उसके धार्मिक सुधारों के कारण अब तथागत की भव्य प्रतिमाएँ भी निर्मित होने लग गई थीं।

भारत में ग्रीक जाति के रेट-सौ वर्षों के लगभग शासन ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को अत्यधिक रूप से प्रभावित एवं प्रोत्साहित किया। ग्रीक संस्कृति का पहिला प्रभाव उसके कलापूर्ण सिद्धांतों पर पड़ा। भारतीय कला और ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रीकों का प्रभाव सर्वथा अपूर्व था। वास्तुकला और तक्षणकला के जो नमूने भारत में ग्रीक कला के अनुकरण पर निर्मित हुए मिलते हैं, उनमें प्रथम शताब्दी ईसवी के तक्षशिला में एक देवमन्दिर के ऊँचे 'यवन स्तम्भ' और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में आविर्भूत गांधार शैली की स्थापना का सम्पूर्ण श्रेय ग्रीक कलाकारों को ही उपलब्ध है। गांधार शैली की भारतीय कलाकारों की कृतियों में भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं-सम्वन्धी प्रस्तर-उत्कीर्ण उल्लेखनीय हैं। पेशावर और लाहौर के संग्रहालयों में ग्रीक अनुकरण की कुछ कला-कृतियाँ एवं मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

गुप्त-सम्राट् न केवल विद्यासेवी, शिक्षाविद् और बड़े-बड़े कलाकारों के आश्रयदाता थे, वरन्, वे स्वयं भी साहित्य-समर्पण तथा अनेक-कलाओं में निपुण थे। समुद्रगुप्त घीणावादन में सिद्धहस्त था, जिसके प्रतीक उसके सिक्के हैं। वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्तयुग बहुत बढ़ा-चढ़ा था। झांसी के देवगढ़ मन्दिरों और कानपुर के भीतरगाँव मन्दिरों की

भगव्य घास्तुकला गुप्तयुग की अविस्मरणीय देन है। उक्त दोनों मन्दिरों की दीवारों में चढ़ी निपुणता से घँटाई गई मृण्मयी मूर्तियों को देगकर विदित होता है कि उम युग में घास्तुकला अपनी पूर्णावस्था में थी। भीतरगाँव मन्दिर की हजारों उरगचित ईंटें और पकाई गई मिट्टी की गानें आज भी लगनक संग्रहालय में देखने को मिलती हैं।

मूर्तिकला के निर्माण में भी गुप्तयुग बहुत उन्नत था। गुप्तयुग की तक्षण कला, याने भास्कर्यगेली भारतीय कला-इतिहास के लिए एक अपूर्व देन थी। ग्रीक-प्रभावों से उन्मुक्त तुषाणयुग में जिस गांधार गेली की शुरुआत हुई थी, गुप्तकाल में वह सर्वथा भारतीय रंग-रूप में परिणत हुई। गुप्तकाल में निर्मित अनेक दिव्य मूर्तियाँ न केवल उम युग के धार्मिक अभ्युदय की सूचना देती हैं, अपितु, वे तत्कालीन भास्कर्य कला की व्यापकता पर भी प्रकाश डालती हैं। भगवान् बुद्ध की समाकर्षक धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा तत्कालीन भारतीय तक्षणों के असाधारण कला-कौशल का जीविन उदाहरण है। हजारों की संख्या में निर्मित कलापूर्ण मृण्मयी मूर्तियों गुप्तकालीन कला-शिषियों के अपूर्व पांडित्य की परिचायिका हैं। सारनाथ और मथुरा के संग्रहालयों की सजीव मूर्तियों को देखकर इन कलाकारों की ऊँची प्रतिभा को आँका जा सकता है। गुप्त युग की इन कृतियों में सजीवता, सादगी, गति और टेकनीक सभी का एक साथ समावेश है।

अजंता के जगत्प्रसिद्ध काल-वितान के निर्माण का अधिकांश श्रेय गुप्तयुग को ही है। गुप्तकालीन कला के भग्य नमूने एलोरा, याघ और यहाँ तक कि मध्य एशिया के भित्तिचित्रों में देखने को मिलते हैं। तत्कालीन सोने के सिक्कों, मूर्तियों और देवताओं की कलापूर्ण आकृतियों पर भी गुप्तकला के उरकृष्ट प्रमाण अंकित हैं। गुप्तयुग के जैसे सिक्के

फिर कभी भी भारत में निर्मित नहीं हुए। पहले संकेत किया जा चुका है कि जिस प्रकार यूनानी और पम्पयाई कला में स्तूल, शारीरिक एवं मांसल सौंदर्य अपनी चरमावस्था को पहुँचा, उसी प्रकार गुप्तकाल में अलंकरण-सजा, मुद्राओं का शास्त्रीय ढंग में चित्रण, आराम का आह्लादपूर्ण सौंदर्य, शांतिस्थ प्रकृति के हर्ष-भ्रमर्ष आदि की अभिव्यक्ति में भारतीय कला अपनी परिपक्वता में पहुँची। गुप्त-सम्राटों ने अनेक सुन्दर मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण करवाया; स्तूपों, स्तंभों एवं विशाल देवमन्दिरों पर चित्रकला के भव्य नमूने अंकित करवाये।

भित्तिचित्रों की परम्परा

भारतीय भित्तिचित्रों की अपनी अलग परंपरा है। भारतीय कला के उज्ज्वल इतिहास की शुरुआत इन्हीं भित्तिचित्रों से होती है। दुनिया के किसी भी छोर में इनके मुकाबले में चित्र नहीं बने। इस प्रकार के भित्तिचित्र जोगीमारा, अजंता, वाघ, यादामी, सित्तनवासल, एलोरा आदि में सुरक्षित हैं। भारत के इन जगद्विख्यात कलातीर्थों के दर्शनार्थ आज भी सैकड़ों कलालिप्सु नित्यप्रति आते रहते हैं। भारतीय भित्तिचित्रों के इस कला-वैभव को देखकर संसार के कलाविद् विद्वान् भारतीय कलाकारों की सूक्ष्म-वृक्ष और दृढ़ कठिन साधना पर मुग्ध हैं। वस्तुतः वे कलाकार धन्य थे, जिनके दैहिक शरीर तो काल की असंख्य पतों में विलीन हो गये; किन्तु जिनके महान् कृतिरस के कारण आज सारा-का-सारा देश गौरवान्वित है।

इस्लामधर्म की दृष्टि में कला का मूल्याङ्कन

सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के निर्माण में राजकीय सत्ता का सबसे बड़ा हाथ रहा है। भारत के राजनीतिक वातावरण ने उसकी कलात्मक अभिरुचि पर गहरा प्रभाव डाला। भारतीय कला के इतिहास

को पाँच विभिन्न युगों में पृथक् किया जा सकता है। उसका यह पृथक्करण न केवल राजनीतिक दृष्टि से; बल्कि उसके भाव, स्वरूप, शैली और सम्पन्न के दृष्टिकोण से किया गया है। इन पाँच युगों का क्रम है : प्रागैतिहासिक युग, बौद्ध युग, मध्य युग, आधुनिक औद्योगिक युग और आधुनिक स्वाधीनता युग।

मध्य युग से पूर्व कला का जो दृष्टिकोण और ध्येय था, मध्य युग में वह सर्वथा नये रूप में सामने आया। वास्तुकला, स्थापत्यकला और चित्रकला की ग्रीकेनी की जो प्रगति धारा भारत के कला-धरातल पर बौद्ध युग तक प्रवाहित रही, विघर्षों इस्लामीय संस्कारों के कारण महत्ता ही उसमें गतिरोध हुआ, और उसके कारण कला के सार्वभौमिक स्वरूप को चित्रकला ने ठक दिया। उसका कारण था वैभव और विलास की अतिशयता।

चित्रकला के प्रति इस्लामीय सम्पत्ता प्राचीनकाल से ही उदासीन रही। इस्लाम के प्राचीन अनुयायी यहूदियों ने इस उदासीनता को कायम किया। यद्यपि 'कुरानशरीफ' में प्रतिमानिर्माण को शराब एवं धृत की तरह शैतानों की आदत बताया गया है, तथापि चित्रकला के लिए इस प्रसंग में स्पष्टतया किसी भी प्रकार की निषेधाज्ञा नहीं है। हदीस के अनुसार कयामत के रोज चित्रकार को दो जन्नत में जाना पड़ता है, क्योंकि उसने निर्जीव वस्तु में प्राण-संचार करने का दुःसाहस किया है, जिसका एकमात्र अधिकार सृष्टिकर्ता की ही प्राप्त है। पुराने इस्लामीय संतों के मतानुसार किसी भी वस्तु पर छवि अंकित करना इस्लाम धर्म के सख्त खिलाफ है।

यह एक अजीब आश्चर्य की बात है कि कला के क्षेत्र में और विशेषतया चित्रकला को प्रोत्साहन देनेवाली सबसे प्रबल भावना धर्म

की रही है; किन्तु इस्लामधर्म का आचरण हमें इसके विरुद्ध ही दिखाई देता है। जहाँ एक ओर मन्दिरों, गिरजाघरों और बौद्धविहारों में उत्कृष्ट चित्रों के नमूने अंकित हुए मिलने हैं, यहाँ दूसरी ओर मस्जिदों में हमें इमका सर्वथा अभाव दिखाई देता है। इसका कारण इस्लाम की धार्मिक प्रवृत्ति ही रही है। विश्व की कला-प्रवृत्तियों की तुलना में इस्लाम धर्म की यह अलग धारणा सचमुच ही विचित्र रही है।

लगभग १४ वीं शताब्दी के अन्त में इस्लामी सभ्यता में एक जबरदस्त परिवर्तन आया। इस समय हमें दिखाई देता है कि कला के प्रति या छवियों को अंकित करने के लिए उसमें जो धार्मिक भय या परंपरा का पूर्वाग्रह था, वह कम होने लगा। तैमूरवंश को इस परिवर्तन के पहिले प्रमाणरूप में उद्घृत किया जा सकता है। अकबर ने इस क्षेत्र में काफी साहसपूर्ण कदम रखा। उसने तो यहाँ तक घोषित कर दिया कि चित्रकार ही एकमात्र ऐसा उपदेशक या गुरु है, जो परमेश्वर की विभूतियों को ठीक तरह से समझा सकने की क्षमता रखता है।

मुगल शासन और तत्कालीन कला-वीथियाँ

भारत में मुगलों की सत्तनत कायम हो जाने के बाद चित्रकला के क्षेत्र में एक नई दिशा प्रकाश में आई। मुगल सत्तनत का पिता बाबर एक उच्चाकांक्षी व्यक्ति था। तुर्की-रक्त की आरम्भ से ही एक बड़ी विशेषता यह रही है कि वह स्वयं गुणज्ञ, विद्यानुरागी और गुणियों-विद्वानों का आदर करने वाला वंश था। शाहंशाह बाबर एक सिद्धहस्त कवि, अद्भुत कला-पारखी और सुन्दर गद्य का लेखक था। तुर्की भाषा में उल्लिखित उसका आरम्भचरित उसके पाण्डित्य का परिचायक है। अपने संस्मरणों में बाबर ने फारसी कला-शैलियों की

भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण

२८७

और विशेषतया कलाकार विजहाद की आलेखन-शैली की यही ही ममदृष्टिपूर्ण समीक्षा की है। भारत आते हुए अपने साहित्य एवं कलाप्रेम के कारण जिन पुस्तकों को यावर साथ लाया था, उनमें 'शार्हीनामा' की एक मछिन्न प्रति भी थी, जो लगभग २०० वर्षों तक उत्तरवर्ती शाही पोथीखानों में सुरक्षित रही और बाद में अंग्रेजों द्वारा अपहृत होकर लंदन पहुंची; आज वह एशियाटिक सोसाइटी, लंदन की संपत्ति है।

कला की अभिरुचि हुमायूँ की पुरतन्नी थी; किन्तु उसका दुर्भाग्य कि अपनी २६ वर्षों की यादशाहत में वह कभी भी चैन ले न रह सका। शीर-अलम के सुगल चित्रकार अब्दुस्समद शीराजी और मीर सैय्यद अली को उसने संमानपूर्वक अपने दरबार में आमंत्रित किया; और वे दोनों अकबर के दरबार में भी संमान के साथ अपनी कला का सृजन करते रहे। ऐसा कहा जाता है कि इन दोनों चित्रकारों ने ईरानी-शैली को भारतीय शैली में ढालकर चित्रकला के क्षेत्र में मर्वया नई संभावनाओं को जन्म दिया था। हुमायूँ के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि वह इतना कलाप्रेमी था कि युद्ध के समय भी चित्रकला की पुस्तकों को साथ रखता था।

हुमायूँ के बाद उसका पुत्र अकबर सुगल सत्तनत का स्वामी नियुक्त हुआ। अपने पिता के कलाकष्ट में अब्दुस्समद और सैय्यद अली को उसने विरासत में पाया था। इन दोनों महान् कलाकारों ने अकबर की रुचि और नीति के अनुसार कला के क्षेत्र में भी सामंजस्य की भावना भर दी। उन्होंने ईरानी आकारों को भारतीय रंगों में संजोकर अकबर की समन्वयवादी विचार-धारा को साकार कर दिया। अकबर के कलाप्रेम और गुणग्राही स्वभाव का पूरा हाल हमें

अबुलफजल की पुस्तक 'आह-ने अकबरी' में देखने को मिलता है। चित्रकला से नफरत करने वाले लोगों से अकबर को नफरत थी। कलाप्रेम उसको विरासत में मिला था; और हिन्दू-पतियों के सहयोग से उसकी रुचि में भी परिष्कार हो गया। अकबर की चित्रशाला में हिन्दू और मुस्लिम दोनों प्रकार के सुसज्जित थे।

अकबर के शासन में पुस्तकों के चित्रित करने की प्रथा में काफी वृद्धि हुई। उसके शाही पोथीखाने में २४,००० हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थीं, जिनमें सैकड़ों सचित्र थीं। चित्रों ने विभूषित कुछ पोथियाँ तो ऐसी भी थीं, जिनमें एक की लगान लाख रुपये से भी ऊपर थी। उसका यह शाही पुस्तकालय तीन नगरों में था : आगरा, दिल्ली और लाहौर। ब्रिटिश शासन के समय ये बहुमूल्य पोथियाँ अधिकांशतया लंदन और कुछ फ्रांस तथा अमेरिका के संग्रहालयों में पहुँचीं। अकबरकालीन सचित्र पोथियों की उपलब्धि भारत के जिन पुस्तकालयों में सम्भव है, उनके नाम हैं : राजकीय संग्रहालय जयपुर, तुदायण्ड लाहवैरी पटना, राजकीय संग्रहालय हैदराबाद, भारत कला भवन चाराणसी, महाराज चलरामपुर का संग्रहालय, राजकीय संग्रहालय रामपुर और राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली।

अकबर के बाद उसके पुत्र जहाँगीर ने शाहंशाहत संभाली। वह हिन्दू-पत्नी से प्रसूत था। इसलिए जन्मतः ही उसमें हिन्दुत्व की भावना थी। उसके युग में चित्रकला का सर्वथा भारतीयकरण हुआ। वह सर्वगुणसम्पन्न और उच्चकोटि का कला-पारखी था। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसकी समीक्षाबुद्धि इतनी प्रबल थी कि अनेक चित्रकारों द्वारा तैयार किए गए एक ही चित्र के विभिन्न कलाकारों के अंशों को वह अलग-अलग कर सकता था।

उसने अपने कलाकारों को धन, उपाधि और सम्मान दिया। कला का वह इतना शौकीन था कि जो भी सुलिपि में लिखी हुई पोथी उसके सामने से गुजरती, उसे रोक कर वह उसकी पोस्तीन पर अपने दस्तखत कर दिया करता। अच्छे-अच्छे चित्रों के अलघम तैयार करने का उसे गजब का शौक था। उसके युग के चित्र आज भी भारत के और विदेशों के संग्रहालयों में सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

उसके बाद भी मुगलवंश में शाहजहाँ, दारा आदि शासक हुए। ये भी चित्रकला के प्रति अनुरक्त और कलाकारों के आश्रयदाता रहे; किन्तु इनके युग की ऐसी महत्वपूर्ण देन शेष नहीं, जिससे कि उनके व्यक्तित्व का अलग से उल्लेख किया जा सके। औरंगजेब की कलुषित रीति-नीति ने तो चित्रकला की पूर्वाजित धरोहर को सर्वथा तहस-नहस कर ढाला।

हिन्दू-चित्रकला का पुनरुत्थान

यद्यपि मुगलों के राज-वैभव के साथ-साथ भारत में ईरानी उस्तादों का भी आगमन हो चुका था, और शासन के स्वामी होने के कारण मुगलों के दरबारों में उन्हीं का अधिक बोलवाला, रोच-दाय रहा; फिर भी हम देखते हैं कि मुगलकाल के सुसज्जों में तीन-चौथाई कलाकार हिन्दू ही थे। और सम्भवतया यही कारण था कि ईरानी उस्तादों के आधिपत्य में भी भारतीय कलाकारों की निजी विशेषताएँ सर्वथा विलुप्त या ईरानी संस्कारों में सर्वथा विलयित नहीं हो पाई थीं।

ईरानी उस्ताद, अधिक यत्नशील होने पर भी, रागमाला के वैसे रस-भाव-पेशल, मार्दवपूर्ण, स्वाभाविक एवं निर्दोष चित्र नहीं उतार सके, भारतीय चित्रकारों को जो निपुणता विरासत से मिली थी। फिर भी इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि ईरानी शैली के मुगल

निश्चित रूप से इस संबंध में हमलिफ कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि १६वीं शताब्दी से पहिले का दाक्षिणात्य शैली का कोई भी चित्र उपलब्ध नहीं होता है ।

अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आदि में हिन्दू चित्रकला कई उपशाखाओं में विभाजित होकर अपनी चरमोन्नत अवस्था में पहुँची । इस युग की प्रमुख चित्र-शैलियों के नाम हैं : जयपुर, कौंगरा, गढ़वाल, नाहन, मंडी, घसौली, भोदड़ा, दक्षिया, जोधपुर, उदयपुर, गुजरात, महाराष्ट्र और हैदराबाद ।

राजस्थानी शैली

भारत से मुगल सल्तनत का उन्मूलन होने से पूर्व ही मुगल चित्रकला का हास होने लग गया था । मुगल काल के निर्माता कलाकार अपने आश्रयदाताओं का अनुकूल रूप न देकर अपनी कार्य-कुशलता के चल पर विभिन्न हिन्दू राजवाड़ों में सरलता से ही शरण पा गए थे । पूरब में वे लखनऊ, पटना; उत्तर में काश्मीर, हिमांचल-प्रदेश, गढ़वाल; पश्चिम में राजस्थान, पञ्जाब और दक्षिण में महाराष्ट्र, तक्षोर तथा मैसूर तक के सुदूर भू-भागों में बिछर कर भारतीय कला के क्षेत्र में नये प्रयोगों, नई निष्पत्तियों के निर्माण में जी-जान से जुट गए थे ।

राजस्थानी चित्रशैली का अस्तित्व मुगल शैली जितना प्राचीन है । राजस्थानी चित्रशैली, क्योंकि हिन्दू-जीवन से सम्बद्ध थी, अतएव अपनी रूप-सजा और भावाङ्गन के लिए उसने अजन्ता की लोकप्रिय शैली को अपनाया, किन्तु इधर मुगलकला से उसका सगा सम्बन्ध रहने के कारण उसमें शृंगार-प्रसाधनों की भी अधिकता रही । सच तो यह है कि राजस्थानी कलाकारों ने एक ओर तो गुलसी, सूर और मीरा की

दिव्य आध्यात्मिक भाषनाओं को अपनी कृति का द्वारा साकार मूर्तिमान् कर दिया, किन्तु दूसरी ओर केशव, देव, विहारी पर उनका ध्यान आकर्षित होते ही उद्यम शृङ्गार की चरमोत्कर्ष दशाओं को रूप, रङ्ग और वाणी देने में भी उन्होंने दमर नहीं की। यही उनके सर्वांगीण कला-जीवन की सफलता थी।

राजस्थान के प्राकृतिक वातावरण में सर्वत्र ही कला का आवास है। वहाँ के दुर्ग, वहाँ के प्रासाद, वहाँ की उष्णवच्च पार्वत्य भूमि, वहाँ के मन्दिर, हवेलियाँ, राजप्रासाद, वहाँ के सामान्य घरों के चौकों, दीवारों आदि सभी में एक अनोखा आकर्षण है। जयपुर नगर राजस्थानी चित्रकला का प्रमुख केन्द्र रहा है। राजस्थानी चित्रकला का भरा-पूरा वैभव यद्यपि भारतीय चित्रकला के वैभव के साथ ही समाप्त हो गया था, तथापि वहाँ आज भी ऐसे चित्रकारों की कमी नहीं है, जो हस्तनी सुन्दर प्रतिरूप तैयार कर लेते हैं कि मूलचित्र और उसकी प्रतिलिपि में भेद करना कठिन हो जाता है।

पहाड़ी कला-शैलियाँ

पहाड़ी चित्रशैलियों की आवासभूमि हिमाचल का विस्तृत भू-भाग जम्मू, देहरी, गढ़वाल, पठानकोट, कुल्लू, चम्पा, चसौली, काँगड़ा, गुलेर, मण्डी आदि पर्वतीय इलाके हैं। यद्यपि पहाड़ी चित्रशैली का निर्माण सत्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में ही हो चुका था, किन्तु अठारहवीं शताब्दी में पहुँचकर उसने लोकप्रियता प्राप्त की। पहाड़ी शैली के निर्माण में मुगल, काश्मीरी और राजस्थानी, तीनों का सहयोग रहा है, किन्तु उसके मौलिक प्रयोगों, यथार्थवादी दृष्टिकोणों और भावनापूर्ण अङ्कनों ने उसकी उपयोगिता को अतिशय रूप से चमकाया। पहाड़ी शैली के चित्रकारों की एक अतुलनीय विशेषता यह रही है कि उन्होंने

जिस भी विषय को स्पर्श किया, उसी में चार चोँद लगा दिए । दैनिक जीवन से सम्यद छोटे से छोटे चित्रों से लेकर पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, काव्यमय, कथापरक आदि सभी विषयों पर पहाड़ी शैली के कलाकारों ने ढेर-क़े-ढेर चित्र उतारे और वे भी एक-से-एक उत्कृष्ट ! बादमीकि, ध्याम से लेकर मतिराम और बिहारी तक के ग्रन्थों के उन्होंने दृष्टान्त चित्र बनाये । इसीलिए कला-मर्मज्ञों और इतिहासकारों ने अजन्ता की चित्रायली के बाद पहाड़ी शैली को ही भारतीय चित्र-कला के क्षेत्र में ऊँचा स्थान दिया है । अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर उसीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक पहाड़ी शैलियों का स्वर्ण-युग रहा है ।

श्री शचीरानी गुर्दे के शब्दों में “पहाड़ी चित्रकारों ने दृढ़त भाव-नाओं और वास्तविक अनुभवों को दर्शित करते हुए भावोन्नेक के चित्र अँके हैं । नायक-नायिकाओं की भी विविध मनोदशाओं, केलि-क्रीडाओं और जीवनोद्भासों को ज्यों-का-त्यों इन चित्रों में उतारा गया है । भाव और सौन्दर्य की अनुभूति के योग से उनके चर्ण्य-विषय वही ही मधुरता और सच्चो लगन से चित्रित किए गए हैं । कहना न होगा कि ये पहाड़ी कलाकार अन्तर्बृत्तियों के निरूपक, कलागत सौन्दर्य के नाना भेदों के संवेदनशील द्रष्टा, लौकिक एवं अलौकिक प्रणय-लीलाओं तथा सयोग-वियोग की अन्तर्दशाओं के मार्मिक चित्तेरे, प्रेमरस से सिक्त भीतर की उमङ्गों में पैठने वाले और कला की चारु-रम्यता को रहस्यमय रङ्गों से संजोने वाले सच्चे स्वच्छन्द द्रष्टा थे, सँकरे वातावरण में पङ्क फड़फड़ाने वाले घन्दी नहीं ।”

भारत का आधुनिक कलामञ्च

उसीसवीं शताब्दी की विदाई के साथ-साथ भारत की प्रधान कला-शैलियाँ : मुगल, राजपूत, पहाड़ी और उनसे प्रभावित अनेक

उपशाखाएँ विलुप्त हो गईं। इसका कारण भारत में यूरोपीय कला का प्रवेश था। यूरोपीय शैली के भारतीय चित्रकारों में पहिला नाम ग्रावणकोर के स्व० राजा रविवर्मा का है। उनसे भी कुछ पहिले मदुरा के चित्रकार श्री अलाम्री नायडू इस क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे और इन्हीं से राजा रविवर्मा ने शिक्षा ग्रहण की। पौर्यात्य और पाश्चात्य कला-शैलियों को सम्मिश्रित रूप में अपनाने वाले भारतीय कलाकारों में अमनीन्द्र यादू, गगनेन्द्र यादू, नन्दलाल बसु, असित कुमार हालदार, समरेन्द्रनाथ गुप्त, के० पून० मजूमदार, शैलेन्द्रनाथ दे, के० वेंकटरया, गारदा ठकील, टी० पी० राय चौधरी और वीरेश्वर सेन आदि का नाम लिया जा सकता है। यद्वाले के इस कला-आन्दोलन का प्रभाव समस्त भारत के चित्रकारों पर पड़ा और भारत के सभी हिस्सों में यूरोपीय चित्रकला की शैली में भारतीय विधानों को दर्शित करने की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती रही।

आधुनिक भारत की चित्र-शैलियों पर राजनीति का विशेष प्रभाव रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के बाद ब्रिटिश साम्राज्य का पूर्णाधिपत्य हो जाने पर भारत के विभिन्न अञ्चलों में विदेशी सत्ता के विरोध में जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुए, भारतीय चित्रकला पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस राष्ट्रीय चेतना ने कवियों, कलाकारों, साहित्यिकों, पत्रकारों और राजनीति के नेताओं को एक सर्वथा नई दिशा की ओर मोड़ा। इन आरम्भिक कला-कृतियों में जो दुःख, उत्पीड़न, अपमान, घृणा, निराशा और विपाद की भावनाओं का प्रायः दिखलाई देता है, उसका एकमात्र कारण यही राष्ट्रीय जागृति थी। अमनीन्द्र और गगनेन्द्र, इन टैगोर-गुरुओं के अतिरिक्त विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनीराय, सुधीर खास्तगीर आदि ने उक्त राष्ट्रीय जागरण को अपनी कला-कृतियों में उतारा।

भारतीय कला की एक शाखा देश के चारों ओर विस्तारित जन-जीवन की वास्तविक समस्याओं को लेकर भी प्रकाश में आ रही है। इन कला-कृतियों में जीवन की यथार्थताओं के दर्शन हैं। समाज की आर्थिक विपमताओं के कारण जो एक महान् द्वैधीभाव आ गया है, उससे उत्पन्न परिस्थितियों का चित्रण करना भी आधुनिक कला का एक विषय है। ग्राम्य-जीवन की ओर भी आधुनिक कलाकार सजग है। बुद्धिजीवी वर्ग का असन्तोष और शिक्षित बेकारों की जो दुर्दशा है उसके भी व्यंग्यचित्र आज निर्मित हो रहे हैं।



में समर्थ हो सका है। अपनी दुस्साध्य साधना के बल पर उसने निराकार को साकार, असीम को ससीम, अपार्थिव को पार्थिव और अज्ञेय को ज्ञेय रूप में बाँध देने की निपुणता प्राप्त की है।

भारतीय कलाकारों ने जो देवी-देवताओं की काव्यनिक कृतियों का निर्माण करने में अधिक दिलचस्पी दिखाई है, उसका कारण उनके सात्विक मन की सादगी थी। उन्होंने सावयव सौन्दर्य को छोड़ कर ओ निरवयव एवं रसहीन देव-अनुकृतियों का चित्रण किया है, एक प्रकार से उनका वह अनन्त को सीमित सीमा-रेखाओं में बाँध देने का अपूर्व यत्न था। उनके सोचने-विचारने और अपने भावों को उतारने का दृष्टिकोण बहुत ऊँचा था।

कवि के विचारान्कन का माध्यम भाषा है और कलाकार के सावांफन का माध्यम कला। कला भी एक भाषा है। वही कला सार्थक है, जो अपने भीतर निहित भावों, संकेतों, उद्देश्यों और उपमानों को इस प्रकार सामने मूर्तिमान करके रख दे कि जिज्ञासु को पूर्ण सन्तोष हो सके। भारतीय कला इसी महान् ध्येय को लेकर आगे बढ़ी है।

भारतीय कला में सत्यं, शिवं और सुन्दरं की महती भावना ओत-प्रोत है। उसके आधार सत्यमय, परिणाम शिवमय और स्वरूप सौन्दर्यमय हैं। साधना और स्वाध्याय से निर्मित भारतीय कला के एक-एक संकेत को पाने के लिए सुदीर्घ अभ्ययन की आवश्यकता है। इसको हृदयंगम करने के लिए भारतीय कला-साहित्य के मूल निर्देशों को समझना पड़ेगा। अजन्ता के सुन्दर चित्र-कौशल में भारतीय साहित्य में निर्दिष्ट सभी विधि-विधान समाविष्ट हैं।

गुप्त-साम्राज्य

अजन्ता के अतुल कला-वैभव को अर्जित करने में गुप्त-साम्राज्य

का सर्वाधिक हाथ रहा है। इस दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि गुप्त-साम्राज्य की सीमाओं, परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का सर्वांगीण पर्यवेक्षण करने के बाद हम अजन्ता के कलाकोषों का रसास्वादन करें। वास्तविक बात तो यह है कि भारतीय साहित्य, संस्कृति या कला के किसी भी अंग का अध्ययन हमारा तब तक अधूरा ही रहेगा, जब तक कि हम भारतीय इतिहास के इस महान् युग से परिचय प्राप्त न कर लें। गुप्त साम्राज्य के सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखने की यह है कि प्राचीन भारत के राजवंशों का परिचय प्राप्त करने के लिए इतिहासकारों को जो दूर-दूर भटकना पड़ा है, गुप्त-साम्राज्य के सम्बन्ध में वैसी असुविधा नहीं हुई, क्योंकि गुप्त-शासकों के अनुवृत्त जानने के लिए तत्सम्बन्धी सामग्री अथाह रूप में उपलब्ध है।

इस महान् साम्राज्य की स्थापना का सुयश श्रीगुप्त को है, जिसका शासनकाल इतिहासकारों ने २७५-३०० ई० के बीच रखा है। इस साम्राज्य की आगदोर श्रीगुप्त के बाद उसके पुत्र घटोत्कच गुप्त और उसके अनन्तर घटोत्कच गुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के हाथ में गई, जिसका शासन-काल ३२०-३१५ ई० तक अर्थात् १५ वर्ष रहा। इसी चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद दिग्विजयी समुद्रगुप्त और तदनन्तर रामगुप्त के बाद, इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में उल्लिखित 'विक्रमादित्य' विरुद्ध से ख्यात चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७५-४१४ ई० के बीच गुप्त साम्राज्य का स्वामी नियुक्त हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद गुप्त शासकों की परम्परा कुमारगुप्त विक्रमादित्य, पुरुगुप्त प्रकाशादित्य, नृसिंह गुप्त, बालादित्य, कुमार गुप्त द्वितीय, बुधगुप्त और भानुगुप्त के शासन तक लगभग ५१० ई० तक चली रही। इसके बाद भी गुप्त-साम्राज्य की वंश-परंपरा के अन्तिम शासकों में विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य और शौद्रगुप्त द्वादशादित्य के नाम मिलते हैं, किन्तु उसके सम्बन्ध में

प्रकाश ढालने वाली प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का संप्रति अभाव है।

गुप्त-साम्राज्य का स्वर्णयुग

वीरभोग्या इस भारत-वसुंधरा का दीर्घ काल तक पृच्छद्वय शासन का स्वामित्व प्राप्त करने वाले गुप्त सम्राटों की वस्तुतः ऐसी असाधारण विशेषताएँ थीं, जिनकी तुलना में भारत के समस्त प्रभावशाली राजवंश भी फाँके पड़ जाते हैं। गुप्त साम्राज्य के उज्ज्वल यश को पृथ्वी के कोने-कोने में प्रसारित करने का पुरुषार्थ श्रेय उस युग की साहित्यिक देन, कलाभ्युत्थति और संस्कृति एवं शिक्षा को है। संस्कृत की तत्कालीन महान् कृतियों के साथ पुरुषार्थ होकर गुप्त साम्राज्य की कीर्ति-कथा अमर है। गुप्त साम्राज्य में संस्कृत भाषा और कला की अभ्युत्थति का पुरुषार्थ यश कारण यह था कि गुप्त सम्राट् स्वयमेव संस्कृतज्ञ और कलामर्मज्ञ थे। गुप्त साम्राज्य की मुद्राओं, अभिलेखों और राज्य-पत्रों को देख कर विदित होता है कि उस समय संस्कृत को राष्ट्रभाषा जितना सम्मान प्राप्त था।

धर्म के क्षेत्र में भी गुप्त राजाओं की नीतिपरायणता उल्लेखनीय है। गुप्त-साम्राज्य के शांतिमय वातावरण में अनुकूल परिस्थितियों को पाकर तत्कालीन भारत के प्रस्तुत तीनों धर्म ब्राह्मण, जैन और बौद्ध खूब फूले-फले। तीनों धर्मों के साहित्य ने अपना-अपना पूर्ण विकास कर लिया।

विश्वविख्यात नालन्दा महाविहार की गणना संसार के उन उच्चतम विद्यापीठों में की जाती है, जिनके द्वारा मानवता को सर्व-प्रथम ज्ञान का आलोक मिला। दूर-दूर के देशों के विद्यालिप्सु इस महान् विद्या-केन्द्र में आते और ज्ञान का अतुल्य वैभव साथ लेकर लौटते थे। यहाँ बौद्ध विद्याओं की पूर्ण शिक्षा दी जाती थी।

कालिदास, दिङ्नाग, अमरसिंह, धन्वतरि, आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त जैसे उद्भट महाकवि, कोशकार, आयुर्वेद-वृहस्पति, तार्किक एवं ज्योतिष-शास्त्र के विद्वानों के आविर्भाव का यह युग भारत की धरती का उज्ज्वल युग था ।

गुप्त सम्राट् न केवल साहित्य-मर्मज्ञ, विद्यासेवी, बड़े-बड़े कलाकारों के आश्रयदाता और शिक्षाविद् थे, वरन् वे स्वयं भी अनेक कलाओं में निपुण थे । प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की संगीतप्रियता के सम्बन्ध में लिखा है कि अपने गायन-वादन में उसने तुम्बुरु और नारद जैसे संगीतज्ञों को भी लजित कर दिया था । समुद्रगुप्त वीणावादन में सिद्धहस्त था, जिसके प्रतीक उसके सिक्के हैं ।

संगीत के अतिरिक्त चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला के क्षेत्र में भी गुप्त-युग बहुत बड़ा-चढ़ा था । अजन्ता का जगत्प्रसिद्ध कला-वितान गुप्तों की ही देन है, जिसका पूरा विवरण आगे प्रस्तुत किया जाएगा ।

वास्तुकला के क्षेत्र में भी गुप्तयुग बहुत उच्चशिखर पर था । शौंसी के देवगढ़ मन्दिर और कानपुर के भीतरगाँव मन्दिरों की भव्य वास्तुकला गुप्तयुग की अविस्मरणीय देन है । उक्त दोनों मन्दिरों की दीवारों में बड़ी निपुणता से वैठाई गई मृन्मयी मूर्तियों से विदित होता है कि उस युग में वास्तुकला अपनी पूर्णता पर थी । भीतरगाँव-मन्दिर की हजारों उत्खचित ईंटें और पकाई गई मिट्टी की खानें आज भी लखनऊ संग्रहालय में देखने को मिलती हैं ।

मूर्तिकला के निर्माण में तो गुप्तयुग बहुत ही उन्नत था । गुप्तकाल की तत्त्वकला अर्थात् भाष्कर्य शैली भारतीय कला-इतिहास के लिए अपूर्व देन थी । ग्रीक प्रभावों से उन्मुक्त कुषाण-युग में जिस गान्धार-शैली की शुरुआत हुई थी, गुप्तकाल में वह सर्वथा भारतीय रूप-रंग में परिवर्तित हो गई । गुप्तकाल में निर्मित अनेक दिव्य मूर्तियाँ न

केवल उसके धार्मिक अभ्युदय की मूर्चना देती हैं, अविशु तत्कालीन
 आन्तरिक कला की व्यापकता पर भी प्रकाश डालती हैं। भगवान्-मुद्ग की
 समाकल्पक धर्म-धर्म-प्रवर्तन-मुद्रा तत्कालीन भारतीय तत्त्वों के समाधारण
 कौशल का जीविन उदाहरण है। हजारों की संख्या में निर्मित कलावस्तु
 मृन्मयी मूर्तियाँ गुप्तकालीन कला-शिल्पियों के अपूर्व पाण्डित्य की
 परिचायिका हैं। सास्नाथ और मथुरा-संग्रहालय की मजीब मूर्तियों
 की देखकर इन कलाकारों की वास्तविकता को झोंका जा सकता है।
 गुप्तयुग की इन कृतियों में सर्जिताता, सादगी, गति और टेक्नीक की
 उत्तमता, सभी का एक साथ समन्वय है।

साहित्य, कला और मंशुति की इस त्रिवेणी के पवित्र संगम ने
 ही गुप्तयुग को 'स्वर्णयुग' की क्वालि प्रदान की है। भारतीय इतिहास
 के इस स्वर्णयुग की कीर्ति-व्यापकता को धरती के कोने-कोने तक विस्तारित
 करने का एकमात्र श्रेय अजन्ता के महान् कला-चैनस को उपलब्ध है,
 जो कि हमारे इस लेख का प्रमुख विषय है, और जो संसार के कला-
 प्रेमियों, पर्यटकों एवं इतिहासकारों की जिज्ञासा का एक महत्वपूर्ण
 केन्द्र रहा है।

बौद्ध-कला

अजन्ता के चित्रों की सारी क्वालि बौद्धकला पर आधारित है।
 इसलिए अजन्ता की चित्रकला का पर्यवेक्षण करने से पूर्व बौद्धकला के
 सम्वन्ध में कुछ ज्ञान लेना आवश्यक है।

भगवान् तयागत के अनुयायियों में व्यापारी-वर्ग एवं धनिक-वर्ग
 भी था, जिसके बौद्धानुराग की देन हमें असंख्य विहारों के निर्माण
 और कलापूर्ण भग्न-स्तूपों की रचना में भारत के ओर-छोर तक मिलती
 है। मध्यप्रदेश के साँची और भरहुत, दक्षिण में अमरावती और

नागार्जुनी कौंडा तथा पश्चिम में कालें और भज के चैत्यों एवं स्तूपों को इस प्रसंग में उद्धृत किया जा सकता है। चारिकाओं के रूप में भ्रमण करने वाले दया, ममता और करुणा के प्रतीक भिक्षु-भिक्षुणियों के आवास के लिए अशोक जैसे गृहस्थ उपासकों ने इन चैत्यों, स्तूपों और विहारों का निर्माण करवाया। कालें, कान्हेरी, भज और अजन्ता के भग्न शिल्प में जातककथाओं के आधार पर तथागत की गौरवगाथा एवं उनके सिद्धान्तों के निर्देश अंकित किए गए। भारत के उत्तर पश्चिम की इसी बौद्ध कला के साथ यूनान और रोम की कला-शैलियों का सम्मिश्रण होने से गांधार नामक एक नवीन शैली की विवृति हुई।

भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायी अर्हत सन्तों की स्मृति में बनाए गए चैत्यों एवं स्तूपों की संख्या गणनातीत और उनके निर्माण की शैलियाँ भी अनेक हैं। चैत्य कहते हैं 'चिता' के लिए और चिता के अवशिष्ट अंश (अस्थि-अवशेष) को गर्भ में रखकर जो स्मारक निर्मित किया जाता है उसे ही चैत्य कहा जाता है। स्तूप का अर्थ एक टीला है। स्तूप और चैत्य वस्तुतः उन स्मारकों को कहा जाता था, जिनमें किसी भी महापुरुष की अस्थियाँ, राख, दाँत या घाल गाढ़ कर रखा जाता था। किन्तु इन स्तूपों और चैत्यों में यह आवश्यक नहीं था कि वहाँ स्मृति-स्वरूप किसी स्मरणीय महापुरुष के अवशेषों को गाढ़ कर रखा ही जाए, बल्कि वह तो एक यादगार थी, जिसको कि जो नाम दिया जाता, वही उसका स्मारक था।

सांची के स्तूप का निर्माण तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में अशोक ने किया था। सांची और भरहुत के स्तूपों की गणना सबसे प्राचीन है, जिनका वृत्ताकार यहिर्भाग पाषाण वेष्टनियों से निर्मित है।

नेपाल की सीमा पर अवस्थित पिपरावा का हूँटनिर्मित स्तूप संभवतः पाँचवीं शताब्दी के मध्य में बनाया गया था। सांची और

भरहुत के स्तूपों की यमाष्ट का प्रभाव नेपाल के स्वयंभूनाथ के मंदिर निर्माण में और अनुराधापुर के धूपराम शायोगा (२४६ ई० पू०) में दिखाई देता है। यही प्रभाव जावा के योरोपुदूर, सिंहल के पोलोन्नरवा के प्रासाद और यमा के मियुन स्तूपों पर लक्षित होता है।

स्तूपों और चौखों एवं विहारों के अतिरिक्त यौद्ध कला की प्रसारण हमें मन्दिरों एवं कांस्यमयी मूर्तियों में भी दिखाई देती है। मारनाथ का सिंह शीर्ष स्तम्भ तथा रामपुरवा का पापाणनिर्मित धूपम सौर्ययुगीन मूर्तिकला की श्रेष्ठ अभिव्यक्तियाँ हैं। परम्परा और पटना की उपलब्ध यज्ञ-छवियाँ भी इसी प्रकार की हैं। कांस्यमयी मूर्ति-निर्माण की वैभवशाली परम्परा मॉची, भरहुत, अमरावती और नागाहंन कोला के मूर्तिशिल्प में आज भी जीवित है। तमिलनाडु में घातु की कुछ शुद्ध मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई थीं।

शुद्ध मूर्तियों के निर्माण की व्यापक परम्परा का प्रवर्तन गुप्त युग में हुआ, जिसके साक्षी उपकरण मथुरा, सारनाथ और बिहार में सुरक्षित हैं। नवम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक की मृण्मयी, पापाणमयी और कांस्यमयी मूर्तियों का अधिकता से निर्माण हुआ। नालन्दा और कुर्किहार से उपलब्ध इस प्रकार की मूर्तियों में भाव एवं रूप दोनों का अपूर्व योग है। नालन्दा के मूर्ति-निर्माण का दाय जावा, सुमात्रा, नेपाल और बर्मा तक पहुँचा। यौद्ध काल की कुछ कांस्य मूर्तियाँ दक्षिण में, विशेषकर तमोर में भी उपलब्ध हुई हैं।

यौद्ध रुचियों से प्रभावित भारत के इस मूर्तिशिल्प को बौद्ध ज्ञान के अभीष्ट भिक्षुओं ने एशिया के कोने-कोने में फैलाया और मूर्ति-निर्माण की यह परम्परा सारे एशिया में वर्षों तक अक्षुण्ण रूप में बनी रही, जिसके उपलब्ध अवशेष आज भी इसके साक्षी हैं।

भारतीय भित्तिचित्रों की परम्परा

भारतीय भित्ति-चित्रों की अपनी अलग परम्परा है। भारतीय चित्रकला के उज्ज्वल इतिहास की शुरुआत भित्ति-चित्रों से ही होती है। दुनिया के किसी भी छोर में इनके मुकाबिले के चित्र आज तक नहीं मिले हैं। मध्ययुगीन भारत में जितने भी चित्र बने, उनमें भी वह सर्वाङ्गीणता एवं वह सहज स्वाभाविक अभिव्यञ्जन न आ सका। चित्रों के निर्माण में निःसन्देह मुगलकलाकारों ने कमाल की निपुणता हासिल की थी, किन्तु भारतीय भित्ति-चित्रों के मुकाबले में वे भी न आ सके। भारतीय चित्रकला के प्रामाणिक इतिहास का आरम्भ भारतीय भित्ति-चित्रों से होता है।

जोगीमारा

सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा के उपलब्ध भित्ति-चित्रों से भारतीय चित्रकला के प्रामाणिक इतिहास का आरम्भ होता है। इस गुफा के उपलब्ध अन्तर्लक्षों का अध्ययन कर पुरातत्त्वज्ञों एवं इतिहासकारों ने इन भित्ति-चित्रों का समय ३०० ई० पू० या इसके आसपास अनुमानित किया है। इसी गुफा के पार्श्व में अक्षित कुछ और भी चित्र-कृतियाँ हैं, जिनको सुरक्षित बनाये रखने के लिए ऊपर से कुछ मिट्टी की रेखाएँ खींची गई हैं, किन्तु निःसन्देह उनसे भारतीय चित्रकला के उज्ज्वल अतीत का प्रामाणिक इतिहास ज्ञात होता है। विद्वानों ने इन चित्रों में से कुछ का विषय जैन-धर्म बताया है।

अजन्ता

जोगीमारा के गुफा-चित्रों के बाद अजन्ता के चित्रों का क्रम आता है, जिनका निर्माण शुद्ध, कुपाण और गुप्तयुग में अर्थात् २०० ई० पू० से ६०० ई० तक के बीच हुआ। अजन्ता का प्रकृति-

वैभव आज भी इतना आकर्षक है कि वहाँ जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस बात की प्रशंसा किए बिना न रहेगा कि अजन्ता के उन महान् कला-पण्डितों ने अपनी साधना के लिए जिस स्थान को चुना, वह सर्वथा उपयुक्त था ।

अजन्ता की कुल मिलाकर २९ गुफाएँ हैं, जिनके दो भाग किए जा सकते हैं । स्तूप गुफाएँ और विहार गुफाएँ । पहले भाग की गुफाएँ प्रार्थना की दृष्टि से निर्मित हैं और दूसरे भाग की रहने और अध्ययन करने की दृष्टि से । सभी गुफाओं में चित्र घने हैं और वह भी एक ही शैली के, किन्तु याकी गुफाओं को छोड़ कर पहली, दूसरी, सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं के ही चित्र अब सुरक्षित रह सके हैं ।

अजन्ता की चित्र-कृतियों पर सैकड़ों देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा प्रकाश डाला जा चुका है और आज उनकी विधुति यहाँ तक बढ़ चुकी है कि उन्हें विश्व की सर्वोच्च कला-कृतियों में गिना जाने लगा है । इनकी प्रतिकृतियों की तो विदेशों में कई बार प्रदर्शनियाँ आयोजित की जा चुकी हैं । एशिया, यूरोप, अमेरिका आदि सभी देशों में अजन्ता की चित्रावली पहुँच चुकी है । इन प्रतिकृतियों पर हाल ही में न्यूयार्क यूनेस्को से १९५४ ई० में 'प्रिंटिंग्स आफ अजन्ता केल्ज' नाम से एक संग्रह प्रकाशित हुआ है ।

अजन्ता के चित्रों में गुप्त-शैली की प्रधानता है । गुप्त राजाओं का कला-प्रेम उनके चित्राङ्कित स्वर्णिम सिक्कों, सुन्दर मूर्तियों और भव्य मन्दिरों के निर्माण के रूप में हमारे सामने प्रकट है । अजन्ता की कृतियाँ उनके उत्कृष्ट कला-प्रेम के जीवित प्रमाण हैं । उनके अङ्कन में रेखाङ्कन में, रङ्ग-योजना में और वास्तविक विधान में कला की चरम परिणति सर्वत्र व्याप्त है ।

अजन्ता की इन विहार-गुफाओं में मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला का एकान्त संयोग समाविष्ट है। भक्ति, उपासना एवं प्रेम की त्रिवेणी का समन्वय भी अजन्ता की कला की एक अतुलनीय विशेषता है। भगवान् तथागत के जीवन-सिद्धान्तों की अविकल व्याख्या उनके शान्ति और अहिंसा के आदेश, इन विशालकाय प्रतिमाओं की मुखाकृति, अभय, भूमिस्पर्श एवं धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि मुद्राओं द्वारा जिस कुशलता से प्रदर्शित है, विश्व के कला-इतिहास में वह बेजोड़ है।

बुद्ध के जीवन दर्शन के दो आधार हैं : व्यक्ति और समष्टि। उनका दृष्टिमय जीवन नितान्त एकांगी समाधिस्थ योगी जैसा अन्तर्मुख की ओर प्रवृत्त हो रहा है। उनके इस जीवन के परिचायक थेरवाद, बौद्ध धर्म एवं प्रियदर्शी अशोक की धर्मलिपियाँ हैं, जिनके अनुसार बुद्ध असाधारण लक्षणों से युक्त होते हुए भी मनुष्य हैं, देवता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा समष्टिमय पक्ष 'बहुजनहिताय' पर आधारित है। उसमें प्राणिमात्र की कल्याणकामना एवं प्राणिमात्र की दुःखनिवृत्ति की उच्च भावना समाविष्ट है। इस दूसरी भावना में विश्वसेवा के उच्चादर्श विद्यमान हैं; जिनको क्रियारूप में उतारने का कार्य कुपाणवंश (जिसका स्थितिकाल पहली शताब्दी ईसवी से लगभग पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक पहुँचता है) और गुप्त-वंश (जिसकी स्थिति-सीमा ३२०-६५० ई० थी) ने किया। बुद्ध के जीवन-दर्शन के इन दो पक्षों में पहली परम्परा का विकास श्रीलंका, चर्मा एवं थाई देश में और दूसरी परम्परा का अनुवर्तन नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन, जापान आदि देशों में हुआ।

अजन्ता की महान् कला-मूर्तियों में भगवान् तथागत के जीवन-दर्शन के दृष्टिमय और समष्टिमय दोनों आधार गुम्फित हैं। एक ओर जहाँ

बुद्ध-जीवन की अन्तर्मुखी सर्वथा एकाकीपन से आविर्भूत प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं वहाँ दूसरी ओर 'यहुजनहिताय' की कल्याणकामना के भाव अजन्ता की कृतियों में व्याप्त हैं ।

अजन्ता का महान् कला-तीर्थ

मौर्य, शुंग, सातवाहन, हिन्दू, ग्रीक और कुषाण साम्राज्यों के बाद बृहद् भारत के एकछत्र शासन का अधिकार गुप्त राजाओं के अधीनस्थ हुआ । गुप्त-साम्राज्य के सुशासन का उज्ज्वल परिचायक एवं अमर प्रतीक अजन्ता का कला-वैभव भारतीय-कला के इतिहास में और वहाँ से भी बढ़कर विश्वकला के क्षेत्र में अपना बेजोड़ स्थान रखता है ।

भारतीय-कला का यह पावन तीर्थ-स्थल यमवई राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित है । अजन्ता की गुफाओं का निर्माण २०० ई० पूर्व के लगभग होना प्रारम्भ हो गया था और लगभग ७०० ई० की सुदीर्घ अवधि तक वहाँ पुनर्निर्माण, पुनरुद्धार एवं पुनःसंस्करण कार्य होते गये । सातवीं शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म के विलुप्त हो जाने के कारण अजन्ता का यह कला-वैभव और उसके अभीन्सु कलाकार चीन होते गये और गुप्तों का प्रभुत्व समाप्त हो जाने पर अजन्ता का आकर्षण और भी मन्द पड़ गया । लगभग १९ वीं शताब्दी के मध्य भाग में अजन्ता-कला की असलियत फिर सामने आई और तब से लेकर आज तक संसार के सहस्रों कला-यात्री भारत के इस महान् कला-तीर्थ का पुण्य दर्शन करके कृतार्थ होते गये ।

अजन्ता की चित्र-कला का सर्वेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उसकी चरम सीमा लौकिक जीवन की अपेक्षा अलौकिक सम्भावनाओं में हुई है । यह सही है कि अजन्ता का चित्रकार राजाओं, राजप्रासादों, नगरों, ग्रामों और सामान्य-असामान्य जन-जीवन के बहुत निकट है ।

किन्तु ये सभी बातें तो उसके लम्बे मार्ग के विधाम-स्थल हैं। उसकी मंज़िल, उसके उद्देश्य की निश्चित सीमा तो लौकिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। प्रकृति के तादात्म्य को ग्रहण करने और मानव की हास्य एवं विनोद की प्रवृत्तियों को उभारने का जो प्रयास अजन्ता की चित्रावली में दिखाई पड़ता है, वह तो अभीष्ट के लिये एक प्रलोभन मात्र है। एक ऐसा सस्ता विनोद कि जिसमें सहज ही में उलझ कर जिज्ञासु आगे-आगे बढ़ता जाय और अजन्ता की कला के महान् अतीन्द्रिय उद्देश्य, उसके चरमोत्कर्ष का पता लगाने के लिये ज्वर हो उठे, बेचैन हो जाये।

अजन्ता की चित्रकला का सौन्दर्य-बोध करने के लिये उसकी पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है। अजन्ता की चित्रावली में कई संशोधन, संस्करण और परिष्करण हुए हैं। उसमें हमें जो अनेकता का आभास होता है, उसका कारण यह है कि उसने अनेक हाथों का स्पर्श पाया है, जिससे कि उसमें सौन्दर्य-बोध की विभिन्न रुचियों का समावेश पाया जाता है। अजन्ता चित्रावली का अध्ययन करनेवाले कलाविद् विद्वानों की राय है कि उसमें लगभग बीस विचित्र शैलियाँ देखने को मिलती हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस भी कलाकार का इसमें हाथ लगा, उसी ने उसके रङ्गों, रेखाओं एवं आकृतियों को विकृत नहीं बरन् परिष्कृत किया है, क्योंकि वे सभी कलाकार अपने फ़न में पूरी तरह माहिर थे।

अजन्ता की चित्रावली में जीवन के अनेकमुखी तत्व समाविष्ट हैं। उसके निर्माताओं ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है। नगरों के विलासरत नागरिक, गाँवों में शान्त जीवन व्यतीत करते हुए ग्रामीण, भीख माँगते हुये भिखारी, मछली पकड़ते हुये मछुवे, शिकार

करते हुए व्याघ्र, युद्ध करते हुये सैनिक, राजभवनों में विलासरत राजा, राजमहिषियाँ सभी पर अजन्ता के चित्र-धितान की इन विविधताओं ने उनको सभी तरह की रुचियों के लिये आकर्षक बना दिया है। हर प्रकार की अभिव्यक्ति के पीछे जीवन का वृहद् रूप छिपा है, जिसकी एकान्त गति और परिणति आध्यात्मिक उन्नयन के अङ्क में जाकर पूरी होती है।

जैसा स्पष्ट किया गया है कि अजन्ता की कृतियों का निर्माण न तो एक समय में हुआ है और न ही उनको किसी एक व्यक्ति या शासन ने निर्मित किया है, बल्कि उसमें सातवाहन, शुङ्ग, वाकाटक, चालुक्य तथा गुप्त आदि विभिन्न राजवंशों की संस्कृति बोलती है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि अजन्ता के सारे कला-वैभव का अर्जन एवं वर्धन राज्याश्रय में ही सम्पन्न हुआ। हमें तो ऐसा लगता है कि अजन्ता की चित्रावली के निर्माण में स्वतन्त्र रूप से साहित्य और संस्कृति का प्रचार-प्रसार करनेवाले तत्कालीन विद्वानों का अधिक हाथ था। बौद्ध स्थविरों एवं कलाविद् आचार्यों ने भी अजन्ता के निर्माण में अपना पूरा योग दिया। इन बौद्ध भिक्षुओं में महायान-शाखा के भिक्षुओं की अधिकता थी। इतनी महान् कलाकृतियों के निर्माण में राज्याश्रित पेशेवर कलाकारों की अपेक्षा उन त्यागी, तपस्वी संन्यासियों की साधना अधिक दिखाई देती है, जिन्होंने यश-अपयश, हानि-लाभ और राग-द्वेष पर सर्वथा विजय प्राप्त कर ली थी। अजन्ता की चित्र-रचना में अक्षय सौन्दर्य और अमिट कला-नृणा का एकमात्र रहस्य भी यही है कि उसके निर्माता जीवन्मुक्त ऐसे सन्त, साधु, ऋषीर और संन्यासी थे, जिन्होंने उन तमसाच्छन्न गुफाओं में दीपक जलाकर या मशालों के प्रकाश में दिन एवं रात निरन्तर ध्यान कर विश्व को चकित कर देने वाले इतने महान् कला-मण्डप का निर्माण किया।

अजन्ता के चित्रकारों ने अपनी प्राणवंत रेखाओं द्वारा दर्शक को जैसे चित्रकला के साक्षात् स्वरूप का दर्शन करा दिया है। उनके अंग-प्रायंगों की दर्शनीय चक्राकृति (Modelling), प्रभावोत्पादकता (Values), उभार और स्थानोचित आस्फालन तथा आकुंचन बढ़ी विदग्धता से अभिव्यंजित किया गया है। रंगों की हल्काई और गहराई का तो समाकर्षण है ही, साथ ही रेखाओं की गठन में छाया और प्रकाश (Shade and Light) का संयोग भी बढ़ी सुन्दरता से दर्शाया गया है। हस्त-मुद्राओं द्वारा नानाविध भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन अतीव सौम्यता से चित्रित किया गया है।

हस्त-मुद्राओं का जितना लचीलापन अजन्ता की चित्रावली में दर्शित है, वैसा भारतीय कला की किसी भी शाखा में नहीं दिखाई देता है। नारी-छवियों का ऐसा निर्देशन अन्यत्र देखने को कम मिलता है। अजन्ता की नारी-मूर्तियाँ कला की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं।

इन चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इनमें चित्रकला और मूर्तिकला का उभयविध वैभव एक साथ समन्वित हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे अजन्ता के चित्रकारों ने अपनी सारी प्रतिभा को अजन्ता के चित्र-सौन्दर्य में समेट कर प्राणवन्त कर दिया हो।

अजन्ता के चित्र-चितान में नारी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह नहीं कि नारी को चित्रकार किसी विशेष दृष्टि से देखते थे अपितु यह कि अजन्ता में नारी विशिष्ट व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु एक सिद्धान्त के रूप में है जो सार्वभौम सौन्दर्य की प्रतीक है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि अजन्ता के चित्रकारों का सौन्दर्य-बोध

अपरिमित है। सर्वत्र जो सीमाहीन सौन्दर्य उसमें व्याप्त मिलता है, उसकी व्यंजना का साधन नारी है; जिसमें ऐंद्रिय आकर्षण की अपेक्षा आध्यात्मिकता का अधिक स्थान है। अजन्ता की नारी गौरव और गरिमा से भूषित आकर्षण का स्रोत है।

भारतवर्ष की गणना सभ्यता के प्राचीनतम केन्द्रों में है। मिस्र और ईराक की भाँति इस देश में भी ईसा से तीन-चार हजार वर्ष पहले सभ्यता का पुष्प प्रस्फुटित हुआ, जिसके स्मारक, गवेषकों की कुदाल ने हडप्पा, मोहनजोदड़ो आदि स्थानों में अभी कुछ समय पूर्व भूगर्भ से खोदकर निकाले हैं। सिन्धु-घाटी की इस विकसित नागरिक सभ्यता का अन्त लगभग सन् १५०० ई० पूर्व के हुआ। किस प्रकार हुआ, यह ठीक-ठीक निश्चित करना कठिन है। तत्पश्चात् आर्य जाति के लोगों ने नए सिरे से हिन्दुस्तान में सभ्यता का निर्माण प्रारम्भ किया। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के तत्त्व समूल नष्ट हो गए; बहुत-कुछ अंशों में वे बने रहे और भारतवर्ष के आगामी सांस्कृतिक विकास में उनका योग बहुमूल्य रहा परन्तु हडप्पा और मोहनजोदड़ो के अदृश्य हो जाने के पश्चात्, उनकी जीवनी शक्ति बहुत कम पड़ गई थी। आर्य लोगों ने नए सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश करने के साथ-साथ प्राचीन परम्पराओं में भी नवीन चेतना का संचार किया और इस प्रकार फिर से भारतवर्ष में सभ्यता का विकास सम्भव हो सका। यह पुनर्निर्माण का कार्य पूर्ववैदिक काल और उत्तर-वैदिक काल में स्थिर गति से आगे बढ़ता हुआ भगवान् गौतम बुद्ध और महावीर के आन्दोलनों से बल प्राप्त करता हुआ, अन्ततः मौर्य साम्राज्य के काल में पूर्णतया फलीभूत हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि मौर्यकाल में सभ्यता का पूरा-पूरा विकास तो हो चुका था, नागरिक तत्व भारतीय जीवन में फिर से पुष्ट

हो गया था, शिक्षा, साहित्य और दर्शन की परम्पराओं का पर्याप्त विकास हो चुका था, अन्तरदेशीय और अन्तर राष्ट्रीय व्यापार सुदृढ़ आधार-भित्तियों पर स्थापित हो चुके थे और भारतीय शासन-तन्त्र की रूपरेखा भी पूर्णतया निर्धारित हो चुकी थी; परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि इस काल तक हमें भारतवर्ष में चित्रकला के विकास का कोई असंदिग्ध प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। मध्य-भारत में पठार में कुछ गुहा-संश्रयों में ऐसे चित्र अवश्य मिले हैं, जिन्हें कुछ कला-समीक्षकों ने प्रागैतिहासिक काल का निर्णीत किया है परन्तु यह विवादास्पद है। प्रारम्भिक बौद्ध-ग्रन्थों में चित्रकारी का उल्लेख हुआ है परन्तु इनका रचना-काल भी इसी प्रकार विवाद का विषय है। तिव्वती लेखक लामा तारानाथ ने लिखा है कि सम्राट् अशोक के समय में महान् चित्रकारों ने भित्तिचित्रों का रचना की थी, परन्तु इस कथन की पुष्टि किसी स्वतन्त्र साक्ष्य से नहीं होती। मौर्य वंश-के राज्यकाल में भारतीय स्थापत्य और तत्त्वण का अपूर्व विकास हुआ, परन्तु चित्र-कला के क्षेत्र में भी कोई उल्लेखनीय प्रगति हुई हो, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। ऐतिहासिक युग में भारतवर्ष के चित्रकला के सर्वप्रथम उदाहरण जोगीमारा की गुफाओं में से मिलते हैं जो कि सम्भवतः ई० पू० की दूसरी अथवा पहली शताब्दी में हैं। इन चित्रों में मानवीय आकृतियों में जानवरों, प्रासादों और ज्यामितिक डिज़ाइन आदि का अंकन हुआ है, जिनमें पर्याप्त कला-श्लाघ्य परिलक्षित होता है।

इसके बाद इतिहास हमें अजन्ता की ओर ले जाता है जो भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ कला-तीर्थ है। वैसे तो अजन्ता की २८ या २९ गुफाओं में स्थापत्य, तत्त्वण और चित्रकला तीनों का अपूर्व सामञ्जस्य है, परन्तु उसकी अन्तरराष्ट्रीय ख्याति मुख्यतया उनके चित्रों पर ही

आधारित है, जिन्हें देखने के लिये संसार के कोने-कोने से प्रतिवर्ष सहस्रों यात्री भारत आते हैं। इन गुफाओं का निर्माण ई० पू० दूसरी या पहली शताब्दी से लेकर ई० की सातवीं शताब्दी के मध्य तक के दीर्घकाल में समय-समय पर हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रारम्भिक गुफाओं का तत्पण ई० की दो शताब्दी पूर्व से पश्चात् की दो शताब्दियों तक हुआ। तत्पश्चात् लगभग दो सौ वर्ष या ढाई सौ वर्ष तक, किसी अज्ञात कारणवश, कार्य स्थगित रहा और फिर द्विगुणित उत्साह के साथ लगभग सन् ४५० से सन् ६५० तक चलता रहा। अजन्ता की कलाकृति इस प्रकार दो स्पष्ट युगों में विभाजित की जा सकती है। दोनों युगों में कलाकारों को प्रेरणा बौद्धधर्म से प्राप्त हुई। अजन्ता वस्तुतः बौद्ध कला का ही केन्द्र है। पहले काल के कलाकार हीनयान मत के अवलम्बी थे और दूसरे काल के महायान के। अजन्ता का मण्डप उन्हीं की प्राणवन्त साधना और श्रद्धा का परिणाम है।

विषय की दृष्टि से हम अजन्ता की चित्रावली को तीन प्रमुख भागों में बाँट सकते हैं। कुछ चित्र ऐसे हैं, जिन्हें कथा-चित्र कहा जा सकता है जिनमें बौद्ध जातक ग्रंथों से या भगवान् बुद्ध के जीवन से किन्हीं सर्वविधित घटनाओं का कथा के रूप में निरूपण किया गया है। चित्रों का अधिकांश इसी प्रकार है। ऐसे चित्र सम्भवतः कई दलों में विभक्त करके चित्रित किये गये हैं, जो घटना के तारतम्य से सम्बन्धित हैं। दूसरे जिन्हें हम पृथक् चित्र कह सकते हैं, किसी कथा के अङ्ग नहीं हैं। उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इनमें मुख्यतया बुद्ध और बोधितत्त्वों की आकृतियाँ, राजाओं और रानियों की आकृतियाँ, गन्धर्व इत्यादि की प्रतिच्छायाएँ और इसी प्रकार के विषय हैं। तीसरी कोटि में आलंकारिक चित्र आते हैं। वैसे तो प्रथम दो कोटियों में भी आलंकारिक

लघु चित्रों और डिजाइनों की कमी नहीं है। इन्हीं तीन प्रकार के चित्रों से मिलकर अजन्ता के चित्र-वैभव की सृष्टि की गयी है।

तीनों कोटियों की अपनी विशेषताएँ हैं और तीनों में ऐसे चित्र सम्मिलित हैं जो अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। उदाहरणार्थ कया-चित्रों में गुफा-संख्या १० के छुदन-जातक का चित्र है, जिसका घोटन अब एक अवशिष्ट हस्ती-समूह से होता है। इसी में एक ओर एक विशाल जनसमूह का अङ्कन किया गया है, जिसमें सशस्त्र सैनिक और नारियाँ भी सम्मिलित थे। यह चित्र अब अधिकांशतः मिट चुका है, परन्तु जो कुछ बचा है, उससे कलाकार के असाधारण दाक्षिण्य का स्पष्ट परिचय मिलता है। इसी प्रकार ब्राह्मण-जातक इत्यादि शिवी जातक, मातृपुरु-जातक, शरभ-जातक इत्यादि का भी चित्रीकरण किया गया है और बुद्ध के जन्म, सप्तपदी, तपस्या, निर्वाण, भार-विलय इत्यादि घटनाओं को तूलिकावद्ध किया गया है। जैसा हम कह चुके हैं, इस प्रकार के चित्र कई खण्डों में विभक्त हैं, जिनमें धारावाहिकता है। स्थान की कमी के कारण इनमें भीड़-भाड़ दिखलाई पड़ती है, परन्तु इसके कुप्रभाव को दूर करने के लिए प्रधान पात्रों को अधिकांशतः फोर ग्राउण्ड में और दूसरों से अपेक्षाकृत बड़ा बनाया गया है।

कला की दृष्टि से दूसरी कोटि के चित्र इन चित्रों की अपेक्षा उत्कृष्टतर हैं। उदाहरणार्थ गुहा नं. १ में बोधिसत्व पद्मपाणि का जगत्-प्रसिद्ध चित्र है, जिसकी तुलना योग्य समीक्षकों ने सिस्तीन चैपेल में मिलनेवाली मैकेल एंजिलो की कृतियों से की है। बोधिसत्व के शरीर की किञ्चित् तिर्यग् भङ्गिमा और मुख की कर्णार्द्र मुद्रा देखने योग्य है। कहा जाता है कि जिस अंग्रेज व्यक्ति ने सूअर के पीछे भागते हुए, सर्वप्रथम अजन्ता का पता लगाया था, वह इस चित्र को देखकर स्तम्भित रह

गया था। महायान-मत में बोधिसत्व अपरिमित करुणा और सौहार्द की मूर्ति माने जाते हैं। कहा जाता है कि वे स्वयं जब चाहे निर्वाण अर्थात् पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु वे कभी ऐसा नहीं करते। उनका जीवन 'सर्वजनहिताय' और 'सर्वजनसुखाय' है। जब तक ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसा प्राणी रहेगा जो निर्वाण न पा सका हो, तब तक वे स्वयं निर्वाण ग्रहण नहीं करेंगे और अपने सञ्चित पुण्य का दूसरों में वितरण करते रहेंगे, दूसरों के लिए संसार का कष्ट झेलते रहेंगे। बोधिसत्व की यह उदार कल्पना इस चित्र में सजीव हो उठी है। आदर्श और भावप्रवणता का ऐसा विलक्षण संयोग शायद ही कहीं अन्यत्र देखने को मिल सकेगा। दूसरे प्रमुख विशिष्ट चित्रों में मरणासन्न राजकुमारी, कृष्णवर्णा और शृंगार करती हुई राजकुमारी का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से प्रथम की तो कलाविदों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जीवन की अन्तिम घड़ियों में राजकुमारी की देहयष्टि में मृत्यु की अलसता जैसे स्पष्ट दिखाई पड़ती है और साथ ही पास बैठी हुई दासियों की करुण और आर्द्र मुद्रा दर्शनीय है। माता-पुत्र नामक चित्र में भी भावाङ्कन का विलक्षण चातुर्य दिखलाई पड़ता है। सम्मुख खड़े हुए भगवान् बुद्ध तो आर्कषक हैं ही, इनसे भी अधिक आकर्षण का केन्द्र स्वयं माता और पुत्र हैं जो एकटक असीम श्रद्धा और भक्ति के साथ भगवान् की ओर निहार रहे हैं। हैबेल साहब ने इस चित्र की मुलना वेलिनी के चित्रों से की है और श्री लारेन्स विनियोन के शब्दों में यह ऐसी कृति है, जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

आलङ्कारिक चित्रों की विषयावली बड़ी विविध है। प्रकृति की असीम सम्पदा से चुन-चुन कर कलाकारों ने उपकरणों का विन्यास किया है। पशु, पक्षी, फल, फूल, घृच, छताएँ, बादल, नदियाँ, पहाड़, जङ्गल सभी को अलङ्करण के लिए काम में लाया गया है। मानवी

आकृतियों और ज्यामितिक डिज़ाइन भी यत्र-यत्र काम में लाए गए हैं। पशुओं में बैल, बन्दर, लंगूर, हाथी इत्यादि का प्राधान्य है। गुहा नं. १ के कोष्ठक में दो लड़ते हुए बैलों का जो लघु चित्र है, वह अपनी शैली की एक अनुपम कृति है। पक्षियों में मोर, तोता, हंस, कोयल, हरियल इत्यादि बार-बार आए हैं। फलों में आम, अंगूर, अजीर, शरीफ़ा, नारियल, केला इत्यादि का अपूर्व दक्षता से चित्रण किया गया है। फूलों में कमल का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। कहा जाता है कि यदि कलाकारों ने इस प्रकार केवल फलों के ही चित्र बनाए होते, तब भी प्रसिद्धि के भाजन हो सकते थे।

यह उचित ही है कि अजन्ता के कला-मण्डप को संसार-व्यापी यश प्राप्त हुआ है। सर जार्ज वाट जैसे कुछ लेखकों को अजन्ता की कला में कोई विशेष घात नहीं दिखलाई पड़ती है परन्तु अन्य योग्य समीक्षकों ने इसकी गणना विश्व की श्रेष्ठतम कृतियों में की है। ग्रायफिथ लेडी हैरिंगम, लारेन्स विनियोन, कई ख्यातनामा मनीषियों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है और उस जागृतिकालीन यूरोप की चित्रकला से भी इसको श्रेष्ठतर ठहराया है। अतएव यह देखना चाहिए कि सामूहिक रूप से अजन्ता में वे क्या गुण हैं, जिनके कारण उसको यह प्रभूत श्रेय मिल सका है। चित्रावली का विश्लेषण करने से पता लगता है कि इसके आकर्षण अथवा उत्कृष्टता के प्रमुख स्रोत मुख्यतया निम्नलिखित हैं :

१. भाव-प्रवणता : हार्दिक और मानसिक भावनाओं की प्राञ्जल व्यञ्जना ही अजन्ता की चित्रकला का सर्वश्रेष्ठ गुण और उसके यश का प्रमुख आधार है। शान्ति, करुणा, उल्लास, स्थिरता, सौहार्द, भक्ति, अलसता, विकलता इत्यादि का समीचीन व्यक्तीकरण अजन्ता में हुआ है। पशुपाणि बोधिसत्व की करुणा, मरणासन्न राजकुमारी की अलसता और उसके अनुकरण की विकलता, भगवान् बुद्ध की मुद्रा की शान्ति,

माता और पुत्र की श्रद्धा, सभी ऐसे अनमोल रत्न हैं, जिन्हें कलाकारों ने अपने श्रद्धालु हृदयों की गहराई से ढूँढ़ कर निकाला है। वस्तुतः यह भावप्रवणता ही अजन्ता की आत्मा है, जिसके बिना उसकी कला निष्प्राण काया की भाँति त्याज्य होती। यह सर्वविदित है कि भगवान् बुद्ध के धर्म में अहिंसा, मैत्री, करुणा, सुदिता और उपेक्षा में उच्च गुणों पर अत्यधिक जोर दिया गया है और इन्हीं से सम्बन्धित भावना अजन्ता की बौद्ध कला में है।

२. रेखा-सौष्टव : कलाकारों का रेखाओं पर असाधारण अधिकार था। चित्रों के Modelling, relief, values or light तथा Shade के लिए पूर्ण दक्षता के साथ रेखाओं का प्रयोग किया गया है, जिनमें कहीं भी भारीपन या सङ्कोच दृष्टिगोचर नहीं होता।

३. रङ्गों का सामञ्जस्य : अजन्ता की एक मात्र विशेषता है रङ्गों का सामञ्जस्य, जैसा कि श्री एक्सेल जार्ज का कहना है : अजन्ता में रङ्ग इसी विस्तार के साथ अन्य देशों के प्राचीन चित्रों की अपेक्षा गहरे परन्तु शुद्ध हैं। गेरुआ, रामरज, काजल, हरे और नीले रङ्ग ही विशेष कर प्रयुक्त किये गए हैं परन्तु रङ्गों के Combination में पूरे विवेक से काम लिया गया है, जिस कारण चित्रों में अपरिमित विविधता उत्पन्न हो गयी है। रंग गहरे होने पर भी उनमें कहीं भारीपन नहीं आने दिया गया है।

४. रुढ़िहीनता : अजन्ता के चित्रकार पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। विषयों की पुनरावृत्ति बहुत हुई है, परन्तु विभिन्न चित्रकारों ने अपने-अपने ढङ्ग से अङ्कन किया है। अनेक विशिष्ट शैलियाँ अजन्ता में दृष्टिगोचर होती हैं। लेडी हेरीहाक का कथन है कि केवल रेखाओं की विभिन्नता के आधार पर ही अजन्ता में कम से कम बीस शैलियाँ निर्धारित की

जा सकती हैं और यदि रङ्ग-सामञ्जस्य (Colour scheme) पर ध्यान दिया जाय तो इससे भी कई अधिक । अजन्ता की चित्रकला केवल एक साँचे में बँधी हुई—अनुकृति—न होकर, कलाकार की वास्तविक उदात्त कलावृत्ति का परिणाम है । उनकी आन्तरिक प्रेरणा का प्रत्यक्ष रूप है । रुढ़ियद्धता अजन्ता में यदि कहीं दिखाई पड़ती है तो केवल आलङ्कारिक चित्रों में ही—परन्तु यहाँ भी बहुत-कुछ मौलिकता के दर्शन हो ही जाते हैं ।

५. कठिन नीतियों का चित्रण (Delineation of difficult poses) : यह भी अजन्ता की चित्रावली का एक विशेष गुण है । उदाहरणार्थ पाँव मोड़े हुए खेमे के सहारे खड़ी एक स्त्री और झूला झूलती हुई एक मात्र स्त्री के चित्रों की समीक्षकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।

६. जीवन का प्रतिबिम्ब : अजन्ता में कला-यात्री को जीवन का हर पहलू दिखाई पड़ता है । नगरों में विलासरत नागरिक, गाँवों में शान्त जीवन व्यतीत करते हुए ग्रामीण, भीख माँगते हुए भिखारी, मछुए, शिकार खेलते हुए व्याध, युद्ध करते हुए सैनिक, प्रासादों के निवासी, राजा और रानियाँ, सभी अजन्ता में देखे जा सकते हैं । इसी कारण अजन्ता को कभी-कभी गुप्तकालीन भारतीय जीवन का विश्वकोष भी कहा जाता है । जो दर्शक कला में विशेष रुचि नहीं भी रखते हैं, उनको भी अजन्ता का यह पहलू आकर्षित किए बिना नहीं रहता ।

७. हस्त-मुद्राओं द्वारा भाव-प्रदर्शन : भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अजन्ता में जिन उपादानों का प्रभ्रय लिया गया है, उनमें हस्त-मुद्राएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं । यद्यपि यह ठीक है कि इस दृष्टि से

अजन्ता की चित्रकला

३१६

मुद्र की मंगिमा और नेत्रों के लास को ही प्राधान्य प्राप्त है, परन्तु हस्त-मुद्राओं का महत्व भी इस दृष्टि से कम नहीं है। शास्त्रों के मुद्राओं के प्रायः सभी प्रकार यहाँ दृष्टिगोचर होते हैं और उनसे गति, स्थिरता, मन्द्यता, चापल्य, आलोचन इत्यादि का पूरा-पूरा परिलक्षण होता है। हस्तमुद्राओं का क्षेत्र केवल चित्रकला तक ही सीमित नहीं है, प्रस्तर मूर्तिकला और मृत्पुनर्निर्माण कला में भी इसका उपयोग बहुत किया जाता है।

अजन्ता की चित्र-कला का महत्व प्राश्न्य और चिरन्तन है। इसका सृष्टिकाल यद्यपि आज से लगभग तेरह सौ वर्ष पहले समाप्त हो चुका था, परन्तु फिर भी उसकी नवीनता में कोई कमी नहीं आई है। आधुनिक युग में भी अजन्ता कला की प्रेरणा का एक महान् स्रोत है। अनेक रघातनामा चित्रकारों ने अपनी कला को इस पर आधारित करने की भी चेष्टा की है। विशेषकर स्वर्गीय डा० अचनीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में तो बंगाल में, और उनके प्रभुत्व से सम्पूर्ण भारत में ही, एक ऐसी कला-शैली का बीसवीं शताब्दी में प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी धारणा और धार्य रूप दोनों अजन्ता के ही हैं, जिसको वस्तुतः अजन्ता का पुनर्जागृत स्वरूप ही कहा जाता है। कला के पारसी और उपासक जब तक यत्न रहेंगे, तब तक अजन्ता की महिमा भी अधुण्य घनी रहेगी।

अजन्ता के स्वरूप शिल्प की विरासत : भारतीय गुफा-चित्रों की इस परम्परा का प्रतिनिधित्व अजन्ता के बाघ याव की गुफा की कला में देखने को मिलता है। बाघ की गुफाओं के इन भित्तिचित्रों का निर्माण लगभग ६००-१००० ई० के बीच हुआ। बाघ की ये मध्य गुफाएँ मध्यप्रदेश खालियर में हैं, जिनकी संख्या ९ है।

बाघ के बाद घादामी-गुफाओं का क्रम आता है। चम्बई के अहोल नामक स्थान के पास घादामी की गुफाएँ वर्तमान हैं। यहाँ पर चार गुफा-मन्दिर चालुक्य राजाओं ने निर्मित करवाए थे। घादामी के गुफा-मन्दिरों के भित्तिचित्र अपने युग की सर्वोत्कृष्ट अवलोकनीय वस्तु हैं। यहाँ के चित्रों में नारी-सौन्दर्य का अंकन उच्च कोटि का है।

पाघ और घादामी के बाद सितवनवासल के भित्तिचित्र उल्लेखनीय हैं। यह स्थान मद्रास से तंजौर के निकट स्थित है। सितवनवासल में पल्लव-नरेश महेन्द्र वर्मा प्रथम और उसके पुत्र नरसिंह वर्मा (दोनों का समय ६००-६५० ई०) ने कुछ गुफा-मन्दिरों का निर्माण करवाया था, जिनके भित्तिचित्र यदे ही उच्चकोटि के रहे होंगे। इन चित्रों की शैली अजन्ता की शैली से पूर्ण साम्य रखती है। इन चित्रों में भाव-प्रदर्शन की मुद्राएँ अति ही मोहक हैं। इनमें जैन-धर्म से सम्बद्ध भी कुछ चित्र हैं।

भारतीय भित्तिचित्रों की गणना में एलोरा के चित्रों का एक निजस्व है। यह स्थान अजन्ता से लगभग ५० मील की दूरी पर चम्बई राज्य में ही स्थित है। एलोरा का चित्र-वैभव अपने ढंग का अलग है। एक पूरे के पूरे पहाड़ को काटकर उसमें इन अद्वितीय मन्दिरों का निर्माण किया गया है। ये चित्र आठवीं से दसवीं शताब्दी के बीच के हैं। इन मन्दिरों के भित्ति-चित्रों में कैलाशनाथ, लोकेश्वर, इन्द्र-सभा और श्रीगणेश के चित्र अधिक आकर्षक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एलोरा की चित्र-रचना से अजन्ता की चित्र-शैली का हास होने लग गया था।

इस प्रकार भारतीय चित्रकला और विशेषतः अजन्ता का कला-वितान विश्व के कलामंच पर अपना पृथक् स्थान रखता है।



पहाड़ी चित्र-शैली : दिशाएँ और संभावनाएँ

इस घरती पर आकर मनुष्य ने अपने विचारों, संस्कारों और अनुभवों का परिष्करण करना कब से आरम्भ किया, इसका साक्ष्य देने वाले इतिहास के विभिन्न पहलुओं में कला-कृतियों का प्रमुख योग है। दुनिया के इतिहासकारों की गवेषणाओं एवं पुरातत्वज्ञों के निष्कर्षों से अब यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य इस घरती पर कलाकार होकर उतरा था। कदाचित् यही कारण है कि कला के प्रति अपनी जन्म-जन्म की अभिरुचि को मनुष्य आज तक भी नहीं मुला पाया है।

भारत की सदाबहार वास्तव्यतामय धरती का प्रभाव उसके कला-धरातल पर भी स्पष्ट अंकित है। विभिन्न युगों की बुद्धा-बुद्धा परिस्थितियों का दाय भारत के व्यापक कलाग्रन्थ की चट्टान-दीवारियों पर अपना चिह्नित इतिहास समेटे अपनी कहानी को स्वयं ही प्रता रहा है। भारत के इन सुदृढ़ कलाग्रन्थ की पूरी परिष्कृता मन्त्रालय तिरु धर्मर उसके एक छोटे से कण का पर्यवेक्षण कर देना मात्र ही यहाँ हमारा अभिप्रेत है।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में मध्ययुग का अपना चेजोड़ स्थान रहा है। भारत में मुगल-मस्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद मध्ययुग की नींव पड़ी। अपने इन विदेशी स्वामियों की अधीनता में भारतवासियों को यद्यपि पर्याप्त अनुविषाणें उठानी पड़ीं, किन्तु यावर, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर जैसे दूरदर्शी एवं उदारमना शासकों के संरक्षण में जनता के भीतरी भय तथा उनकी धार्मिक कमजोरियों धीरे-धीरे जाती रहीं। उसका कारण मुगल शासकों की उदार नीति थी। अकबर में समन्वय की भावना अधिक थी। इन मुगल बादशाहों की एक यही गूढ़ी यह थी कि वे स्वयमेव कलाप्रिय और कलाकारों का आदर करने वाले थे। इनके कला-कक्षों में सैकड़ों कलाकारों ने आश्रय पाया था। इन कलाकारों में एक तिहाई मुसलमान और बाकी हिंदू थे।

लेकिन, औरङ्गजेब के कमजोर हाथों में जाते ही मुगल-मस्तनत का महान् वैभव सर्वथा क्षीण हो गया। उसकी मकीर्ण मनोवृत्तियों और छोटे कार्यों ने उसको एक अशुद्ध शासक होने से रोक दिया। इतना ही होता तो गनीमत थी। उसकी कलाकुत्सा एवं लक्ष्मीत स्वभाव के कारण जितने भी मुसलिवर या कलाकार उसके यहाँ संरक्षण पा रहे थे, वे भी एक-एक करके वहाँ से विदा होने लगे।

मुगल-चित्रकला के निर्माणकर्ता कलाकार अपने आश्रयदाता बादशाहों का अनुकूल रुख न देखकर अपनी कार्य-कुशलता के चल पर

विभिन्न राजवाड़ों में सरलता ही से शरण पा गये, पूरव में वे लखनऊ, पटना; उत्तर में काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल; पश्चिम में राजस्थान, पंजाब और दक्षिण में महाराष्ट्र, तंजोर एवं मैसूर तक के सुदूर भू-भागों में बसकर कला के क्षेत्र में नये प्रयोगों, नई निष्पत्तियों के निर्माण में जी-जान से जुट गये। यह समय चित्रकला के पुनरुत्थान का समय था।

भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व खूबियों को जन्म देने वाली पहाड़ी चित्र-शैलियों के आविर्भाव का समय भी यही है। पहाड़ी चित्रशैली की आवास-भूमि हिमाचल का विस्तृत भू-भाग—जम्मू, देहरी, गढ़वाल, पठानकोट, कुल्लू, चम्बा, बसौली, काँगड़ा, गुलेर, मण्डी आदि के पर्वतीय इलाके हैं। यद्यपि इन पर्वतीय इलाकों में भौगोलिक दृष्टि से कम साम्य है, फिर भी पहाड़ी चित्रकला के इतने व्यापक प्रभाव को देखकर आश्चर्य होता है।

यद्यपि पहाड़ी चित्रशैली का निर्माण सत्रहवीं शती के मध्यभाग ही में हो चुका था, किन्तु अठारहवीं शती में पहुँचकर ही उसने लोक-प्रियता हासिल की। पहाड़ी शैली को इस लोकप्रिय अवस्था में पहुँचाने में राजस्थानी शैली ने उसकी बहुत मदद की। यों भी कुछ कलाविद् विद्वानों ने पहाड़ी शैली को राजस्थानी शैली से उन्नत माना है, किन्तु यह विचारणीय है। यद्यपि दोनों चित्र-शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उनमें बहुत-कुछ आपसी साम्य है, फिर भी निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि उनका विकास स्वतन्त्र ढङ्ग से, अपने भौगोलिक घातावरण एवं अपने आवास की परिस्थितियों के अनुसार हुआ।

पहाड़ी चित्रशैली के पहले चिह्न यद्यपि पंजाब में प्रकट हुये, किन्तु हिमालय के विस्तृत अञ्चल में बसे हुये विभिन्न पहाड़ी प्रान्तरों में

उसका विकास एक ही समय में हुआ और यहाँ तक कि उसका हास भी लगभग एक ही साथ हुआ ।

पहाड़ी चित्रशैली के निर्माण में १७ वीं शताब्दी में निर्मित मुगल शैली के यथार्थवादी चित्रों का अतिशय प्रभाव दिखाई देता है । पहाड़ी कलम की रेखाओं के नुकीलेपन में और रङ्गों की सजघज में भी मुगल कला का दाय है । वास्तविकता तो यह है कि मुगलदरबारों से निराश्रित मुसलमानों के पहाड़ी राज्याश्रयों में बस जाने के कारण ही, उन्हीं के हाथों पहाड़ी शैली का निर्माण हुआ । इसलिये, पहाड़ी कलम में मुगल प्रभावों की सम्भावना कुछ अस्वाभाविक नहीं थी ।

पहाड़ी शैली के चित्र यद्यपि पुराणों, महाकाव्यों और काव्यों पर आधारित हैं; किंतु उनकी अधिकता हमें ब्रजभाषा के कवियों के काव्यों एवं कविताओं पर दृष्टांत-चित्रों के रूप में मिलती है । कुछ चित्र लोक-कला, लोक-साहित्य और लोक-आचारों, कुछ नायिका-भेद और बहुत-से उनके स्वरचित कवित्तों पर भी आधारित हैं । अजंता की चित्रावली में जीवनमुक्त साधु-संतों, महारमाओं, संन्यासियों और भिक्षुओं के जो एकान्त भाव दर्शित हैं, उनमें जो साधना एवं स्वतन्त्र कार्य-वृत्ति अभिव्यक्त है, पहाड़ी कला में भी कलाकार की वही आन्तरिक दृष्टि देखने को मिलती है । पहाड़ी शैली में भावों को सफलतापूर्वक उतारने की क्षमता, प्रत्येक पात्र के गति-ज्ञान की दृष्टि और प्राकृतिक घटनाओं का चित्रण बड़ी मार्मिकता से किया गया है ।

काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं को रंग, रूप और वाणी देने में पहाड़ी चित्रकारों ने असामान्य योग्यता दिखाई है । इसी प्रकार पद्म-पुष्पों, अष्टयाम, रागमाला, राग-रागिनियों और नायिकाभेद आदि के चित्रण में भी पहाड़ी कलाकारों की अपनी खूबियाँ पहाड़ी चित्र-शैली : दिशाएँ और संभावनाएँ

अलग ही चलती हैं । पहाड़ी प्रदेशों का तब तक अपना कोई उल्लिखित साहित्य नहीं था, इसलिए उन्होंने भी सूर, मीरा, केशव, विहारी आदि हिन्दी के भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन कवियों के ग्रन्थों को आधार बनाकर चित्रों का निर्माण किया । रामायण और महाभारत के भी उन्होंने दृष्टान्त-चित्र उतारे; पर प्रधानता उनकी नहीं रही ।

क्षीने वस्त्रों की ओट में पारदर्शक अंगों की सुघराई दर्शित करने के लिए उन्होंने यत्न नहीं किया, यह मार्ग तो उनकी कलम में जन्मजात था । पहाड़ी शैली के चित्रकारों में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि उन्होंने जिस भी विषय का स्पर्श किया, उसीको अपनी अनूठी सूझ-बूझ, अपनी अभ्यस्त लेखनी और अपने कौशल से हृदय तक पहुँचा दिया । यह जानकर आश्चर्य होता है कि दैनिक जीवन के छोटे-छोटे क्रिया-कलापों से लेकर पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, काव्य और कथा आदि सभी विषयों पर उन्होंने ढेर-ढेर चित्र बना दिए; और वे भी एक-से-एक उत्कृष्ट ।

पहाड़ी चित्रकारों की एक विशेषता चित्रों की पृष्ठभूमि में प्रसंगानुसार वातावरण को घाँघ देने में भी दिखाई देती है । विरह के भावों को दर्शित करने के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता है, संयोगवत्प्राप्त में वह सर्वथा विपरीत हो जाता है । इसी प्रकार शान्त, शृंगार, वीर आदि नव रसों के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण एक-सी विधियों पर नहीं किया जा सकता । पहाड़ी कलाकारों ने इन वारीक घातों पर बड़ा ध्यान दिया । कहीं भी उनकी कलम में यह भूल कभी देखने को नहीं मिलती ।

पहाड़ी चित्रशैली के निर्माणकर्ता कलाकारों के सम्बन्ध में कहा गया है कि पहाड़ी चित्रकारों ने हृदयगत भावनाओं और वास्तविक

अनुभवों को दर्शित करते हुए भावोद्रेक के बड़े सुन्दर चित्र आँके हैं। नायक-नायिकाओं की भी विविध मनोदशाएँ, केलि-क्रीड़ाएँ और जीवनोत्साह ज्यों-के-त्यों इन चित्रों में उतारे गए हैं। भाव और सौन्दर्य की अनुभूति के योग से उनके वर्ण्य-विषय बड़ी ही मधुरता और सच्ची लगन से चित्रित किए गए हैं। कहना न होगा कि ये पहाड़ी शैली के कलाकार अन्तर्दृष्टियों के निरूपक, कलागत सौन्दर्य के नाना भेदों के संवेदनशील द्रष्टा, लौकिक और अलौकिक प्रणय-लीलाओं एवं संयोग-वियोग की अन्तर्दृशाओं के मार्मिक चित्रेरे, प्रेमरससिक्त भीतर की उमंगों में पैठनेवाले और कला की चारु-रम्यता को रहस्यमय रंगों में संजोने वाले सच्चे, स्वच्छन्द कलाकार थे, संकरे वातावरण में पंख फड़फड़ाने वाले चन्दी नहीं।

इस दृष्टि से भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में मध्ययुग का और उसमें भी पहाड़ी चित्र-शैलियों का महत्त्वपूर्ण योग माना गया है। पहाड़ी कलाकारों ने जीवन में लघुत्व की भावना को स्थान नहीं दिया। यही कारण था कि उनका कलाकारजीवन सीमित परिवेश ही में जकड़ा न रहा। भारत ही में नहीं, विदेशों के विख्यात कलामवनों में भी कोई ऐसा नहीं बचा, जहाँ इन पहाड़ी चित्रकारों के चित्र सुशोभित न हों। यद्यपि उनके भौतिक शरीर काल के अन्तर में न जाने कहाँ, कय विलुप्त हो गए, तथापि उनकी कलाकृतियों में आज भी उनके यशस्वी जीवन की कहानी सुरक्षित है।



भारतीय नृत्यकला

सोधकर्ता विद्वानों के मतानुसार नृत्यकला की जन्मतिथि श्रुति-कालीन है; किन्तु आचार्य भरत (ई० पू० द्वितीय शतक) ही एक ऐसे विचारक दृष्टिगत होते हैं, जिन्होंने इस विषय की स्वतंत्र सत्ता प्रति-पादित की। 'भरत-नाट्यम्' के उल्लेखानुसार नृत्य और उसके परिपूरक अङ्गों—सङ्गीत एवं अभिनय—के आदिस्त्रष्टा स्वयं ब्रह्मा हैं। उन्होंने चारों वेदों—ऋक्, यजु, साम और अथर्व—से क्रमशः ध्वनि, अभिनय, सङ्गीत और रस का दोहन कर पृथक् पञ्चम वेद के रूप में मानव भाव के विनोदार्थ नाट्यवेद की सृष्टि की। यशस्वी कलाकार भरत और उनके सौ पुत्रों द्वारा नृत्यकला अभिनीत हुई और आगे चलकर मतङ्ग, कोहल

मह, सारङ्गदेव और भगस्य प्रभृति आचार्यों ने इस कला को पूर्ण स्थायित्व प्रदान किया ।

कला का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है, अतः वह अक्षुण्ण, अनन्त और शाश्वत है । भारतीय नृत्यकला की उद्गम भूमि शिवस्वरूप ब्रह्म के चिर-कल्याणकारी भावोद्बेक में है । शाश्वत आनन्द के प्रतीक एवं विराट् मानवीय सृष्टि के स्रष्टा शूलपाणि शङ्कर का लोकोपकारी स्वरूप ही भारतीय नृत्यकला का निजस्व है । शङ्कर का वही स्वरूप आज भी प्लोरा, पलिफेंटा, भुवनेश्वर तथा चिदम्बरम् आदि की मूर्तिकला में समाहित होकर हमारी सांस्कृतिक अभिरुचियों को अभिव्यक्तित कर रहा है । भारतीय कलाकारों ने नटराज शङ्कर का अनन्त रूप ही अपनी कलाभिलाषा का चिरन्तन विषय बनाया और स्वयं शङ्कर को शान्त रस का अधिष्ठाता देवता मानकर इतर आठ रसों में उसकी मानसिक प्रकृतियों की कल्पना की ।

आचार्य भरत भारतीय नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता हैं । 'भरत' नाम के तीन अक्षरों में ही भारतीय-नाट्यकला की संपूर्ण महनीयताएँ समाविष्ट हैं, शास्त्रकारों ने जिनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'भ' से अभिप्राय 'भाव', 'र' से अभिप्राय 'राग' और 'त' से अभिप्राय 'ताल' । इस अक्षरत्रयी में ही संपूर्ण भरतनाट्यम् का निष्कर्ष निहित है । भाव से आंगिक तथा सात्विक अभिनयों का ध्यान होता है और राग तथा ताल से वाचिक क्रियाओं का । भाव, राग और ताल ही नाट्यशास्त्र के प्रमुख तीन अङ्ग हैं, 'भरतनाट्यम्' में जिन पर गम्भीर प्रकाश डाला गया है ।

नाट्य, नृत्य और नृत्त-विषयक व्यापक मीमांसा नाट्यशास्त्रकार की असामान्य विद्वत्ता की परिचायिका है । इन तीनों का सूक्ष्म अन्तर

इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है। अनेक पात्रों के सहयोग से नर्तकी 'नाट्य' का निर्वाह करती है। 'नृत्य' कथावद् होता है और उसके द्वारा देवी-देवताओं, वीर-वीराङ्गनाओं के जीवन-रहस्य संकेतों के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं। भावप्रधान होता हुआ भी यह राग और ताल से वद्ध होता है। 'नृत' में ताल तथा गति की प्रधानता होती है और क्रमशः गति की तीव्रता में ताल सञ्चालित होता है।

भरतनाट्यम् के प्रधानतः तीन स्वरूप हैं—'जेठि स्वरम्' 'शब्दम्' और 'वर्णनम्'। इनका उपयोग क्रमशः संगीत, गीत और नृत्य के लिये किया जाता है। नर्तकी आरम्भ में समपाद स्थिति में खड़ी होकर हथेलियों को वन्दना की एक विशेष मुद्रा में ऊपर की ओर उठाती है और तदनन्तर बाद्य और ताल के अनुसार शनैः-शनैः पदपरिचालन करती हुई, अन्त में पृथ्वी पर पदाघात से नूपुरों को शब्दायमान कर नृत्य का आरम्भ करती है।

भरतनाट्यम् विशेषतः दक्षिण भारत की देन है। वहाँ इसको 'केल' और 'निलम्ब' नाम से अभिहित किया जाता है। तामिल भाषा में यह 'कुयू' अथवा 'अट्टम्' से, जिसका अर्थ खेल है, सम्बोधित किया जाता है। नाट्यशास्त्र के पारंगत विद्वान् महर्षि अगस्त्य ने तामिल भाषा में 'भरतचूडामणि' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इसमें उन्होंने देवदासी-नृत्य और ताण्डव-नृत्य का विस्तृत विवेचन किया है। राजदासी, देवदासी और स्वदासी नाम से उन्होंने दासियों के तीन भेद किये हैं और ताण्डव-नृत्य का बारह प्रकार से उल्लेख किया है। इनके पूर्ववर्ती आचार्य भरत ने ताण्डव-नृत्य को नवरस-संयुक्त ही माना है और लास्य-नृत्य आठ प्रकार का ही, क्योंकि श्रीमत्स-रस के अभिनय में पार्वती ने शङ्कर का साथ न दिया था। यह

नृत्य शंकर ने एक टांग ऊपर उठाकर सम्पन्न किया था। नारी होने के नाते पार्वती द्वारा इसका निर्वाह न हो सका।

दक्षिण भारत भारतीय नृत्यकला का प्रांगण माना जाता है। यहाँ के भारतीय नृत्य भारतीय लोक-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज भी नृत्यकला के प्रति वहाँ की चिर-आस्था वहाँ के देवमन्दिरों, भग्नावशेषों पर किये गये उत्कीर्ण प्रकट करते हैं। नृत्यकला के प्रति वह अगाध मोह आज भी ज्यों-का-त्यों प्रतिविम्बित है। यहाँ के अक्षरिपु, आतिस्वरम्, शब्दति, वर्णय, विष्कम्भ और तिलाना नृत्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

केरल का 'कथकली-नृत्य' जगद्विख्यात है। राजा कोटारक्कार ने 'रामनट्टनम्' नाटक की रचना कर पहले-पहल कथकली नृत्य की कल्पना की थी। कथकली गीत, वाद्य और नृत्य का समन्वित स्वरूप है। यह एक शब्दरहित मूक नृत्य-नाट्य है। इसमें मुद्राओं की भाषा अति-गम्भीर, चेष्टामृषा अति कठोर और मुद्राकृति अति भयावह होती है। प्रकारान्तर से यह एक दृश्यकाव्य है, जिसको नृत्य द्वारा वर्णन किया जाता है। इसके तीन रूप हैं—धार्मिक, सांसारिक और मिश्रित। क्रमशः तीनों के नाम हैं—पनपट्टु, तुल्लमोहिनी और संघकाति। इसकी यह अपनी विशेषता है कि यह नृत्य पुरुष-प्रधान होता है और इसकी समाप्ति शोकान्त होती है। प्रायः इसके अभिनय में ५ से ९ घण्टे तक लग जाते हैं। कथकली का जन्मस्थल मालावार प्रान्त है।

बुद्धों की सघन ओट करके असंख्य दीपों की झिलमिलाहट में इस नृत्याभिनय का उत्सव मनाया जाता है। इसका कथानक श्लोक-बद्ध होता है। श्लोक-उच्चारण के साथ-साथ अभिनेता अपने हाव-भावों द्वारा कथानक को प्रसङ्गानुसार प्रकट करता है। कथानक प्रायः रामायण और महाभारत से लिये जाते हैं।

सदृक-नृत्य अति प्राचीन और बहुत विख्यात नृत्य है। इसका उद्गम-स्थल उत्तरी भारत है। जाचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित विधानों के अनुसार ही उत्तर भारत में आज भी इस नृत्य का सफल अभिनय होता है। यह शास्त्रीय नृत्य है और इसके मूल में धार्मिक भावना निहित है। अंगूठे के अग्रभाग के बल पर सारे शरीर का भार सँभाले नर्तक या नर्तकी की शरीर-परिचालन-गति अत्यधिक साधित और इसीलिये सम्मोहक भी प्रतीत होती है। चारीकी इसमें इतनी है कि नर्तक-नर्तकी चाहें तो पैरों के धुंघरू तक न हिलने दें। इसका प्रधान वाद्य ढोल होता है और क्रमशः नृत्य की गति उसी के स्वरों के अनुसार परिचालित होती है।

मैनपुरी नृत्य भी भारतीय लोक-नृत्यों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसका प्रधान विषय गोप-बालाओं और विशेषतः राधा के साथ किये गये, श्रीकृष्ण के ललित-लीला-रासों से सम्बन्धित है। शास्त्र में श्रीकृष्ण शाश्वत जीवन के प्रतीक माने गये हैं और श्री राधा तथा असंख्य गोपिकाओं में अप्रतिहत आनन्द की फरपना की गयी है। मानव-इच्छाओं की प्रतिनिधि गोपिकाएँ शान्त और चिर-गम्भीर श्रीकृष्ण के तिरोभूत स्वरूप में समा जाने को आकुल रहती हैं और उनकी यह व्याकुलता तभी दूर होती है, जब श्रीकृष्ण उन्हें आत्मसात् कर लेते हैं।

लता-मण्डप से सुसज्जित पूर्णमासी के शुभ्र प्रकाश में श्रीकृष्ण के वेणु-वादन के साथ-साथ ब्रज-वनिताओं की छनछनाती पायलों में मैनपुरी नृत्य की आत्मा ध्वनित होती है। 'आज भी 'गीतगोविन्द' के अमर गीतों के साथ ब्रज-भूमि में बड़े समारोह के साथ मैनपुरी नृत्य का महोत्सव मनाया जाता है।

इसी प्रकार वङ्गाल का जात नृत्य, मद्रास का परिमा नृत्य, नागपुर का संधाल नृत्य, मेवाड़ का भील नृत्य, आन्ध्र का विशि-नाटकम् नृत्य, तमिल का तेरुटक नृत्य, करनाटक का यक्षगण नृत्य और केरल का कृष्णनाट्यम् भारतीय लोक-नृत्यों के विविध रूप हैं ।

भारतीय दर्शन में नारी को शक्ति और सौन्दर्य दोनों का प्रतीक माना गया है और आचार्य भरत ने इसी हेतु नृत्यकला की सम्पूर्ण सफलता एवं उसका यथोचित निर्वाह नारी के द्वारा ही स्वीकार किया है । यही कारण है कि बहुत प्राचीन काल से ही नृत्यकला में नारियों का प्रमुख भाग रहा है । भगवती पार्वती तो लास्य-नृत्य की अधिष्ठात्री देवी हैं ही और उनकी शिष्या घाणासुर की कन्या उषा भी नृत्यकला की पारंगत पण्डिता थीं । वैदिक-काल की नारियाँ, जो कि उच्चरित वेदमन्त्रों की प्रपूर्ति के हेतु अपनी पायलों की सुमुधुर ध्वनि द्वारा ऋषिगणों का साथ देती थीं, नृत्यकला में असाधारण अधिकार रखती थीं । राजा पुरुरवा की सुन्दरी रानी उर्वशी सुप्रसिद्ध अभिनेत्री थी । कुमारस्वामी के उल्लेखानुसार राजा रुद्रायण और राजा उदयन की विदुषी पत्नियाँ नृत्यकला में अति प्रवीण थीं । इनके अतिरिक्त देवी पद्मावती और प्रेमातुर मीरा की प्रसिद्धि तो लोकविदित है ही । दक्षिण भारत की देवदासियां अपने समय की सर्वश्रेष्ठ नर्तकियां रही हैं, यद्यपि पीछे चलकर इस कला का हास भी उन्हीं द्वारा हुआ ।

आधुनिक समय की नारियों में श्रीमती लीला सोखी, जो 'मेनका' के नाम से सुप्रसिद्ध हैं और जिन्होंने अपनी कला का श्रेष्ठ-प्रदर्शन विदेशों तक में किया है, एक उच्चतम अभिनेत्री हैं । दक्षिणात्य श्रीमती रुक्मिणी देवी के अतिरिक्त श्रीमती सिमकी, श्रीमती मृणालिनी साराभाई, कुमारी शांताराम, श्रीमती पद्मजा देवी और श्रीमती

अमलाशंकर प्रभृति नारियां भारतीय नृत्यकला की सफल, श्रेष्ठ एवं सुप्रसिद्ध साधिकाएँ हैं ।

फिर भी, कुल मिलाकर नृत्यकला के क्षेत्र में आज उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो रही है, जब कि प्राचीन भारत में इस कला का अपना विशिष्ट स्थान रहा है । प्रायः देखा यह जा रहा है कि संभ्रान्त कुलों की कन्याएँ अथवा नारियां इस क्षेत्र में प्रवेश करना असम्मान समझती हैं । हमारी ये निराधार धारणाएँ हम से अलग होने में प्रायः सज्जुचाती रहती हैं कि कैसे हम अपनी कुलोंगनाओं का इस प्रकार प्रदर्शन देख सकते हैं ? हमारा यह कल्पित संकोच दूर हुए बिना हमारी आज की स्थिति में सुधार होना असम्भव लगता है ।

